जैन आगम साहित्य

संपादक :

के. आर. चन्द्र

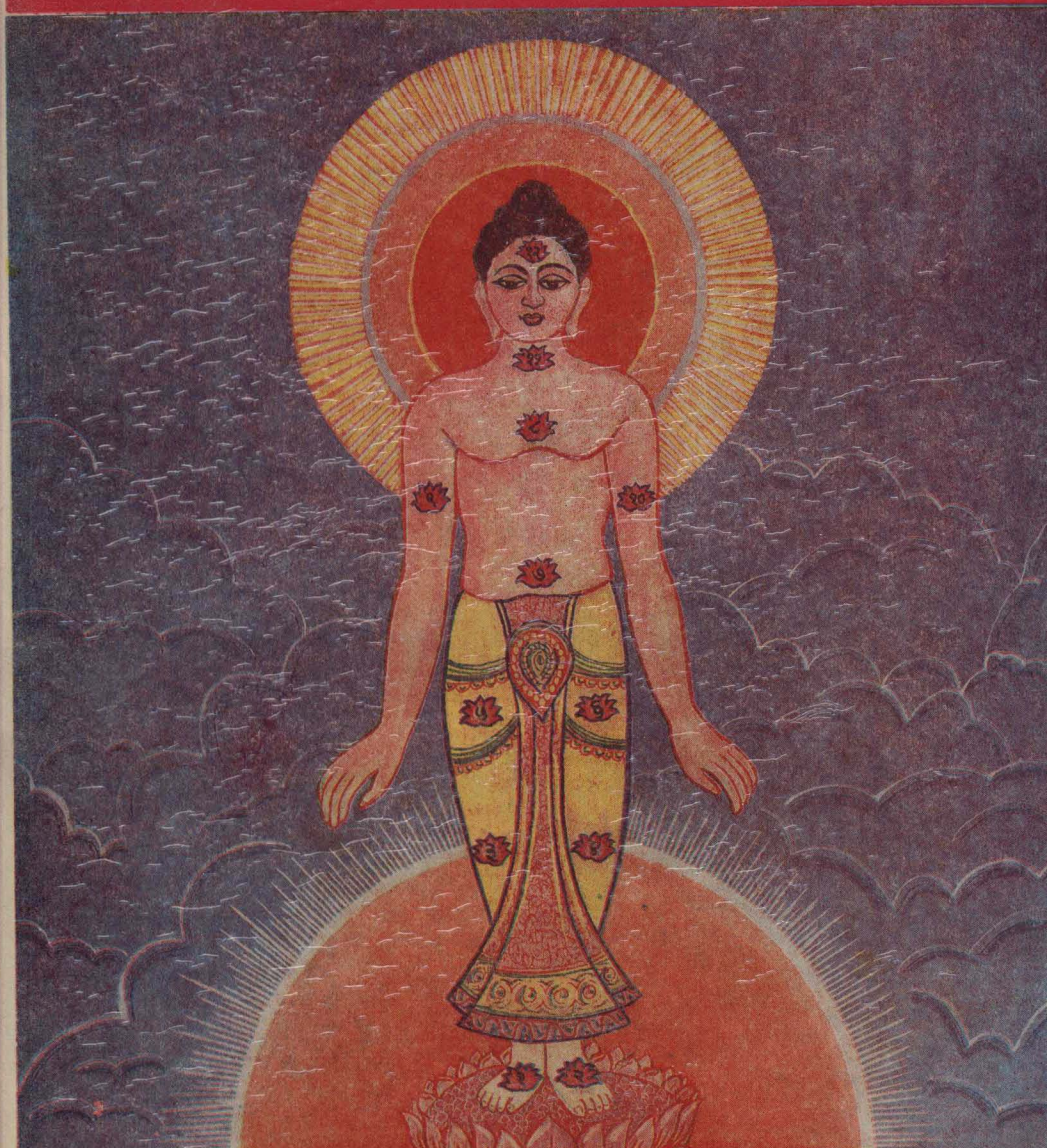

ain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

This publication is a collection of papers that are selected from those which were presented by scholars from all over India on the occasion of a Seminar organised in the year 1986 on the Jain Canonical Literature by the Prakrit and Pali Department of the School of Languages, Gujarat University, Ahmedabad with the financial aid of the U.G.C., New Delhi.

In the present volume there is not merely a one sided study based on the Jaina Agama Sahitya only but one will find that a comparative study is made taking into account the Vedic and the Buddhist literature as well as the modern Science. In this way it is an important contribution to the Indological Studies. The topics that are covered by this book are tentatively as follows :

The Soul, The knowledge, Extra-sensory perception, Meditation and Self-observation, Comparison of rules of conduct, Expiation and Atonement, Religious practices, Fruits of one's own deeds, Emancipation, etc.

Jain Agamic texts and Upaniṣads, Poetics, Dramatics, Narratives, Allegory, Biography, Wise-sayings, etc.

Antiquity and Chronology of Canonical texts, Problem of 'T' śruti, Painting, Town-planning etc., etc.

Thus this book is a good source of information about a variety of subjects therein the Jaina Āgama Sāhitya and it offers a genuine opportunity to scholars to work further on this ancient literature.

K.R. Chandra
Retd. Head of the Department,
& Director of the Seminar

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्या विकास फंड, ग्रंथांक-९ श्रेष्ठी क.ला. स्मारक निधि, ग्रंथाक-७

जैन आगम साहित्य

Seminar on Jaina Agama

संपादक

डॉ. के. आर. चन्द्र
भूतपूर्व अध्यक्ष
प्राकृत-पालि विभाग
भाषा साहित्य भवन
गुजरात युनिवर्सिटी
अहमदाबाद-३८०००९.

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड
अहमदाबाद - 380 015.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक :-

डॉ. के. आर. चन्द्र
मानद मंत्री
प्राकृत जैन विद्या विकास फंड
३७५ सरस्वती नगर
अहमदाबाद-३८०००१५

प्रति ५००

मूल्य रु. १००-००

ई.स. १९९२

मुख्य वितरक :

पार्श्व प्रकाशन
निशापोल नाका, जवेरी वाड
रिलीफ रोड
अहमदाबाद-३८०००१

मुद्रक :- धरणीधर प्रीन्टर्स
शाहीबाग रोड
अहमदाबाद-३८० ००४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभार

इस ग्रन्थ के प्रकाशन-व्यय का वहन

श्रेष्ठी कस्तूरभाई लालभाई स्मारक निधि

बी. ११, न्यू क्लॉथ मार्केट, अहमदाबाद-१

ने किया है एतदर्थ

हम उक्त ट्रस्ट एवं उसके उदारमना ट्रस्टियों

श्री अरविन्दभाई नरोत्तमभाई

श्री आत्मारामभाई भोगीलाल सुतरिया

श्री संवेगभाई अरविन्दभाई

श्री कल्याणभाई पुरुषोत्तमभाई फडिया एवं

श्री रमेशभाई पुरुषोत्तमभाई शाह

के प्रति

हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

—प्रकाशक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

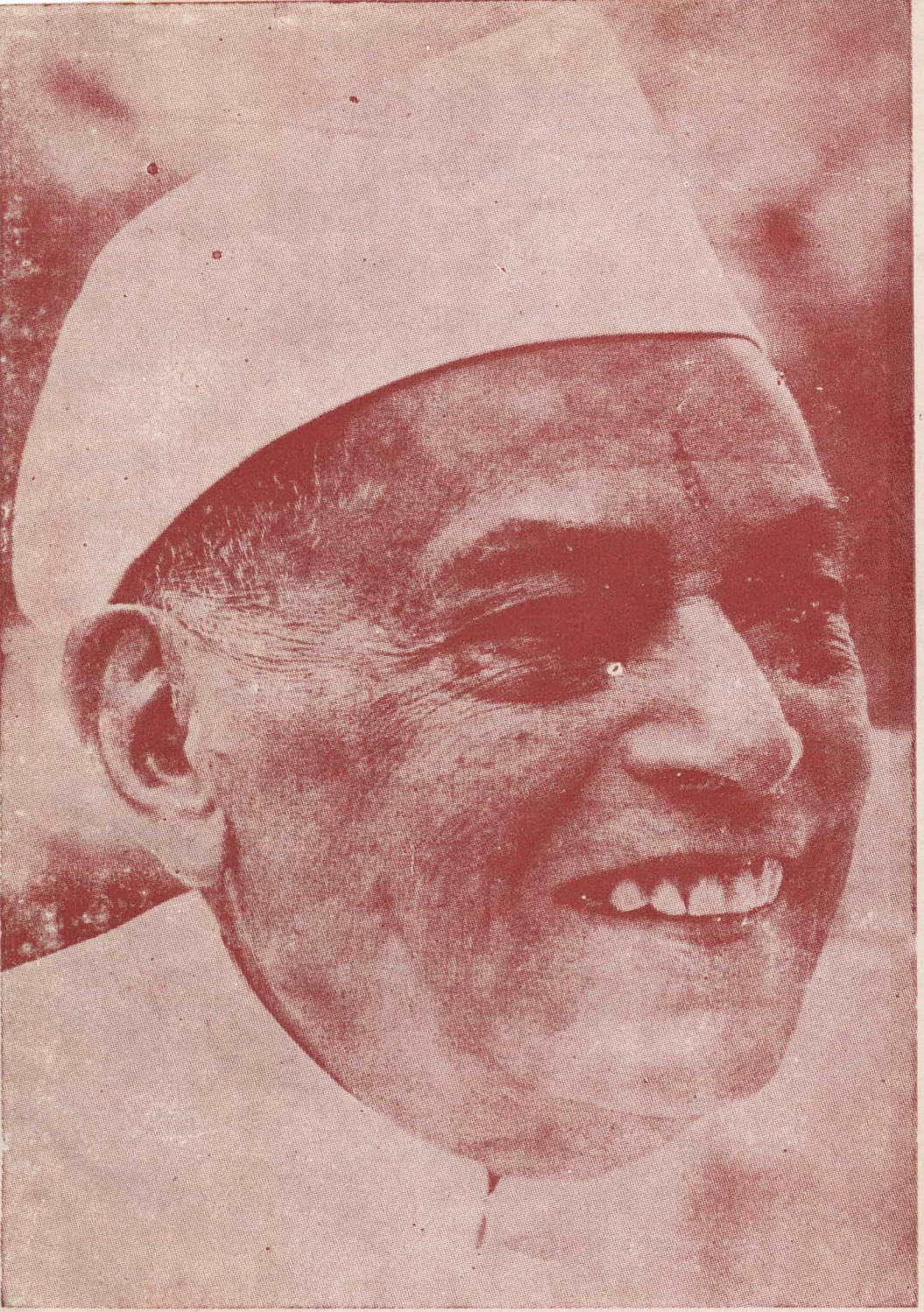

श्रेष्ठीवर्य श्री कस्तूरभाई लालभाई

जन्म : ई. सन् १८९४] अहमदाबाद [स्वर्गवास ई. सन १९७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेठ श्री कस्तूरभाई लालभाई

(१८९४–१९८०)

सेठ श्री कस्तूरभाई के जीवन काल का विस्तार उन्नीसवीं शती के अंतिम दशक से लेकर बीसवीं शती के आठ दशकों तक रहा। गुजरात के श्रेष्ठी-वर्ग की परम्परा के अंतिम स्तम्भ के रूप में उन्होंने न्याय-नीति एवं प्रामाणिकता के साथ अपने व्यावसायिक आदर्शों का निर्वाह किया था। औद्योगिक क्षेत्र में वे आधुनिकीकरण की प्राण–प्रतिष्ठा करनेवाले एवं युगप्रवर्तक माने जाते हैं। कला एवं शिक्षा के क्षेत्रमें भी उनकी दृष्टि प्रगतिशील रही। व्यवसायक्षेत्र में भी निजी लाभ की अपेक्षा राष्ट्र-हित की भावना ही उनमें प्रमुख रही। भारत के गिने–चुने उद्योगपतियों में उन्होंने प्रशंसनीय स्थान प्राप्त किया था। विदेशी कंपनियों के सहयोग से उन्होंने भारत में रासायनिक रंगोंका उत्पादन प्रारम्भ किया और अपनी अनोखी सूझ–बूझ से वे भारतीय अर्थनीति के आधार-स्तंभ बने। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अनेक विकट आर्थिक और व्यावसायिक समस्याओं को सुलझाने में उनकी विवेक बुद्धि को अद्‌भुत सफलता मिली। विश्व के वस्त्र उद्योग के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है। अपने उद्योग-संकुल के किसी भी व्यक्ति के सुख-दुःख के प्रत्येक प्रसंग में उसकी पूरी मदद करते थे। यह उनके व्यक्तित्व की उदारता और मानवीय गुणों की विशेषता थी।

उनका जन्म १९ दिसम्बर १८९४ को अहमदाबाद में सेठ श्री लालभाई दलपतभाई के घर हुआ जो सुशिक्षित, संस्कार-सम्पन्न और समाज सेवा की भावना से ओतप्रोत थे। एक बार लार्ड कर्जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने माउंट आबू के देलवाडा के शिल्पस्थापत्य से प्रभावित होकर उन्हें शासकीय पुरातत्त्व विभाग के द्वारा अधिगृहीत करने का प्रस्ताव रखा, तब सेठ लालभाईने सेठ आनंदजी कल्याणजीकी पेढ़ी के अध्यक्ष की हैसियत से उनका विरोध किया और आठ-दस वर्षों तक अनेक कारीगरों को काम में लगाकर यह सिद्ध कर दिया कि पेढ़ी की तरफ से मन्दिरों के संरक्षण में कितनी सुव्यवस्था है। अनेक विद्यालयों, पुस्तकालयों एवं संस्थाओं के निर्माता के रूप में उनकी उदारता की सुवास सम्पूर्ण गुजरात में फैली हुई है। उन्होंने १९०८ में सम्मेतशिखर पर व्यक्तिगत बंगला बनाने के शासकीय आदेश को निरस्त करवाया था। वे जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स के महामन्त्री भी थे। ब्रिटिश शासनने उनकी सेवाओं की सराहना की थी और उन्हें **सरदार** का खिताब प्रदान किया था।

सेठ लालभाई के सात संताने थीं, तीन पुत्र और चार पुत्रियाँ। श्री कस्तूरभाई उनकी चौथी संतान थी। पिता के अनुशासन और माता के वात्सल्य के बीच इन सातों संतानों का लालन-पालन हुआ।

श्री कस्तूरभाईने प्राथमिक शिक्षा नगरपालिका द्वारा संचालित एक शाला में प्राप्त की और वे १९११ में आर.सी. हाईस्कूल से मेट्रिक्युलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। जिस समय वे चौथी कक्षा में थे उस समय चल रहे स्वदेशी आन्दोलन का उनके चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ा। मेट्रिक के पश्चात् उन्होंने गुजरात कॉलेज में प्रवेश प्राप्त किया किन्तु कॉलेज–जीवन के प्रथम छः महीने में ही सन् १९१२ में पिताजी का देहान्त हो जाने से मिल की व्यवस्था में अपने भाई की सहायता करने के लिए उन्हें अपना अध्ययन छोड़ देना पड़ा। उन्होंने अपने चाचा के मार्गदर्शन में अपने हिस्से में आयी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रायपुर मिल में टाइमकीपर, स्टोरकीपर आदि से कार्य प्रारम्भ किया और बाद में मिल के संचालन विषयक सभी कार्यों में योग्यता अर्जित करके अपनी तेजस्वी बुद्धि एवं कार्य–कुशलता से उसे भारत की प्रसिद्ध एवं अग्रगण्य कपडा–मिलों की श्रेणी में लाकर रख दिया। उसके बाद अशोक-मिल, अरुण-मिल, अरविंद-मिल, नूतन-मिल, अनिल-स्टार्च और अतुल सांकुल आदि अनेक उद्योग–गृहों की सन् १९२१ से १९५० के बीच स्थापना करके लालभाई–ग्रुप को देश के अग्रगण्य उद्योगगृहों में प्रतिष्ठित कर दिया।

व्यावसायिक कार्यों के साथ–साथ कस्तूरभाईने अपने पूज्य पिताजी की तरह लोक–कल्याण के कार्यों में भी बड़े उत्साह से भाग लिया। सन् १९२१ में अहमदाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष के निर्देश से उन्होंने और उनके अन्य भाइयोंने नगरपालिका की प्राथमिक शाला को ५० हजार का दान दिया था। सन् १९२१ के दिसम्बर माह में जब भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ तब पंडित मोतीलाल नेहरु के साथ उनका मैत्री–सम्बन्ध हुआ। १९२२ में सरदार वल्लभभाई पटेल की सलाह से वे भारतीय संसद में मिल मालिकों के प्रतिनिधि के रूप में चुने गये। १९२३ में जब स्वराज पक्ष की स्थापना हुई तब अहमदाबाद तथा बम्बई के मिल–मालिकोंकी ओर से उसे पाँच लाख का दान दिलवाया था। संसद में वस्त्र पर चुंगी समाप्त करने का प्रस्ताव कस्तूरभाईने रखा था और शासन की अनेक विघ्न-बाधाओं के बावजूद भी उसे स्वीकार करवा लिया। स्वराज पक्ष के सदस्य नहीं होने पर भी कस्तूरभाई को पं० मोतीलालजीने स्वराज-श्रेष्ठ की उपाधि प्रदान की थी। लम्बे समय से चल रहे मिल-मजदूरों के बोनस एवं वेतन सम्बन्धी वाद–विवाद को निपटाने के लिए सन् १९३६ में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाँधीजी और कस्तूरभाई का एक आयोग बनाया गया। प्रारम्भ में दोनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो गया परन्तु अन्त में दोनों किसी एक विकल्प पर सहमत हो गये। इन सब कार्यों में कस्तूरभाई की निर्भीकता, साहस और योग्यता के दर्शन होते हैं।

सन् १९२९ में उन्होंने जिनेवा की मजदूर परिषद् में मजदूरों के प्रतिनिधि के रूप में और सन् १९३४ में उद्योगपतियों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भी इसी प्रकार के अनेक प्रतिनिधि मण्डलों में उन्होंने भाग लिया था। इन सब प्रसंगों पर देश के हित को ही सर्वोपरि मानकर वे विदेशियों के साथ की चर्चाओं में विलक्षण बुद्धि और कुशलता का परिचय देते थे।

शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। अहमदाबाद की एजुकेशन सोसायटी के आयोजक वे ही थे जिसकी स्थापना सन् १९३४ में हुई थी। नगर के भावी शैक्षणिक विकास को लक्ष्य में रखकर उन्होंने ७० लाख रूपये व्यय करके छ सौ एकड जमीन संपादित करवाई थी जिसके परिणामस्वरूप गुजरात विश्वविद्यालय का भव्य और विशाल संकुल अस्तित्व में आया। उनके परिवार की ओर से एल. डी. आर्ट्स् कॉलेज, एल. डी. इन्जिनीयरिंग कॉलेज तथा एल. डी. प्राच्य विद्या मन्दिर को लाखों रूपये दान में दिये गये। विगत तीस-पैंतीस वर्षों में लालभाई दलपतभाई परिवार ट्रस्ट की ओर से दो करोड पचहत्तर लाख का और अपने ही उद्योग गृहों की ओर से चार करोड का दान दिया गया। कस्तूरभाई को शिक्षा के प्रति कितनी रुचि थी इसका अनुमान उनके इन सब कार्यों से लगाया जा सकता है। यदि ऐसा न होता तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अटीरा, पी. आर. एल., ला.द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, इन्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ मेनेजमेन्ट, स्कूल ऑफ आर्किटेक्चर, नेशनल इन्स्टिट्यूट ऑफ डिजाइन और विक्रम साराभाई कम्युनिटी सेन्टर जैसी ख्याति-प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ अहमदाबाद में कैसे निर्मित हो सकतीं ? यह उद्योगपति कस्तूरभाई और युवा वैज्ञानिक डॉ. विक्रम साराभाई के संयुक्त स्वप्न की ही सिद्धि है ।

भारतीय संस्कृति के प्रति उनके प्रेम का परिचायक है विश्व-विद्यालय–संकुल में स्थित जहाज के रमणीय आकार में निर्मित ला.द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर जो सन् १९५५ में बनकर तैयार हुआ था और उसका उद्घाटन भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरु ने सन् १९६३ में किया था । मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इस संस्था को १०,००० हस्तप्रतों एवं ७०८० पुस्तकों की अत्यन्त मूल्यवान भेंट अर्पित की थी । आज इस संस्था के पास ३३,००० के प्रायः प्रकाशित ग्रन्थों एवं देश–विदेश की संशोधन पत्रिकाओं का एवं ७०,००० के प्रायः ताडपत्र और कागजकी पाण्डुलिपियों का संग्रह है । उसमें से दस हजार पाण्डुलिपियों की सूची केन्द्रीय सरकार की सहायता से एवं ७००० पाण्डुलिपियोंकी सूची गुजरात सरकारकी सहायता से प्रकाशित हो चुकी हैं । अद्यावधि इस संस्था की ओर से १२५ के लगभग ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । ४८०० पाण्डुलिपियों की ट्रान्सपेरेन्सी एवं दो हजार मूल्यवान हस्तप्रतों की माइक्रोफिल्म भी कर ली गयी हैं । साथ ही साथ १००० से अधिक पुराने संशोधन पत्रिकाओं के अंक भी संग्रहीत हैं । इस संस्था द्वारा 'संबोधि' नाम की संशोधन पत्रिका प्रकाशित की जाती है । अभी तक इसके १८ अंक प्रकाशित हो चुके हैं । इस संस्था में चित्रमय ताडपत्रकी हस्तप्रतों के रंगीन फोटों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संख्या लगभग ४००० है। यहाँ पर लगभग १०,००० हस्तप्रतों की जेरोक्स कॉपियाँ उपलब्ध हैं जिन की पत्र-संख्या ४६००० प्रायः हो गयी है। इस संस्था का मुख्य आकर्षण सांस्कृतिक संग्रहालय रहा है। कस्तूरभाई एवं उनके परिवार के लोगों की ओर से भेंट में दी गयी बहुत सी पुरातात्त्विक वस्तुओं को इस संग्रहलाय में संग्रहीत किया गया है। सुन्दर चित्र, कलाकृतियाँ, प्राचीन वस्त्र-आभूषण, सजावट की वस्तुएँ, हस्तप्रत (जिनमें बारहवीं शती की चित्रयुक्त हस्तप्रत भी है) आदि प्रायः चार सौ से अधिक वस्तुएँ इस संग्रहालय में प्रदर्शित हैं जो प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृति की मोहक झलक प्रस्तुत करती हैं। इस सांस्कृतिक संग्रहालय का सन् १९८३ में एक नये भवन में स्थानान्तरण कर दिया गया था जो अब ला. द. म्युजियम के नाम से सुविख्यात है।

पुराने प्रेमाभाई हॉल का स्थापत्य कस्तूरभाई को कला की दृष्टि से खटक रहा था। उन्होंने लगभग छप्पन लाख रूपये खर्च करके उसका नव संस्करण करवाया जिसमें बत्तीस लाख का दान कस्तूरभाई परिवार एवं लालभाई ग्रुप के उद्योग समूह ने दिया।

विख्यात इन्जीनियर लूई साहबने कस्तूरभाई को कुदरती सूझ वाले इन्जीनियर कहा था। उन्होंने अपनी स्वयं की निगरानी में राणकपुर, देलवाडा, शत्रुंजय और तारंगातीर्थ के मन्दिरों के शिल्प-स्थापत्य का जो जीर्णोद्धार करवाया है उसे देखते हुए लूई का कथन सही मालूम पडता है। सेठ आनन्दजी कल्याणजी की पेढी के अध्यक्ष के रूप मे उन्होंने अनेक जीर्ण तीर्थस्थलों का कलात्मक दृष्टि से जीर्णोद्धार करवाया। उन्होंने उपेक्षित राणकपुर तीर्थ का पुनरुद्धार करके उसे रमणीय बना दिया। उन्होंने बहुत ही परिश्रम उठाकर पुरानी शिल्प कला को पुनर्जीवित किया। देलवाडा के मन्दिर के निर्माण में जिस जाति के संगमरमर का उपयोग हुआ है उसी जाति का संगमरमर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दाँता के पर्वत से प्राप्त करने में बहुत ही अवरोध आये थे। कारीगरोंने जीर्णोद्धार का व्यय पचास रूपये घनफुट बताया था किन्तु उसका खर्च बढते-बढते पचास की जगह दो सौ रुपये प्रतिघनफुट आया फिर भी प्रतिकृति इतनी सुन्दर बनी कि कस्तूरभाई की कलाप्रेमी आत्मा प्रसन्न हो गयी और अधिक व्यय की उन्होंने तनिक भी चिन्ता नहीं की। शत्रुंजयतीर्थ में उन्होंने पुराने प्रवेशद्वार के स्थान पर नया द्वार बनवाया और मुख्य मन्दिर की भव्यता में अवरोध करने वाले छोटे-छोटे मन्दिर और उनकी मूर्तियों को बीच में से हटवा दिया।

जिस प्रकार धर्मदृष्टि उद्घाटित होते ही जीवन दर्शन के क्षितिजों का विस्तार होता है उसी प्रकार जीर्णोद्धार के बाद इन धर्म स्थानों के क्षितिज भी विस्तृत हो गए।

एक अमेरिकन यात्री ने एक बार कस्तूरभाई से पूछा—
यदि कल ही आपकी मृत्यु हो जाय तो....!
कस्तूरभाईने सस्मित कहा : मुझे आनन्द होगा।
किन्तु बाद में क्या ?
बाद में क्या होगा उसकी मुझे चिन्ता नहीं है।
आपका क्या होगा उसका विचार नहीं आता है क्या !
मैं पुनर्जन्म में आस्था रखता हूँ।
उसका तात्पर्य ?

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार ईश्वर जैसा कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। प्रत्येक प्राणी और मैं स्वयं भी ईश्वर की स्थिति को पहुँच सकते हैं अर्थात् मुझे मेरे चरित्र को उतना ऊँचा ले जाना चाहिये और यह विश्वास उत्पन्न करना चाहिए कि मैं क्रमशः उस पद के लिए योग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन रहा हूँ। इस विचारधारा में मुझे आस्था और गौरव है। उस स्थिति तक कैसे पहुँचा जा सकता है? उसके उपाय भी हमारे दर्शन में बताये है :-सत्य बोलना चाहिए, धन के प्रति ममत्व नहीं रखना चाहिए, हिंसा नहीं करनी चाहिए, आदि। इतने उच्च आदर्श शायद ही दूसरी जगह पर देखने को मिले।

जैन धर्म क्या है?

सत्य तो यह है कि जैन धर्म एक धर्म नहीं अपितु जीवन जीने की कला है जिसका आचरण करने से मानव इसी जन्म में उच्च आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

क्या जैन धर्म में धन-संचय न करने को कहा गया है?

नहीं, उसमें कहा गया है कि निश्चित मर्यादा से अधिक धन-सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए।

क्या आपने उसका व्रत लिया है?

नहीं, किन्तु स्वयं प्राप्त धन का कुछ हिस्सा सार्वजनिक कल्याण के लिए खर्च करने का मेरा नियम है।

दिनांक ८ जनवरी १९८० को कस्तूरभाई बम्बई में बीमार पडे, डॉक्टर ने उनके स्वास्थ्य को देखकर पन्द्रह दिन बिस्तर में ही आराम करने की सलाह दी। किन्तु कस्तूरभाई ने कहा मुझे अहमदाबाद ले चलो मैं वहीं आराम करूँगा। डॉक्टर ने प्रवास नहीं करने की सलाह दी किन्तु कस्तूरभाई के मन में अहमदाबाद के प्रति ऐसी आत्मीयता थी कि उन्होंने अपने अंतिम दिन अहमदाबाद में ही बिताने की तीव्र इच्छा व्यक्त की। उनको बेचैन देखकर डॉक्टर ने अंत में अहमदाबाद जाने की सम्मति दी। वेदना होने पर भी कस्तूरभाई के मुख पर आनन्द छा गया। एम्ब्यूलेन्स वान द्वारा स्टेशन लाए गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे दिन सुबह जब अहमदाबाद पहुँचे तब मन प्रसन्न हो गया, मानो सारी पीड़ा समाप्त हो गयी हो, परन्तु १९ जनवरी को दिव्यधाम के आमंत्रण को शान्ति पूर्वक स्वीकार कर उन्होंने उसके लिए प्रस्थान कर दिया।

कस्तूरभाई मानते थे कि व्यक्ति की मृत्यु से देश का उत्पादन रुकना नहीं चाहिए। उनके अनुसार व्यक्ति को सही श्रद्धांजलि तो उसकी भावनानुसार काम करके ही दी जानी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट निर्देश दिया था कि मेरे अवसान के शोक में एक भी मिल बन्द नहीं रहनी चाहिए। उनके पुत्रों ने उनकी यह इच्छा लालभाई ग्रुप की नौ मिलों के सभी कर्मचारी–गणों को सूचित कर दी। 'कार्य करो' इसे सेठ का अंतिम आदेश मानकर सभी कर्मचारी काम पर लग गये। सारा अहमदाबाद शहर जिनके शोक में बन्द रहा वहीं उन्हीं की मिले उस दिन कार्यरत रहीं यह एक अपूर्व घटना थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे प्रकाशन

१. भारतीय भाषाओं के विकास और साहित्य की समृद्धि में श्रमणों का महत्त्वपूर्ण योगदान
के. आर. चन्द्र, १९७९.

२. प्राकृत हिन्दी कोश (पाइय-सद्द-महण्णवो की किञ्चित परिवर्तित आवृत्ति)
के. आर. चन्द्र, १९८७. रु. १२०-००

३. English Translation of Kouhala's Lilāvaī-kahā
Prof. S.T. Nimkar, 1988. Rs. 30-00

४. नम्मयासुंदरी-कहा (श्री महेन्द्रसूरिकृत), हिन्दी अनुवाद सहित,
के. आर. चन्द्र, १९८९. ४०-००

५. आरामशोभा रासमाला (गुजराती)
प्रो. जयन्त कोठारी, १९८९ रु. ९०-००

६. जैनागम स्वाध्याय (गुजराती)
पद्मभूषण पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया, १९९१ रु. १००-००

७. जैन धर्म चिंतन (गुजराती)
पद्मभूषण पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया, १९९१ रु. ४०-००

८. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में
के. आर. चन्द्र, १९९१-९२ रु. ३२-००

मुद्रणालय में-

९. परंपरागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्द्धमागधी
के. आर चन्द्र

१०. मध्यकालीन गुजराती शब्द कोश
प्रो. जयन्त कोठारी

११. आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कंध), प्रथम अध्याय का भाषिक दृष्टि से पुनःसम्पादन
के. आर. चन्द्र (सम्पादन कार्य चालू).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Publisher's Note

It is a pleasure to publish selected papers that were read at the seminar on the Jaina Āgama Literature. The Seminar was held on 16th to 18th, October, 1986 with the financial aid granted by the UGC. It was organised by the Prakrit Department of the School of Languages, Gujarat University. We are grateful to the UGC. for the aid and also to the Gujarat University for providing the necessary facilities. We are thankful to all those who presented papers and participated in the seminar.

Thanks to Padmabhushan Pt. D. D. Malvania and Dr. H. C. Bhayani for the encouragement and support given by them.

We are grateful to Shreshthi Kasturbhai Lalbhai Smarak Nidhi, its trustees and Shri Atmarambhai Bhogilal Sutariya for financing this publication.

On this occasion we remember Shri B. M. Balar, the President of our Society who has been always helpful and encouraging our academic pursuits.

We are thankful to Shri Dharnendrabhai Kapadia of the Dharnidhar Printing Works and its workers for printing this book.

Guru Pūrṇimā
14th July, 1992.

K. R. Chandra

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

क्रमांक			पृष्ठ
१.	आचारांगमें साधना के सूत्र	आचार्य तुलसी	1–6
२.	On the Antiquity and Original parts of the "Puṇḍarīka Adhyayana," Sūtrakṛtāṅga (II)	M. A. Dhaky	7–17
३.	स्थानांगमें ज्ञानचर्चा	जितेन्द्र बी. शाह	18–27
४.	स्थानांग, नंदी और षट्खण्डागममें अतीन्द्रियज्ञान के केन्द्र तथा चक्र और ग्रंथितंत्र	यू. युवाचार्य महाप्रज्ञ	28–35
५.	The Concept of Ātman in the Bhagavatī (Vlyāhapaṇṇatti)–sūtra	Dr. N. M. Kansara	36–45
६.	Allegory in English Literature and the Nāyādhammakahāo	V. M. Doshi	46–54
७	The Dreadful Deterrents to the Jain Upāsakas in the Uvāsagadasāo	Dr. D. G. Vedia	55–63
८.	A Comparative and Critical Note on Uvāsagadasāo and Ratna-karaṇḍaka Śrāvakācāra	Dr. M. D. Vasantharaj	64–67
९.	प्रश्नव्याकरणसूत्रकी प्राचीन विषय-वस्तुकी खोज	डॉ. सागरमल जैन	68–96
१०.	Vipākasūtra : Some Chronological Considerations	Prof. R. N. Mehta	97–104
११.	રાજપ્રશ્નીય સૂત્રમાં નાટ્યતત્ત્વ	ડૉ. જાગૃતિ પંડ્યા	105–128
१२.	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति और भागवतमें ऋषभचरित	डो. हरनारायण उ. पंड्या	129–136

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३.	भगवती आराधना एवं प्रकीर्णको में आराधनाका स्वरूप	जिनेन्द्रकुमार जैन	137-148
१४.	Uttarādhyayana-sūtra on Brahmanism	V. M Kulkarni	149-154
१५.	उत्तराध्ययनसूत्र तथा धम्मपदकी उक्तियोंमें प्राप्त साम्य	प्रज्ञा ठाकर	155-163
१६.	उत्तराध्ययन तथा मनुस्मृति में वर्णित साधु-आचार	डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र	164-169
१७.	उत्तराध्ययनसूत्र में काव्यतत्त्व	डॉ बिहारीलाल जैन	170-179
१८.	जैनागम एवं उपनिषद : कुछ समानताएँ	डॉ. वशिष्ट नारायण सिन्हा	180-188
१९.	अनुयोगद्वारसूत्र : मूलसूत्र के चूलिका सूत्र	प्रि. के એમ પટેલ	189-193
२०.	वैदिक धर्मसूत्रगत यतिधर्म एवं जैनागमगत अनगारधर्म के आचारकी तुलना	कु. रीता बिश्नोई	194-203
२१.	प्रायश्चित्त : स्वरूप और विधि	डॉ पुष्पलता जैन	204-213
२२.	Mokṣopāya in Jain Canonical Literature and Principal Upaniṣads	Yashodhara Wadhawani Shah	214-218
२३	आगम साहित्यमें कृष्णकथा	डॉ. कमलेशकुमार जैन	219-225
२४.	तिलोयपण्णत्ति में प्राप्त ऋषभदेवकी कुछ तिथियाँ	डॉ प्रेमसुमन जैन	226-238
२५.	જૈન આગમ, મહાભારત અને બૌદ્ધ જાતકમાં મળતા દ્રૌપદીના પાત્રનું તુલનાત્મક અધ્યયન	શાહ નીલાંજના એસ.	239-253
२६.	जैन आगम साहित्यमें कथाओंके प्रकार	डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	254-264

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७.	A Quantitative Evidence to show that the Ancient Jain Acharyas might have perceived Elementary Particles of Matter through Extra Sensory Perception	S. S. Pokharna B. S. Pokharna J. S. Pokharna	265–277
२८.	The Problem of the So-called T-Śruti in the MSS of Certain Early Jain Prakrit Texts	H.C. Bhayani	278–281
२९.	Citrakalā in Jain Canonical Literature	Lalitkumar	282–292
३०.	Town Planning in the Jain Aṅga	R.N. Mehta	293–304

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग में साधना के सूत्र

—आचार्य तुलसी, लाडनूं

जैन आगम चार भागों में विभक्त हैं। उनमें एक भाग है—आचार शास्त्र। आचारांग आचारशास्त्रीय परम्परा का प्रतिनिधि सूत्र है। इन शताब्दियों में आचार के विषय में हमारा दृष्टिकोण बहुत सकुचित हो गया है। पांच महाव्रत और पांच समिति की आराधना को ही आचार के क्षेत्र में मान्यता प्राप्त है। तीन गुप्ति की आराधना उस क्षेत्र से बहिष्कृत जैसी हो गई।

आचारांग सूत्र में गुप्तित्रय की आराधना के अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश हैं। साधना के अभाव में उनके अर्थ भी विस्मृत हो गए। अन्तर्दृष्टि का निर्देश अन्तर्दृष्टि की साधना के बिना नहीं पकड़ा जा सकता। अन्तर्दृष्टि को जागृत करने के लिए गुप्ति की साधना बहुत आवश्यक है। प्रस्तुत आगम में मन, वचन और काया का निरोध करने वाले को मुनि कहा गया है—"जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे"[1]।

भगवान् महावीर ने कर्मयोग और कर्मत्याग दोनों का समन्वित मार्ग निरूपित किया था। उनकी साधनापद्धति का प्रमुख अंग है—संवर — कर्म का निरोध। किन्तु वह प्रथम चरण में ही संभव नहीं है। पहले कर्म का शोधन होता है, फिर कर्म का निरोध। पूर्ण कर्म-निरोध की स्थिति मुक्त होने के कुछ ही क्षणों के पूर्व प्राप्त होती है। क्रिया में जैसे जैसे आसक्ति और कषाय के अंश को कम किया जाता है वैसे वैसे कर्म का शोधन होता चला जाता है।

---

१. आयारो १/१२

1 : Seminar on Jain Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक एकाग्रता के लिए विचय ध्यान एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। प्रस्तुत आगम में विचय ध्यान के अनेक सूत्र हैं। जैन दर्शन में आत्मा और पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकृत है। पूर्व जन्म की स्मृति के लिए इस विचय ध्यान का प्रयोग किया जाता था—

- मैं किस दिशा से आया हूँ ?
- क्या पूर्व से आया हूँ या पश्चिम से ?
- उत्तर से आया हूँ या दक्षिण से ?
- ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ या अधोदिशा से ?
- मैं कौन हूँ ?
- मैं कौन था ?
- मैं क्या होऊंगा ?

इन प्रश्नों में से किसी एक प्रश्न को लेकर साधक ध्यान में बैठ जाता और मन को उसी समस्या में केन्द्रित कर देता। इस साधना से उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो जाती।

लोक-दर्शन भी विचय ध्यान का एक प्रयोग है। प्रस्तुत आगम में काम-वासना के विजय का केवल उपदेश ही नहीं है, उसके साधनात्मक उपाय भी निर्दिष्ट हैं। काम-वासना के विजय का एक प्रयोग है—शरीर-दर्शन। शरीर के तीन भाग हैं—

(१) अधोभाग — नाभि से नीचे।
(२) ऊर्ध्वभाग — नाभि से ऊपर।
(३) तिर्यग्भाग — नाभिस्थान।

प्रकारान्तर से उनके तीन भाग ये हैं —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) अधोभाग—आंख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुख के बीच का भाग।
(२) ऊर्ध्वभाग—घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग।
(३) तिर्यग्भाग—समतल भाग।

शरीर को समग्र दृष्टि से देखने के लिए शरीर-विपश्यना का निर्देश है—"आयतचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ"[1]

शरीर-विपश्यना का अर्थ है—शरीर में होने वाले सुख-दुःख आदि पर्यायों या परिणमनों का अनुभव करना। भगवान् महावीर ने अप्रमत्त रहने के उपाय बतलाए। उनमें शरीर के पर्याय और संवेदनों को देखना मुख्य उपाय है। जो साधक वर्तमान क्षण में शरीर में घटित होनेवाली सुख-दुःख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

यह शरीर-दर्शन की प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहरकी ओर प्रवाहित होनेवाली चैतन्य की धाराको अन्तर की ओर प्रवाहित करनेका प्रथम साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तेजस् और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करनेवाला क्रमशः तेजस् और कर्म शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होनेवाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

---

१. आयारो २। १२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूर्णिकारने इस क्षणान्वेषणको चार क्षणों में विभक्त किया है।[1] टीकाकारने प्रस्तुत सूत्र की जो व्याख्या की है, वह शरीर-विपश्यनाका एक महत्त्वपूर्ण निर्देश है।[2]

भगवान् महावीर ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में ध्यान लगाकर समाधिस्थ हो जाते थे।

इससे ध्यान की तीन पद्धतियाँ फलित होती हैं—

(१) आकाश-दर्शन,

(२) तिर्यग्-भित्ति-दर्शन और

(३) भूगर्भ-दर्शन।

आकाश-दर्शन के समय भगवान् ऊर्ध्वलोकमें विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। तिर्यग्-भित्ति-दर्शन के समय वे मध्यलोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। भूगर्भ-दर्शन के समय वे अधोलोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे।[3]

---

१. आचारांगचूर्णि, पृ. १६५-६६ "इमस्स ओगाहियस्स विग्गहो-सरीरं, ता तेयाकम्माणि तदंतग्गताणि, ण वेउव्विय आहारगस्स कदाहति, वुग्गहस्स वा अयं खणेति, तत्थ खेत्तकालरिजुकम्मखवणा चत्तारि खणा इति णिव्वेसकालो अव्विसणकालो अण्णेसी, जं भणितं गवेसति।"

२. आचारांगवृत्ति, पत्र १८५-"जे इमस्स" इत्यादि 'य' इत्युपलब्धतत्त्वः 'अस्य अध्यक्षस्य विशेषेण गृह्यते अनेनाष्टप्रकारं कर्म्म तद्वेतरशरीरविशिष्टं बाह्येन्द्रियेण गृह्यत इति विग्रहः-औदारिकं शरीरं तस्य 'अयं' वार्तमानिकक्षण एवम्भूतः सुखदुःखान्यतररूपश्च गत एवम्भूतश्च भावीत्येवं यः क्षणान्वेषणशीलः सोऽन्वेषी सदा अप्रमत्तः स्यादिति।"

३. आयारो ९।४।१४-अवि झाति से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे॥

"आसणे अकुकुते झाणं झाति धम्मं सुक्कं वा, आसणं उक्कुडुओ वा वीरासणेण वा। अकुकुओ णाम निच्चलो, दव्वतो सरीरेण निच्चलो भावओ अकुकुओ पसत्थज्झाणोवगतो झियाति, किं झियाति? उड्ढं अहे य तिरियं च सव्वलोए झायति समितं उड्ढलोए जे भावा एवं अहे वि तिरिए वि, जेहिं वा कम्मादाणेहिं उड्ढं गंमति एव अहे तिरियं च, अहे संसारं संसारहेउं च कम्मविपागं च झाति, एवं मोक्खं मोक्खहेउं च झाति, मोक्खसुहं च ज्झायति, पेच्छमाणो आयसमाहिं परसमाहिं च अहवा नाणादिसमाहिं।"
—आचारांगचूर्णि, पृष्ठ ३२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर-प्रेक्षा की दूसरी पद्धति है—संधि-दर्शन। शरीर की संधियों (जोडों) का स्वरूपदर्शन कर उसके यथार्थ रूप को समझना। शरीर अस्थियों का ढांचा मात्र है, उसे देखकर उससे विरक्त होना। शरीर में एक सौ अस्सी संधियाँ मानी जाती हैं। चौदह महासंधियाँ हैं-तीन दाएँ हाथ की संधियाँ-कन्धा, कुहनी पहुंचा। तीन बाएं हाथकी संधियाँ। तीन दाएं पैर की संधियाँ—कमर, घुटना, गुल्फ। तीन बाए पैर की संधियाँ, -एक गर्दन की संधि, एक कमर की संधि। इन संधियों के दर्शन से शरीर की वास्तविकता ज्ञात होती है। उसकी मूर्च्छा का परिहार होता है — संधिं विदित्ता इह मच्चिएहिं।[1]

शरीर प्रेक्षाकी तीसरी पद्धति है—शरीर की अशुचिता को देखना। एक मिट्टीका घड़ा अशुचि से भरा है, वह अशुचि उभर कर बाहर आ रही है। वह भीतर से अपवित्र है और बाहर से भी अपवित्र हो रहा है।

यह शरीर—घट भीतर से अशौच है। इसके निरंतर झरते हुए स्रोतों से बाहरी भाग भी अशौच हो जाता है।

यहाँ रुधिर है, यहाँ मांस है, यहाँ मेद है, यहाँ अस्थि है, यहाँ मज्जा है, यहाँ शुक्र है। साधक गहराई में पैठकर इन्हें देखता है।

देहान्तर के अन्तरका अर्थ है— विवर। साधक अन्तरोंको देखता है। वह पेट के अन्तर (नाभि), कान के अन्तर (छेद), दाएं हाथ और पार्श्व के अन्तर तथा बाएं हाथ और पार्श्व के अन्तर, रोम कूपों तथा अन्य अन्तरोंको देखता है। इस अन्तर-दर्शन और विवरदर्शन से उस शरीर का वास्तविक रूप ज्ञात हो जाता है। उसकी कामना शान्त हो जाती है।

---

१. आयारो २। १२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमदर्शन[1], आतंक दर्शन[2], सम्यक्त्व दर्शन[3], नैष्कर्म्य दर्शन[4] और अनन्यदर्शन[5] – ये सब साधना के महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं।

ये सब प्रेक्षा के प्रयोग हैं। इनकी अभ्यासपद्धति छूट गई, इसलिए ये मात्र वर्णनात्मक या तथ्यात्मक रह गए। 'विसुद्धिमग्ग' और 'विज्ञान भैरव' के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो इनका मर्म पकड़ में आ सकता है। ध्यान-पद्धति की विस्मृति के कारण अर्थ की विस्मृति भी हो गई। उसका उदाहरण है–'तिविज्ज' शब्द। चूर्णिकार ने 'तम्हा तिविज्जो' इस पाठकी व्याख्या 'विद्वन्' और 'अतिविद्वन्' इन दो रूपों में की है[6]। टीकाकार ने इसकी व्याख्या अतिविद्य और अतिविद्वान् इन दो रूपों में की है।[7]

बौद्ध परम्परा के अनुसार 'तिविज्ज' पद के द्वारा तीन विद्याओंका ग्रहण किया गया है—

(१) पूर्व जन्मोंको जानने का ज्ञान।
(२) मृत्यु तथा जन्म को जानने का ज्ञान।
(३) चित्तमलों के रूप को जानने का ज्ञान।

इस प्रकार अनेक प्रकरण हैं, जहाँ अर्थ और तात्पर्य की विस्मृति हुई है। उनका अनुसन्धान करना बहुत आवश्यक है। इससे साधना के नए आयाम खुलेंगे और आगम साहित्य अधिक उपयोगी तथा जीवनविकास में अधिक सहयोगी बन सकेगा।

---

१. आयारो ३। ३८
२. आयारो ३। ३३
३. आयारो ३। २८
४. आयारो ३। ३५
५. आयारो २। १७३
६. आचारांग चूर्णि, पृ. १११ "विज्ज त्ति हे विद्वन्। अहवा अतिविज्ज!" आ० चू०, पृ० ११३ – "तम्हा वेरउवरमा विद्वन्"
७. आचारांगवृत्ति, पत्र १४४ "तस्माद् जातिवृद्धिसुखदुःखदर्शनादतीव विद्या-तत्त्वपरिच्छेत्री यस्यासावतिविद्यः सः 'परम' मोक्षं ज्ञानादिकं वा तन्मार्गं ज्ञात्वा सम्यक्त्वदर्शी सन् पापं न करोति"।
आचारांगवृत्ति, पत्र १४५–'तस्माद् अतिविद्वान्'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ON THE ANTIQUITY AND ORIGINAL PARTS OF THE "PUNDARĪKA ADHYAYANA", SŪTRAKRTĀNGA (II)

M. A. DHAKY

The seven appendices forming Book II of the second *aṅga*-work *Sūtrakṛta*, by and large happen to be not only fairly ancient; they are also interesting from various research stand-points. Of these the first *adhyayana* entitled "Puṇḍarika" is in part more ancient than the remaining six.[1] It apparently has not been analysed or studied in depth notwithstanding its admissibly good translations in English and in Gujarāti (and now also in Hindi) are for some years available.

The "Puṇḍarika-adhyayana"[2] in its present shape is the result of three major efforts and hence three distinct strata correspondingly of three separate periods. Its oldest and hence the original part is represented by the opening *sūtras* 638-643, comparable in antiquity to some of the relatively older parts of Book I of the *Āyārāṅga*

The Puṇḍarika chapter pertains to an allegory of a lotus pond (*puṣkaraṇī*) full of white lotuses (*puṇḍarīkas*) of which the taller, larger and the most magnificent grown at the central area of the pond is the main focus, the motival maxim, around which the repetitious phrases of the text in very archaic style are made to revolve. As the allegorical essence purports, four presumptuous persons coming in turn from four cardinal directions, and each wanting to get the great central lotus, attempted to reach it by entering into the pond and each in his own turn got stuck in the mud, even as each one had condemned his predecessor as ignorant, inefficient, etc., claiming, of course, the opposite for himself. The fifth one, a genuine samaritan (*bhikkhū*), who came from the inter-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

mediate direction, and who knew how to get it, while staying at the bank, commanded the lotus to fly up (and fall into his hands) and there the lotus responded ! (See here the appended original text)[3].

The succeeding two *sūtras* (644-645), in point of fact, represent not the text proper but probably an early *niryukti* or commentary which ascribes the lotus-pond allegory as well as the exposition of its metaphorical meaning to "Samaṇa Bhagavaṁ Mahāvīra" himself. By style and construction, motivation and phrasing this part seems younger than the preceding textual part by about a couple of centuries. In this part Mahāvīra is reported to have explained the allegory by saying that the world (*loka*) signifies the pond *(puṣkaraṇi);* deeds (*karma)* represent (pond's) water and worldly pleasures (*kāma-bhoga*), mud *(seta)*. The people at large (*jana-jānapada)* are the lotuses and the king (*rāya)* is that centrally situated great lotus *(ege mahaṁ paumavara-puṇḍarīka)*. The four men *(cattāri puruṣāḥ)* stand for four different creeds *(anya-tirthas)*, the monk (*bhikkhū*) the genuine Law *(dharma)*, the bank of the pond (*tīra*) *dharmatīrtha* and the words (uttered by the monk) *dharma-kathā;* while the "flying up" of the (central great) lotus is liberation *(nirvāṇa)*.

The *Ācārāṅga* Book I (particularly its Chapters 1-6) contains the main maximic and aphorismic phrases and statements of Mahāvīra (together with the short and archaic explanatory summaries thereof, partly perhaps by an apostle, *gaṇadhara*, and partly by Ārya Bhadrabāhu) and it may thus collectively date from *c.* B. C. 500-300. The oldest part of the *Puṇḍarīka-adhyayana*, by comparison and by virtue of its language as well as cadence and style, almost approaches that hoary antiquity and in any case does not seem later than *c.* B. C. 300-200. In point of fact, inside the bulk of the *Kathānuyoga* class of texts in the canon (where the paragraphs usually start with '*tate naṁ se*', '*tise naṁ se*', etc), the *Puṇḍarīka*-text by its archaic style, feel, phrasing, and content seems by far the oldest known up-to-date.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jina Mahāvīra seemingly was fond of allegories and riddles as revealed from the earliar portions of the *Ācārāṅga;* and the *Puṇḍarīka*-allegory is strongly reminiscent of his personal style, verve, predilection, and peculiar mannerism. So, it is to all seeming a genuine fragment of a text which for its content can be referred back to Mahāvīra. As for the choice of expressions and words in this archaic part, it is parallaled not only in the *Ācārāṅga* (I. 1)[4] but also in the *Sūtrakṛtāṅga*, in its 'Mahāvīra-stava' (I. 6) (*c.* 2nd-1st cent. B. C.).[5]

The *Niryuktī* that in sequence follows the older original text is positively younger in style, mannerism, and idiom. This commentarial part may have been added by way of clarification of the main allegorical text sometime in *c.* 1st cent. B. C.-A. D. While it offers fairly plausible, indeed admissible interpretation of several connected metaphors in the older text, it has failed to produce convincing explanation of the word *puṇḍarīka* itself. It likens it, of course wrongly, to a 'king' (for the central) and to the 'subjects' for the other (surrounding) smaller lotuses. But why must the king "fiy up" ? Why do the followers of other creeds desire and attempt to possess the *puṇḍarīka* if it is just a metaphor for a 'king' ? (Surely these were not the pre-medieval and medieval times when pontiffs of different religions did not disdain royal patronage, in fact they often, and jealously, vied with one another for getting it. The commentary's calling the "fiying up" of this central lotus as "nirvāṇa" is one other fallacy. For the central lotus itself, as far as it can be guessed, was intended to represent *nirvāṇa*. And "flying up" of the lotus seems sensibly to symbolise the 'process' of attainment of liberation. The main text in point of fact refers to each person as desiring "to uproot and pluck (*unnikhissāmi*) the central white lotus" which would imply that each one of differing creed was hoping and trying for attaining *nirvāṇa* through his own individual path, but failed. The monk, believably of Nirgrantha persuation in this context, was the only soul who had followed the right path, the genuine law (*dhamma*). The other lesser lotuses possibly are intended to stand for attractive *siddhi*-rewards, but not the much coveted singular, ultimate achievement, release from the cycles of births and deaths.[6]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The third stratum of the text embodying *sūtras* 646–693, intended to enlarge upon the preceding shorter commentary, is the thickest and apparently is a conglomerate of several partly relevant or distantly and derivatively related passages of varying lengths, some even seeming extraneous. The central idea of those few passages, which alone seem relevant (and among themselves consistent), are those which clarify the 'creeds' or 'schools of thinking' represented by the "four *puruṣas*" and the refutation of their beliefs on a primary level. But there are too many other passages, which the compiler (and possibly also interpolators) had thought to have an explanatory bearing on what the *niryukti* part had to say. In the process, passages from varied sources, of different dates and of differing stylistic consistencies are all huddled up together. Some of these passages (651, 680) are from as ancient a source as the *Ācārāṅga* I (203, 132); and a few others in a style with an early look are 668, 673, and 674. The bulk of the rest may have been composed and next compiled in the first two centuries of the Christian Era.[7]

The illustrious Digambara scholiast Svāmi Vīrasena in his *Dhavalā ṭikā* (*c.* A. D. 800–817) on the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Puṣpadanta and Bhūtabali (*c.* late 5th or early 6th cent. A. D.), includes, on the basis apparently of some Yāpanīya source[8], the *Puṇḍarika* and the *Mahāpuṇḍarika* among the *aṅga-bāhya* class of texts.[9] Could these two texts have been amalgamated into the "Puṇḍarika-adhyayana" of the *Sūtrakṛtāṅga*? After all, the whole of its second Book is made up of 'appendices' put together probably in the Kuṣāṇa period and possibly before A. D. 200 when the Yāpanīya sect separated from the main stream of Nirgrantha Church.

Notes and References

1. *Sūyagaḍaṁgasuttaṁ*, Ed. Muni Jambūvijaya, Jaina-Āgama-Series No. 2 (2), Shri Mahāvīra Jaina Vidyālaya, Bombay, 1978, Book II, pp. 121–151. This is a somewhat better, methodically more useful than any previous edition of the work. I have consulted this edition for this paper.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. In the text, for the words, I have removed the Mahārāṣṭra-Prākṛta forms as well as the influences or affectations of that language and restored the original Ardhamāgadhī forms as far as was possible on the basis of the word-forms encountered in different āgamic *cūrṇi*-texts (7th cent. A. D.) on one hand and with the help of the generalities of the demarcating differences to the earlier and later linguistic tendencies in the Prākṛta lore on the other. For example 'ṇa' is at most places replaced by the natural 'na'; 'ya' *śruti* by its original consonants like 'ta', 'ca', etc.; 'i', or 'ı' by 'ti' or tı, etc. Only when a text, supposedly of great antiquity is restored to its original linguistic form does the Ardhamāgadhī-ness of its expression shines with brilliance. The pre-medieval and medieval modernizing processes effected with the aid of late Prākṛta rules and assumptions have done great harm to the original canonical language and, as a result, to judging or estimating the correct chronological position particularly of the early works of the Nirgrantha canon and also as a consequence hampered deciding on their real antiquity vis-a-vis the Buddhist Pāli canon.

3. In the text I have filled up the gaps (suggested by the word, *jāva*) by supplying fuller phrases.

4. For example the expressions *puritthimāto vā disāto āgato, dakkhiṇāto vā disāto āgato. . .* etc. (Ācārāṅga I. 1. 1/1) may be compared with the wordings for the four directions from which the four *puruṣas* came namely *puritthimāto disāto āgamma, dakkhināto disāto āgamma* etc. of our text (II. 1. 643, 680 & ff.) Similarly *antarito disāto vā anudisāto vā āgato* (Ācārāṅga I. 1. 1/1) may be compared with *antarito disāto anudisāto vā āgamma* of our text I. 1. 643).

5. The qualificatory '*kṣetrajña*' and '*kuśala*' in Vs. 3 (I. 6. 354) are also used in the *Puṇḍarika* text. These terms virtually disappear in the *āgamas* of the middle phase.

6. The author of this *niryukti* part is thus not only later since his *vyākhyā* or explanation is faulty; it is also clear that he did not belong to the direct *āgamika*-tradition of this text.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. What the Yāpanīya commentator Aparājita in his *Vijayodaya-ṭīkā* (*c.* early 9th cent. A. D.) on the *Ārādhanā* of Śivārya (*c.* 5th–6th cent. A. D) cites as of *Puṇḍarīkādhyayana* is somewhat paralleled in this third stratum. (*Cf.* Muni Jambūvijaya, "Introduction," p. 32). The version of the canon that the Yāpanīyas had must date before A. D. 353 at which the Mathurā Synod was convened and hence the one that existed before the date of the Boṭika schism, but some time in the first quarter of the 3rd cent. A. D. (I am discussing this problem of chronology elsewhere. 'Under the circumstances, the Yāpanīya version of the "Puṇḍarīka adhyayana" must belong to a date prior *c.* A. D. 200–225; hence the third stratum of the *Puṇḍarīka-adhyayana* was compiled at a date seemingly not later than *c.* A D. 200, or early Kuṣāṇa period.

8. Yāpanīya Aparājitasūri, in his *Vijayodayā-ṭīkā*, refers to the *Puṇḍarīka* and the *Mahāpuṇḍarīka* texts.

9. *Cf.* the discussion by Pt. Dalsukh Malvania, "Prastāvanā" (Hindi), *Jaina Sāhitya kā Bṛhad Itihāsa*, pt. 1, Varanasi, 1966, p. 38.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पौण्डरीक अध्ययनम्

६३८ सुतं मे आउसंतेन भगवता एवमक्खातं ।

इहं खलु **पोंडरीके** नाम **अज्झयने** तस्स नं अयमट्ठे पन्नत्ते ।

"से जधानामते **पुक्खरणी** सिता बहुउदगा बहुसेता बहुपुक्खला लद्धट्ठा **पुंडरीगिणी** पासादीता दरिसनीता अभिरूवा पडिरूवा ।

तीसे नं पुक्खरणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवर-पोंडरिगा बुइता अनुपुव्वट्ठिता ऊसिता रुतिला वन्नमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादीता दरसनीता अभिरूवा पडिरूवा ।

तीसे नं **पुक्खरणीए** बहु-मज्झ-देस-भागे **एगे महं पउमवर-पुंडरीगे** बुइते अनुपुव्वट्ठिते ऊसिते रुतिले वन्नमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीते दरिसनिते अभिरूवे पडिरूवे ।

सव्वावंती **च** नं तीसे **पुक्खरणीए** तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं **बहवे पउमवरपुंडरीगा** बुइता अनुपुव्वट्ठिता ऊसिता रुतिला वन्नमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादीता दरिसनिता अभिरूवा पडिरूवा ।

सव्वावंति च नं तीसे **पुक्खरणीए** बहुमज्झदेसभागे **एगे महं पउमवरपोंडरीगे** बुइते अनुपुव्वट्ठिते ऊसिते रुतिले वन्नमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीते दरिसनिते अभिरूवे पडिरूवे ।

अह **पुरिसे पुरत्थिमातो दिसातो** आगम्म तं **पुक्खरणीं** तीसे **पुक्खरणीए** तीरे ठिच्चा पासति तं **महं एगं पउमवरपुंडरीगं** अनु-पुव्वट्ठितं ऊसितं रुतिलं वन्नमंतं गंधमंतं रसमंतं फासमंतं पासादीतं दरिसनितं अभिरूवं पडिरूवं ।

तते न से **पुरिसे** एवं वदासी—अहमंसि **पुरिसे** खेतन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू गतिपरक्कमण्णू अहमेतं **पउमवरपुंडरीगं** उन्निक्खेस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से **पुरिसे**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिक्कमे तं **पुक्खरणिं** जाव जावं च नं अभिक्कमे ताव तावं च नं महंते **उदगे** महंते **सेते** पहीने तीरं अप्पत्ते **पउमवरपुंडरीगं** नो हव्वाते नो पाराते अंतरा **पुक्खरणीए सेतंसि** विसन्ने **पढमे पुरिसज्जाते** ।

अथापरे **दोच्चे पुरिसज्जाते** । अह **पुरिसे दक्खिणातो दिसातो** आगम्म तं **पुक्खरिणीं** तीसे **पुक्खरिणीए** तीरे ठिच्चा पासति त **महं एगं पउमवरपुंडरीगं** अनुपुव्वट्ठितं ऊसितं रुतिलं वन्नमंतं गंधमंतं रसमंतं फासमंतं पासादीतं दरिसनितं अभिरूवं पडिरूवं । त च एत्थ **एगं पुरिसजातं** पासति पहीणं तीर अपत्तं **पउमवरपुंडरीगं** नो हव्वाते नो पाराते अन्तरा **पोक्खरणीए सेतंसि** विसन्नं ।

तते नं से **पुरिसे** तं **पुरिसं** एवं वदासी–अहो नं इमे **पुरिसे** अखेतन्ने अकुसले अपंडिते अवियत्ते अमेधावी बाले नो मग्गत्थे नो मग्गविदू नो मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू जं नं एस पुरिसे खेतन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू गतिपरिक्कमण्णू अहमेत **पउमवर-पुंडरीगं** उन्निक्खेस्सामि नो च खलु एतं **पउमवरपुंडरीगं एवं** उन्निक्खेत्तव्वं जथा नं एस **पुरिसे** मन्ने ।

अहमंसि **पुरिसे** खेतन्ने कुसले पंडिते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू अहमेतं **पउमवरपुंडरीगं** उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से **पुरिसे** अभिक्कमे तं **पुक्खरणिं** जाव जाव अभिक्कमे ताव तावं च नं महंते **उदगे** महंते **सेते** पहीणे तीरं अप्पत्त **पउमवरपुंडरीगं** नो हव्वाते नो पाराते अंतरा सेतंसि विसन्ने **दोच्चे पुरिसजाते** ।

अथापरे **तच्चे पुरिसजाते** । **अह पुरिसे पच्चत्थिमातो दिसातो** आगम्म तं **पुक्खरणिं** तीसे **पुक्खरणीए** तीरे ठिच्चा पासति तं **महं एगं पउमवरपुंडरीगं** अनुपुव्वट्ठितं ऊसितं रुतिलं वन्नमंत गंधमंतं रसमंतं फासमंतं पासादीते दरिसनिते अभिरूवे पडिरूवे । ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पासति पहीणे तीरं अप्पत्ते **पउमवरपुंडरीगं** नो हव्वाते नो पाराते सेतंसि विसन्ने ।

तते नं से **पुरिसे** एवं वदासी–अहो नं इमे **पुरिसा** अखेतन्ना अकुसला अपंडिता अवियत्ता अमेधावी बाला नो मग्गत्था नो मग्गविदू नो मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू जं नं एते पुरिसा एवं मन्ने अम्हे तं **पउमवर-पुंडरीगं** उन्निक्खेस्सामो नो च खलु एतं **पउमवरपुंडरीगं** एवं उन्निक्खेत्तव्वं जथा नं एते **पुरिसा** मन्ने ।

अहमंसि पुरिसे खेतन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू अहमेनं **पउमवरपुंडरीगं** उन्निक्खेस्सामि इति वच्चा से **पुरिसे** तं **पोक्खरणिं** जाव जावं च नं अभिक्कमे ताव तावं च नं **उदगे** महंते **सेते** पहीणे तीरं अपत्ते **पउमवरपुंडरीगं** नो हव्वाते नो पाराते अंतरा **सेतंसि** विसन्ने **तच्चे पुरिसज्जाते** ।

अथापरे **चतुत्थे पुरिसज्जाते** । अह **पुरिसे उत्तरातो** दिसातो आगम्म तं **पुक्खरणिं** तीसे **पुक्खरणीए** तीरे ठिच्चा पासति **[महं] एगं पउमवरपुंडरीगं** अनुपुव्वट्ठितं ऊसितं रुतिलं वन्नमंतं गंधमंतं रसमंतं फासमंतं पासादीतं दरिसनितं अभिरूवं ।

तते नं से **पुरिसे** एवं वदासी–अहो नं इमे **पुरिसा** अखेतन्ना अकुसला अपंडिता अवियत्ता अमेधावी बाले नो मग्गत्था नो मग्गविदू नो मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू जन्नं एते पुरिसा एवं मन्ने **अम्हे** तं **पउमवर-पुंडरीगं** उन्निक्खिस्सामो । नो खलु **एतं पउमवरपुंडरीगं** एवं उन्निक्खेत्तव्वं जथा नं एते **पुरिसा** मन्ने । अहमंसि **पुरिसे** खेतन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं **पुक्खरणिं** जाव जावं च नं अभिक्कमे ताव तावं च नं महंते उदगे महंते **सेते** पहीणे तीरं अप्पते **पउमवरपुंडरीगं** नो हव्वाते नो पाराते अंतरा **सेतंसि** विसन्ने **चतुत्थे पुरिसज्जाते** ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ **भिक्खू** लूहे तीरट्ठी खेतन्ने कुसले पंडिते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू अन्नतरीतो दिसातो अनुदिसातो वा आगम्म तं **पुक्खरणीं** तीसे **पुक्खरणीए** तीरे ठिच्चा पासति तं महं **एगं पउमवरपुंडरीगं** अनुपुव्वट्ठितं ऊसितं रुतिलं वन्नमंतं गंधमंतं **रसमंतं** फासमंतं पासादीतं दरिसनीतं अभिरूवं पडिरूवं । ते च **चत्तारि पुरिसजाते** पासति पहीणे तीरं अप्पत्ते **पउमवरपुंडरीगं** नो हव्वाते नो पाराते अन्तरा सतंसि विसन्ने । तते न से **भिक्खू** एवं वदासी–अहो नं इमे पुरिसा अखेतन्ना अपंडिता अमेधावी बाला नो मग्गत्था नो मग्गविदू नो मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू जं नं एते **पुरिसा** एवं मन्ने अम्हेत **पउमवरपुंडरीगं** उन्निक्खिस्सामो नो च खलु एतं **पउमवरपुंडरीगं** एवं उन्निक्खेत्तव्वं जथा नं एते **पुरिसा** मन्ने । अहमंसि **भिक्खू** लूहे तीरट्ठी खेतन्ने पंडिते वियत्ते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरिक्कमण्णू अहमेत **पउमवरपुंडरीगं** उन्निक्खेस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से **भिक्खू** नो अभिक्कमे तं **पुक्खरणिं** तीसे **पुक्खरणीए** तीरे ट्ठिच्चा **सद्दं** कुज्जा– **उप्पताहि** खलु मो **पउमवर** ! **उप्पताहि** खलु भो पउमवर ! अथ से **उप्पतिते पउमवरपुंडरीगे** !

[पुरातन निर्युक्ति]

किट्टिते नाते समणाउसो ! अट्ठे पुन से जानितव्वे भवति ! भंते ! त्ति **समणं भगवं महावीरं** निग्गंथा च निग्गंथीओ च वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—किट्टिते नाते समणाउसो ! अट्ठं पुन से न जानामो समणाउसो ! त्ति **समणे भगवं महावीरे** ते च बहवे निग्गंथा च निग्गंथीओ च आमंतित्ता एवं वदासी–हंता समणाउसो ! आतिक्खामि विभावेमि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठं सहेतुं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि ।

६४५ से बेमि–

लोगं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो । सा **पुक्खरणी** बुइता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से **उदगे** बुइते ।
कामभोगा च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से **सेते** बुइते ।
जन–जानपदं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते **बहवे पउमवर-पुंडरीगा** बुइता ।
रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से **एगे महं पउमवर-पुंडरीगे** बुइते ।
अन्नउत्थिया च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते **चत्तारी पुरिसजाता** बुइता ।
धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से **भिक्खू** बुइते ।
धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से **तीरे** बुइते ।
धम्मकथं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से **सद्दे** बुइते ।
निव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से **उप्पाते** बुइते ।
एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं बुइतं ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांग में ज्ञानचर्चा

– जितेन्द्र बी. शाह, वाराणसी

भारतीय दर्शनकी वैदिक एवं श्रमण परंपराओं में ज्ञान का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक भारतीय परंपरा में जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण माना गया है। उस परम लक्ष्य की प्राप्ति में ज्ञानको ही साधन मानने पर भी ज्ञान के स्वरूप, संख्या आदि में विप्रतिपत्ति है। कुछ दार्शनिक लोग ज्ञान को गुण, कुछ कर्म और कुछ द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। ज्ञान को गुण मानने वाले दार्शनिकों के दो भेद हैं। प्रथम मत के अनुसार ज्ञान आत्मा का आगन्तुक लक्षण है। दूसरे मत के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक लक्षण है। जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का अनिवार्य गुण माना गया है। जीव और अजीव की भेदरेखा ज्ञान पर आधारित है। ज्ञान के बिना जीव अजीव है[1]। ज्ञान आत्माका लक्षण होने से तथा प्रमुख गुण होने के कारण जैन सिद्धान्त में ज्ञान की चर्चा प्रमाण से अलग स्वतंत्र रूप में ही की गई है। जब कि अन्य दर्शनों में ज्ञान की चर्चा प्रमाण की चर्चा के अन्तर्गत ही की जाती है।

आभिनिबोध अथवा मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्याय और केवलज्ञान रूप–ज्ञान के इन पाँच भेदों का विवेचन प्राचीन आगमों में किया गया है। अनेक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उक्त ज्ञान विषयक चर्चा भ० महावीर से भी प्राचीन सिद्ध की गई हैं[2]। प्राप्त प्राचीन आगम साहित्य के आधार पर ऐतिहासिक मूल्यांकन करने पर ज्ञान-विषयक चर्चा में एक प्रकार का विकास प्रतीत होता है।

कर्म–विषयक शास्त्रों में ज्ञानावरणीय कर्म के प्रसंग में ज्ञान की चर्चा उपलब्ध होती है। भगवतीसूत्र[3], उत्तराध्ययन[4], आवश्यक–निर्युक्ति[5], स्थानांग[6], नंदीसूत्र[7], अनुयोगद्वारसूत्र[8], प्रज्ञापनासूत्र[9] आदि ग्रन्थों में ज्ञान-चर्चा-संबंधी विशेष सामग्री प्राप्त होती है। आगमों में ज्ञान–चर्चा के विकास की चार भूमिकाएँ परिलक्षित होती हैं।

(१) विशुद्ध ज्ञान–चर्चा, जिसमें ज्ञान को केवल पाँच विभागों में विभाजित किया है।

(२) प्रारंभ में ज्ञानके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष नामक दो भेद किए गए हैं।–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्पश्चात् उक्त दो भेदों में ही मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान को समाविष्ट किया गया है ।

(३) नैयायिक-सम्मत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं आगम—इस प्रकार चार प्रमाणों में पाँचों ज्ञान का समावेश ।

(४) इन्द्रिय-जनित ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान एवं परोक्ष ज्ञान दोनों में समावेश करके अन्यदर्शनानुकूल इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का जैन दर्शन के सिद्धान्त के साथ समन्वय करने का प्रयास किया गया है ।

भगवतीसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र तथा कर्मविषयक ग्रन्थों में प्रथम भूमिका के रूप में ज्ञान की चर्चा प्राप्त होती है । आवश्यक–नियुक्ति और स्थानांग–सूत्र में की गई ज्ञान–चर्चा द्वितीय भूमिका के रूपमें है ।

अनुयोगद्वार–सूत्र में ज्ञान विश्लेषण की पद्धति तृतीय भूमिका में समाविष्ट होती है ।

नंदीसूत्र में प्राप्त ज्ञान-चर्चा चतुर्थ भूमिका के अन्तर्गत आती है ।

स्थानांगसूत्र में की गयी ज्ञानचर्चा प्रथम भूमिका का विकास है । प्रथम भूमिका की ज्ञानचर्चा भगवतीसूत्र में प्राप्त होती है[११] । तदनुसार :–

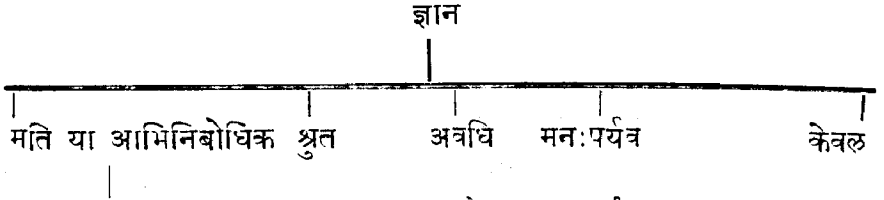

अवग्रह = १. व्यंजनावग्रह और २. अर्थावग्रह

इसमें ज्ञान के केवल पाँच ही भेद किए गए हैं जो जैन सिद्धान्त को मान्य हैं । इसी प्रकार की भेद-चर्चा उत्तराध्ययन सूत्र[१२] में भी प्राप्त होती है ।

स्थानांगसूत्र में ज्ञान को पाँच भेदों में विभाजित न करके प्रथम दो विभाग प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभक्त किया गया है । स्थानांगसूत्र में प्राप्त ज्ञान-चर्चा द्वितीय भूमिका की है । इसी प्रकार की चर्चा तत्त्वार्थ–सूत्र में भी उपलब्ध होती है । दोनों ही लगभग समान प्रकार की हैं । स्थानांगसूत्र के अनुसार ज्ञान का विवेचन निम्न प्रकार से है[१३]:–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

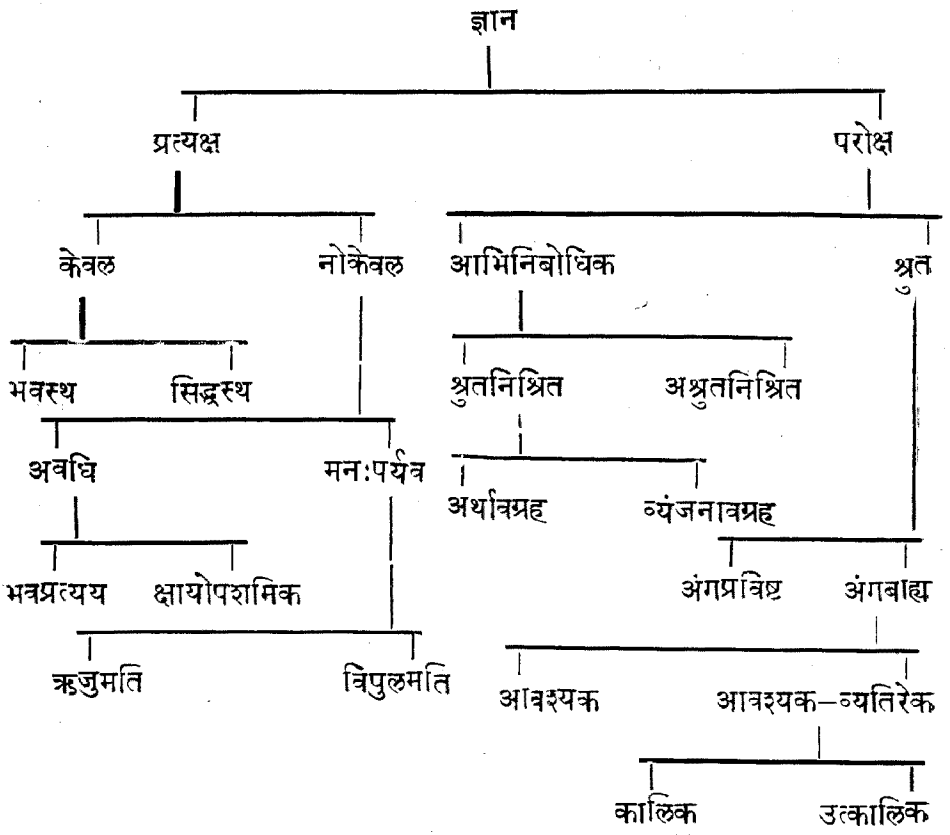

इस से यह स्पष्ट है कि प्रथम अवस्था में ज्ञान के दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष किए गए हैं। प्रत्यक्ष में अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान का तथा परोक्ष में आभिनिबोधिक तथा श्रुतज्ञान का समावेश किया गया है। इन्द्रियजनित ज्ञान को परोक्ष ही माना गया है। नंदीसूत्रकार ने इन्द्रियजनित ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों में समाविष्ट किया है जो स्थानांगसूत्र की ज्ञान–चर्चा से अधिक विकसित है। नंदीसूत्रकी ज्ञानचर्चा चतुर्थ भूमिका में आती है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए नंदीसूत्र की दी गयी तालिका देखिए।

स्थानांगसूत्र में आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित किए गए हैं, जो नंदीसूत्र के अनुकूल होने पर भी तत्त्वार्थसूत्र[१४] तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्ति में नहीं पाए जाते हैं। प्राचीन दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित ऐसे दो भेद नहीं मिलते हैं।[१५] अश्रुतनिश्रित के नंदीसूत्र में औत्पातिकी, वैनयिकी, कर्मजा तथा पारिणामिकी इस प्रकार चार भेद किए गए हैं और वे भी स्थानांग में नहीं मिलते हैं। अतः यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि स्थानांगसूत्र की ज्ञान–चर्चा नंदीसूत्र से अधिक प्राचीन है।

अनुयोगद्वार–सूत्र में ज्ञानचर्चा करते समय प्रारंभ में ज्ञान को चार प्रमाणों में विभाजित किया गया है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। प्रत्यक्ष प्रमाण के पहले पहल दो भेद इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष करके इन्द्रिय प्रत्यक्ष में आभिनिबोधिक तथा नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यव तथा केवल ज्ञान का समावेश किया गया है तथा आगम प्रमाण में श्रुतज्ञान का समावेश किया गया है।[१६] इस प्रकार प्रथमबार अनुयोगद्वार में प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञान-चर्चा का प्रयत्न किया गया है। इसमें स्पष्टतः नैयायिक प्रभाव पाया जाता है और स्थानांगसूत्र से अधिक विकसित भी है।

आवश्यकसूत्र अंग-आगम जितना पुराना है। पं. श्री दलसुखभाई मालवणीया ने यह सिद्ध किया है कि आवश्यक का अध्ययन अंगों से भी पहले किया जाता था। उन्होंने आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति को अंगों के जितनी ही पुरानी मानी है।[१७] इस तरह से यह तो निश्चित होता है कि आवश्यक की निर्युक्ति प्राचीन है। ज्ञान-विषयक निर्युक्ति में आ. भद्रबाहु ने मंगल के रूपमें केवलज्ञान की ही चर्चा की है। बृहत्-कल्पभाष्य में मिलने वाली निर्युक्ति-गाथाओं में भी ज्ञान की चर्चा प्राप्त होती है।[१८] बृहत्कल्पकी निर्युक्ति-गाथाओं में पाँच प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में विभाजित किया गया है। आवश्यक-निर्युक्ति के अनुसार ज्ञान का विवेचन निम्न रूप से प्राप्त होता है:–

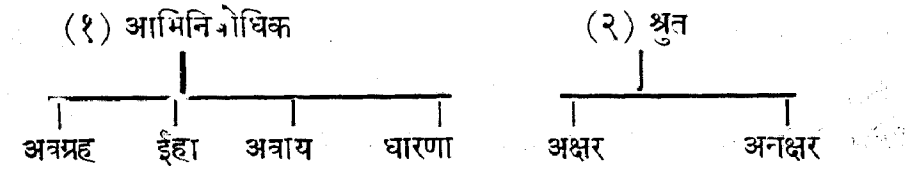

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्षर : संज्ञी, सादि, सपर्यवसित, गमिक, सम्यक् , अंगप्रविष्ट ।
अनक्षर : असंज्ञी, अनादि, अपर्यवसित, अगमिक, मिथ्या, अंगबाह्य

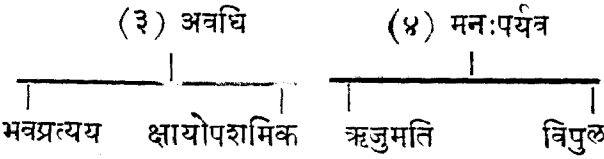

आवश्यक निर्युक्ति में ज्ञान के दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष किए गये हैं जो स्थानांग में भी पाए जाते हैं । अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का जो स्वरूप निर्युक्ति में है वही स्थानांग में भी । विशेषता केवल यह है कि निर्युक्ति में अवग्रह के दो भेद अर्थावग्रह तथा व्यंजनावग्रह का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं हैं तथापि आभिनिबोधिक ज्ञान के २८ ही भेद प्राप्त होते हैं ।[१९]

आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्याय के रूप में मति के अतिरिक्त संज्ञा, प्रज्ञा, स्मृति आदि शब्दों की वृद्धि तो पाई जाती है किन्तु श्रुतनिश्रित, अश्रुतनिश्रित जैसे भेदों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है ।[२०] श्रुतज्ञान के १४ भेदों का वर्णन किया है जो स्थानांगसूत्र में नहीं है, शायद स्थानांग की ज्ञान-चर्चा द्वितीय स्थानक के अन्तर्गत होने से श्रुतज्ञान के दो ही भेद ईष्ट हो जैसा कि श्रुतनिश्रित के दो भेद अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह करके ही छोड़ दिया गया है ।

श्रुतज्ञान के भेदों की भी दो परंपराएँ प्राप्त होती हैं । श्रुतज्ञान के अक्षर, अनक्षरादि १४ भेदों की प्रथम परंपरा तथा अंगबाह्य एवं अंगप्रविष्ट रूप केवल दो ही भेदों की दूसरी परंपरा । प्रथम परम्परा आवश्यक निर्युक्ति और नंदीसूत्र में और द्वितीय परंपरा स्थानांग सूत्र और तत्त्वार्थसूत्र में है ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान को प्रारंभ में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में विभाजित करके उसमें पाँच प्रकार के ज्ञान का समावेष करने का प्रयत्न निर्युक्तिकार ने किया है और अन्य भेद-प्रभेदों की तुलना करने से यह सिद्ध होता है कि स्थानांग की ज्ञान-चर्चा का आधार निर्युक्ति की गाथाएँ हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

१. भगवतीसूत्र

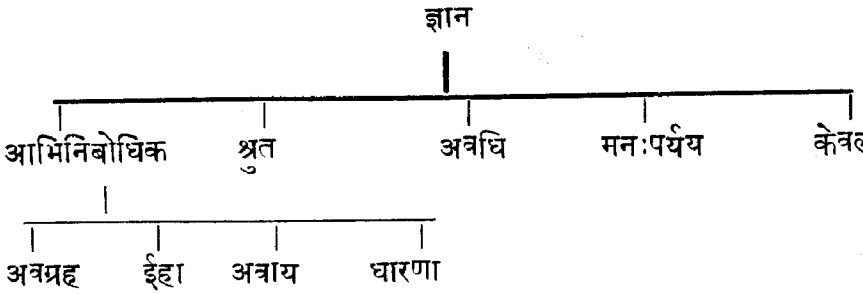

यहाँ आगे का वर्णन रायपसेणीय–सुत्त के अनुसार पूर्ण करने का निर्देश दिया है। रायपसेणीय-सुत्त में अवग्रह के दो भेद करके आगे की पूर्ति नंदीसूत्र के अनुसार करने की सूचना दी गई है।

२. स्थानांगसूत्र

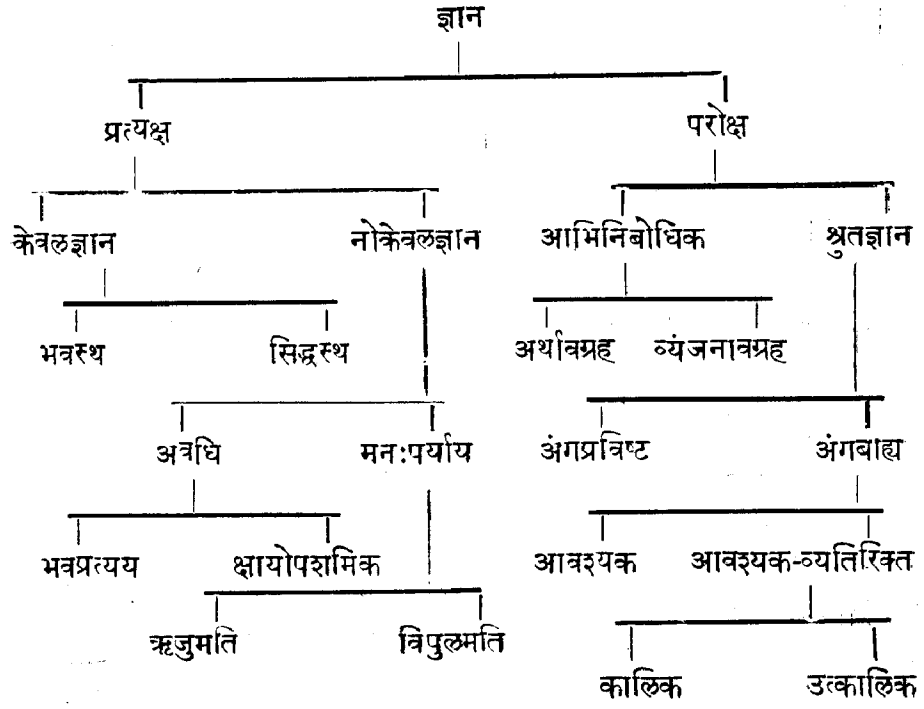

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. आवश्यक निर्युक्ति

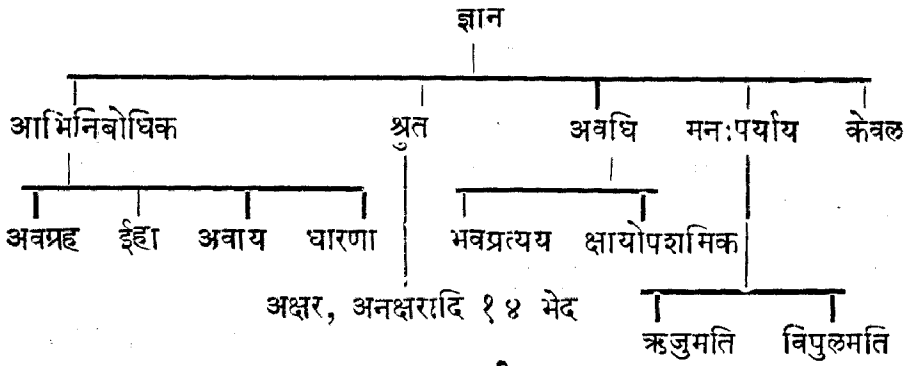

४. तत्त्वार्थ-सूत्र

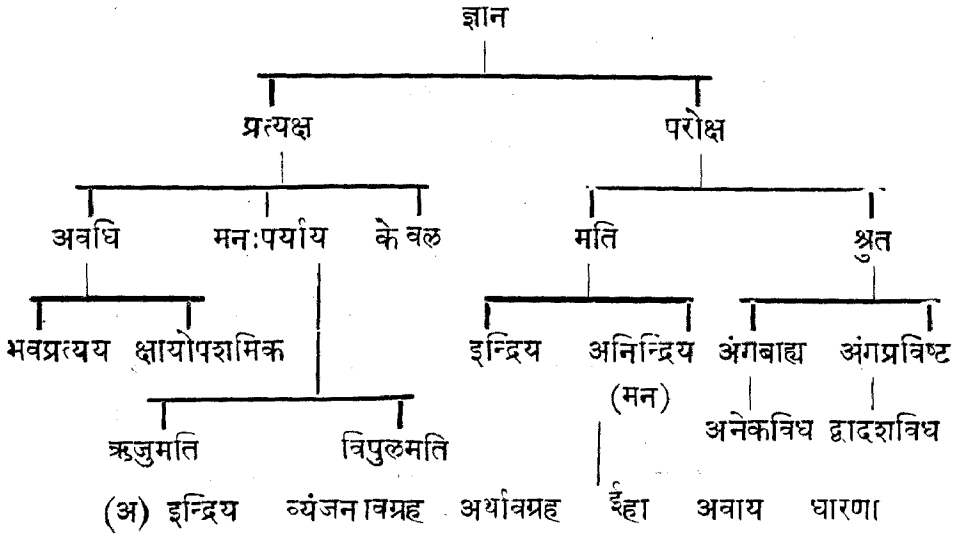

(अ) इन्द्रिय	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा	
१. स्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,	५
२. रस	,,	,,	,,	,,	,,	५
३. घ्राण	,,	,,	,,	,,	,,	५
४. चक्षु	—	,,	,,	,,	,,	४
५. श्रोत्र	,,	,,	,,	,,	,,	५
(ब) अनिन्द्रिय मन	—	,,	,,	,,	,,	४
						२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन २८ भेदों के निम्न प्रकार से १२–१२ विभेद किये जाने पर कुल ३३६ भेद होते हैं। ये बारह प्रकार के विभेद इस प्रकार हैं :–

१. बहु, २. अबहु, ३. बहुविध, ४. अबहुविध, ५. क्षिप्र, ६. चिर, ७. निश्रित, ८. अनिश्रित, ९. उक्त, १०. अनुक्त, ११. ध्रुव और १२ अध्रुव

५. नंदीसूत्र

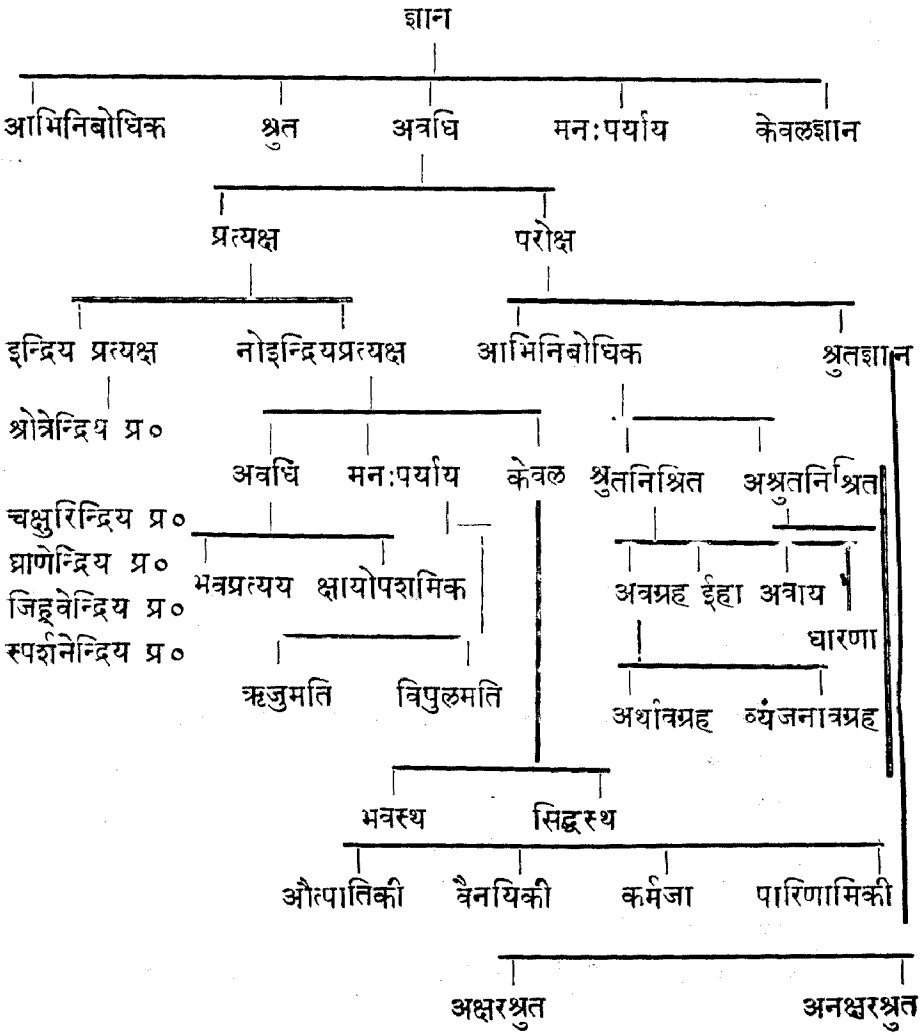

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **अक्षरश्रुत** : संज्ञिश्रुत, सम्यक्श्रुत, सादिश्रुत, सपर्यवसित, गमिक, अंगप्रविष्ट

(२) **अनक्षरश्रुत** : असंज्ञिश्रुत, मिथ्याश्रुत, अनादिश्रुत, अपर्यवसित, अगमिक, अंगबाह्य.

६. अनुयोगद्वार सूत्र

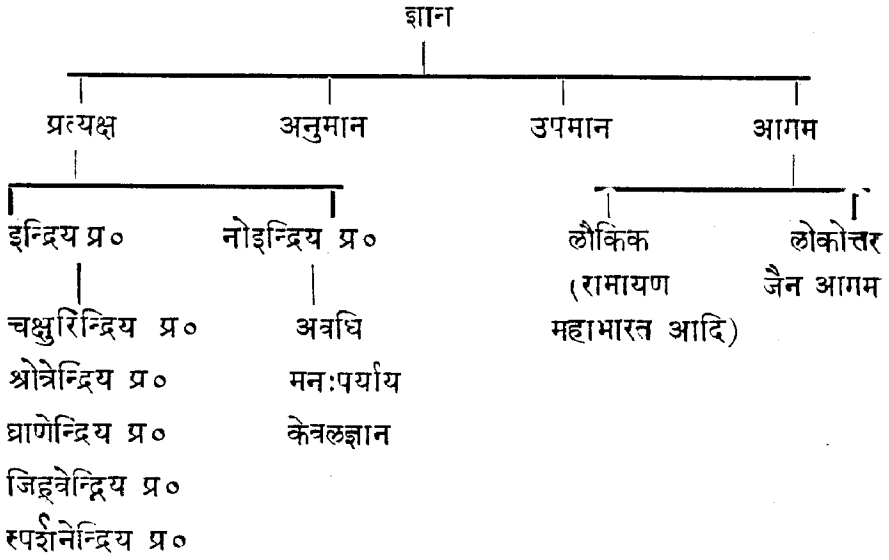

संदर्भ :—

१. सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडियो जति पुणो सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तं पावेज्जा ॥ नंदिसुत्त, ७७, पृ. ३१, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई ।

२. उपयोगो लक्षणम् । तत्त्वार्थसूत्र २·८

३. आगमयुग का जैन दर्शन, पं दलसुख मालवणीया, पृ. १२८–१२९.

४. भगवती सूत्र. ८८. २. ३१७.

५. उत्तराध्ययन सूत्र. अ. २८, गा. ४.

६. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १ से ७९

७. स्थानांगसूत्र, द्वितीय स्थानक, प्रथम उद्देश, ज्ञानपद

८. नंदीसूत्र (ज्ञानचर्चा)

९. अनुयोगद्वार, महावीर जैन विद्यालय, पृ. ४३६–४३९, ४६७–४६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. प्रज्ञापना सूत्र
११. भगवती सूत्र ८८. २. ३१७.
१२. उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २८, गा. ४
१३. स्थानांगसूत्र, द्वितीयस्थानक, प्रथम उद्देश, ज्ञानपद.
१४. तत्त्वार्थसूत्र, प्रथम अध्याय.
१५. षट्खण्डागम, जीवस्थान, सत्यप्ररूपणा, पृ. ३५३, सं. हीरालाल जैन
१६. अनुयोगद्वार, महावीर जैन विद्यालय, बंबई, पृ. ४३६–४३९ ४६७–४६९.
१७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, प्रस्तावना पृ. ५५.
१८. बृहत्कल्पभाष्यान्तर्गत निर्युक्तिगाथा ३, २४ और २५.
१९. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १६.
२०. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, १२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांग, नंदी और षट्खण्डागम में अतीन्द्रियज्ञान के केन्द्र तथा चक्र और ग्रंथितंत्र

— पू. युवाचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूँ

' गोरक्ष पद्धति ' में ध्यान के नौ स्थान बतलाए गए हैं —[1] १. आधार चक्र २. स्वाधिष्ठान ३. मणिपूर ४. हृत्पद्म (अनाहत) ५. विशुद्ध ६. घण्टिकामूल ७. लम्बिकास्थान ८. आज्ञा चक्र और ९. शून्यस्थान ।

प्रश्न होता है कि तंत्र-शास्त्र और हठयोग में तो चक्रों का निरूपण है, किन्तु जैन साहित्य में उनका कोई निरूपण नहीं है । जैन परम्परा में ध्यान की पद्धति का विलोप हो जाने के कारण इस प्रश्न का उत्तर खोजा भी नहीं गया । हरिभद्रसूरि, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने अपने योग ग्रन्थों में हठयोग का समावेश किया, किन्तु जैन साहित्य में उपलब्ध चक्रों की ओर ध्यान नहीं दिया । अतीन्द्रिय ज्ञान की खोज और उसकी उपलब्धि में जैन साधक आगे नहीं बढ़ सके । वास्तविकता यह है कि शरीर के बारे में सही जानकारी नहीं रही और उसका सही मूल्यांकन भी नहीं किया गया । हम केवल 'आत्मा' शब्द पर अटक गए । ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो आध्यात्मिकता या आत्मतत्त्व की अतिवादी धारणा ने शरीर का सही मूल्यांकन नहीं होने दिया । भेदविज्ञान के दृष्टिकोण ने आत्मा और शरीर के भेद को जानने की साधना दी । किन्तु उन दोनों के योग से होने वाले लाभांशों की उपेक्षा हो गई । शरीरधारी मनुष्य का ज्ञान केवल आत्मा से संबद्ध नहीं होता । वह आत्मा और शरीर दोनों से सम्बन्ध रखता है । आचार्य मलयगिरि ने इस सत्य को बहुत अच्छी तरह अभिव्यक्ति दी है । उन्होंने लिखा है कि केवली आत्मा से और शरीर के सभी प्रदेशों से जानता देखता है तथा छद्मस्थ मनुष्य अंगोपांग नाम-कर्म द्वारा संस्कृत इन्द्रिय–द्वारों से जानता देखता है ।[2]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे पास चार करण होते हैं – मनकरण, वचन-करण, काय-करण और कर्म–करण। अशुभकरण से असुख का और शुभकरण से सुख का संवेदन होता है।[४]

श्वेताम्बर साहित्य में 'करण' के विषय में अर्थ की परंपरा विस्मृत हो गई। दिगम्बर साहित्य में वह आज भी उपलब्ध है। उससे चक्र या चैतन्य–केन्द्र के बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

करण का एक अर्थ होता है–निर्मल चित्त–धारा। उसका दूसरा अर्थ है–चित्त की निर्मलता से होनेवाली शरीर, मन आदि की निर्मलता। शरीर के जिस देश में निर्मलता हो जाती है, अर्थात् शरीर का जो भाग करण रूप मे परिणत हो जाता है, उस भाग से अतीन्द्रियज्ञान होने लग जाता है।[५] इस दृष्टि से हमारे शरीर में अवधिज्ञान के जो अनेक क्षेत्र हैं या अनेक संस्थान हैं[६] ये ही चक्र या चैतन्य–केन्द्र हैं।

श्वेताम्बर साहित्य में चक्र-सिद्धान्त का मौलिक आधार है देशावधिज्ञान। प्रज्ञापना में अवधिज्ञान के दो प्रकार उपलब्ध हैं देशावधि और सर्वावधि[७]। नंदी में देशावधि, सर्वावधि का उल्लेख नहीं है, केवल परमावधि का उल्लेख मिलता है।[८] गोम्मटसार में अवधिज्ञान के तीन प्रकार मिलते हैं–देशावधि, परमावधि और सर्वावधि।[९]

नंदी में अवधिज्ञान के छह प्रकार किए गए हैं।[१०] उनमें पहला प्रकार आनुगामिक है। उसके दो प्रकार हैं–अंतगत और मध्यगत।[११] यह विषय अन्य किसी भी उपलब्ध आगम ग्रंथ में नहीं है। प्रतीत होता है कि देववाचक ने यह पूरा प्रकरण ज्ञान-प्रवाद नामक पूर्व से लिया था। इस दृष्टि से नन्दी सूत्र का मुख्य आधार ज्ञानप्रवादपूर्व हो सकता है। स्थानांग, समवायांग, भगवती आदि इसके आधार नहीं हो सकते। ज्ञानप्रवाद चौदह पूर्वों में पाँचवाँ पूर्व है। उसकी विशाल ग्रंथ-राशि में ज्ञान का ही निरूपण है।[१२]

नंदी के इस प्रकरण से एक चिर जिज्ञासित प्रश्न का समाधान होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा जाता है कि तंत्रशास्त्र और हठयोग में चक्रों का निरूपण है, किन्तु जैन साहित्य में उनका कोई निरूपण नहीं है ।

नन्दी सूत्र में देशावधि और सर्वावधि का उल्लेख नहीं है, किन्तु उनकी व्याख्या बहुत विस्तार से मिलती है । अंतगत देशावधि का सूचक है और मध्यगत सर्वावधि का सूचक है । अंतगत-अवधिज्ञान के तीन प्रकार हैं–

१. पुरतः अंतगत २. पृष्ठतः अंतगत और ३. पार्श्वतः अंतगत ।

चूर्णिकार और हरिभद्रसूरिने अंतगत शब्द के अनेक अर्थ किए हैं–

१. यह औदारिक शरीर के पर्यन्त भाग में स्थित होता है, इसलिए अंतगत है ।
२. यह स्पर्धक[१३] अवधि होने के कारण आत्म-प्रदेशों के अंतभाग में रहता है, इसलिए अंतगत है ।
३. यह औदारिक शरीर के किसी देश (भाग) से साक्षात् जानता है, इसलिए अंतगत है ।[१४]

औदारिक शरीर के मध्यवर्ती स्पर्धकों की विशुद्धि, सब आत्मप्रदेशों की विशुद्धि अथवा सब दिशाओं का ज्ञान होने के कारण यह अवधिज्ञान मध्यगत कहलाता है ।[१५]

जब आगे के चक्र या चैतन्य-केन्द्र जागृत होते हैं, तब पुरतः अंतगत अवधिज्ञान होता है । उससे अग्रवर्ती ज्ञेय जाना जाता है ।

जब पीछे के चैतन्य केन्द्र जागृत होते हैं, तब पृष्ठतः अंतगत अवधिज्ञान होता है । उससे पृष्ठवर्ती ज्ञेय जाना जाता है ।

जब पार्श्व के चैतन्य–केन्द्र जागृत होते हैं, तब पार्श्वतः अंतगत अवधिज्ञान उत्पन्न होता है । उससे पार्श्ववर्ती ज्ञेय जाना जाता है ।

जब मध्यवर्ती चैतन्य-केन्द्र जागृत होते हैं, तब मध्यगत अवधिज्ञान उत्पन्न होता है । उससे सर्वतः समन्तात् (चारों ओर से) ज्ञेय जाना जाता है ।[१६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका निष्कर्ष यह है कि हमारे समूचे शरीर में चैतन्य–केन्द्र अवस्थित हैं। साधना के तारतम्य के अनुसार जो चैतन्य–केन्द्र जागृत होता है, उसी में से अतीन्द्रियज्ञान की रश्मियाँ बाहर निकलने लग जाती हैं। पूरे शरीर को जागृत कर लिया जाता है तो पूरे शरीर में से अतीन्द्रिय ज्ञान की रश्मियाँ फूट पड़ती हैं। किसी एक या अनेक चैतन्य केन्द्रों की सक्रियता से होनेवाले अवधि-ज्ञान का नाम देशावधि है। पूरे शरीर की सक्रियता से होने वाला अवधिज्ञान सर्वावधि है।

नन्दी सूत्र में अवधिज्ञान के छह प्रकार बतलाए गए हैं[१७]–

१. आनुगामिक, २. अनानुगामिक, ३. वर्धमान, ४. हीयमान,
५. प्रतिपाति और ६. अप्रतिपाति

षट्खंडागम में अवधिज्ञान के तेरह प्रकार बतलाए गए हैं[१८]–

१. देशावधि २. परमावधि ३. सर्वावधि ४. हायमान ५. वर्धमान ६. अवस्थित ७. अनवस्थित ८. अनुगामी ९. अननुगामी १०. सप्रतिपाती ११. अप्रतिपाती १२. एक क्षेत्र और १३. अनेक क्षेत्र

प्रस्तुत प्रसंग में एक क्षेत्र और अनेक क्षेत्र–ये दो भेद बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जिसमें जीव–शरीर का एक देश (चैतन्य–केन्द्र) करण बनता है, वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान है[१९], जो प्रतिनियत क्षेत्र के माध्यम से नहीं होता, किन्तु शरीर के सभी अवयवों के माध्यम से होता है – शरीर के सभी अवयव करण बन जाते हैं, वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान है।[२०]

यद्यपि अवधिज्ञान की क्षमता सभी आत्म–प्रदेशों मे प्रकट होती है, फिर भी शरीर का जो देश करण बनता है उसी के माध्यम से अवधिज्ञान प्रकट होता है। शरीर का जो भाग करण रूप में परिणत हो जाता है, वही अवधिज्ञान के प्रकट होने का माध्यम बन सकता है। नंदीसूत्र में भी सब अवयवों से जानने और किसी एक अवयव से जानने की चर्चा मिलती है।[२१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकक्षेत्र अवधिज्ञान में शरीर का एक चैतन्य-केन्द्र भी जागृत हो सकता है तथा दो, तीन, चार, पाँच आदि चैतन्य-केन्द्र भी एक साथ जागृत हो सकते हैं।[२३]

चैतन्य-केन्द्र अनेक संस्थान वाले होते हैं। जैसे इन्द्रियों का संस्थान प्रतिनियत होता है, वैसे चैतन्य-केन्द्रों का संस्थान प्रतिनियत नहीं होता, किन्तु करणरूप में परिणत शरीर-प्रदेश अनेक संस्थान वाले होते हैं।[२३] कुछ संस्थानों के नाम-निर्देश मिलते हैं।[२४] जैसे—श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि। धवलाकारने आदि शब्द के द्वारा अन्य अनेक शुभ संस्थानों का निर्देश किया है।[२५] तन्त्रशास्त्र और हठयोग में चक्रों के लिए कमल शब्द की प्रकल्पना मिलती है। यहाँ कमल शब्दका उल्लेख नहीं है, किन्तु आदि शब्द के द्वारा उसका निर्देश स्वतः प्राप्त हो जाता है। आचार्य नेमिचन्द्रने गुणप्रत्यय अवधिज्ञान को शंख आदि चिन्हों से उत्पन्न होनेवाला बतलाया है।[२६] टीकाकार ने आदि शब्द की व्याख्या में पद्म, वज्र, स्वस्तिक, मत्स्य, कलश आदि शब्दों का निर्देश दिया है।[२७] जैन साहित्य में अष्ट-मंगल की मान्यता प्रचलित है।[२८] अनुमान किया जा सकता है कि अवधिज्ञान के शरीरगत चिन्हों और अष्ट-मंगलों में कोई सामंजस्य का सूत्र रहा हो।

श्रीवत्स आदि शुभ संस्थान वाले चैतन्य-केन्द्र मनुष्य और पशु की नाभि के ऊपर के भाग में होते हैं। वीरसेन आचार्य का मत है कि शुभ संस्थानवाले चैतन्य-केन्द्र नीचे के भाग में नहीं होते।[२९] नाभि से नीचे होने वाले चैतन्य-केन्द्रों के संस्थान अशुभ होते हैं, गिरगिट आदि अशुभ आकारवाले होते हैं। आचार्य वीरसेन के अनुसार इस विषय का षट्खंडागम में सूत्र नहीं है, किन्तु यह विषय उन्हें गुरु-परम्परा से उपलब्ध है।[३०]

चैतन्य-केन्द्रों के संस्थानों में परिवर्तन भी हो सकता है। सम्यक्त्व उपलब्ध होने पर नाभि से नीचे के अशुभ संस्थान मिट जाते हैं, नाभि से ऊपर के शुभ संस्थान निर्मित हो जाते हैं।[३१] इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व अवस्था में चले जाने पर नाभि से ऊपर के शुभ संस्थान मिट जाते हैं और नाभि से नीचे के अशुभ संस्थान निर्मित हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्य-केन्द्र का विषय साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त होती है। किन्तु उनके प्रदेशों या चैतन्य की सघनता सर्वत्र एक जैसी नहीं होती। शरीरके कुछ भागों में चैतन्य सघन होता है और कुछ भागों में विरल। अतीन्द्रियज्ञान, शक्ति-विकास और आनन्द की अनुभूति के लिए उन सघन क्षेत्रों की सक्रियता हमारे लिए बहुत अर्थपूर्ण है। इस दृष्टि से यह विषय बहुत मननीय है।

---

१. गोरक्ष पद्धति २/७५–७६ गदं मेढं च नाभिश्च हृत्पद्मं तदूर्ध्वतः।
घण्टिका लम्बिका स्थानं भ्रूमध्ये च तमोबिलम्।
कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः।
उपाधितत्व-मुक्तानि कुर्वन्त्यष्ट गुणोदयम्॥

२. प्रज्ञापना १५/१, वृत्तिपत्र ३०३
"केवली हि सर्वैरप्यात्मशरीरप्रदेशः सर्वं जानाति पश्यति च"।
छद्मस्थस्तु अंगोपांगविशेष संस्कृतैरेवेन्द्रियद्वारैः जानाति पश्यति च"॥

३. भगवती ६/५

४. भगवती ६/१४

५. षट्खंडागम, पुस्तक १३, पृष्ठ २९६, धवला :–
ओहिणाणमणेयक्खेत्तं चेव, सव्वजीवपदेसेसु अवक्कमेण खओवसमं गदेसु सरीरेगदेसेणेव वज्झट्ठावगमाणुवत्तीदो? ण, अण्णत्थ करणाभावेण करणसरूवेण परिणदसरीरेगदेसेण तदवगमस्स विरोहाभावादो।

६. वही, पृ. २९६, धवला :–
खेत्तदो ताव अणेयसंठाणसंठिदा ॥५७॥
जहा कायाणमिंदियाण च पडिणियदं संठाणं तहा ओहिणाणस्स ण होदि, किन्तु ओहिणाणावरणीयखओवसमगदजीवपदेसाणं करणभूदसरीर पदेसा अणेग-संठाणसंठिदा होंति।

७. प्रज्ञापना ३३/३३

८. नन्दी सूत्र, १८, गा. २

९. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा. ३६३ :–
भवपच्चइगो ओही, देसोही होदि परमसव्वोही।
गुणपच्चइगो णियमा, देसोही वि य गुणे होदि॥

---

3. Seminar on Jain Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. नंदी, सूत्र, ९ ११. नंदी, सूत्र १०

१२. नंदी, चूर्णि, पृ. ७५ :-
"पंचम णाणप्पवाद ति, तम्मि मतिणाइपचकस्स सप्रभेद प्ररूवणा जम्हा कता तम्हा णाणप्पवाद । तम्मि पदपरिमाण एका पदकोडी एकपदूणा"

१३. आत्मगुण का आच्छादन करनेाली कर्म की शक्तिका नाम स्पर्धक है । वह दो प्रकार का हेाता है-देशघाती और सर्वघाती। आत्मा के किसी एक देश का आच्छादन करनेाली कर्म-शक्ति को देशघाती स्पर्धक और सर्व-देशका आच्छादन करनेवाली कर्म-शक्ति को सर्वघाती स्पर्धक कहा जाता हैं ।

१४. नन्दी चूर्णि, पृ. १६ :-
(क) एव ओरालियसरीरंते ठित गत ति एगट्ठ त च आतप्पदेसफड्डगावहि, एगदिसोवल भाओ य अंतगतमोधिण्णाण भण्णति। अहवा सव्वत्तप्पदेस-विसुद्धेसु वि ओरालियसरीरेगंतेण एगदिसिपासणगत ति अ तगत भण्णति। अहवा फुडतरमत्थो भण्णति-एगदिसावधिउवलद्धखेत्तातो सो अवधिपुरिसो अंतगतो त्ति जम्हा तम्हा अंतगत भण्णति ।
(ख) नंदीसूत्र, हरिभद्रवृत्ति, पृ. २३ ।

१५. नंदि, चूर्णि, पृ. १६ :-
मज्झन्तगत पुण ओरालियसरीरमज्झे फडगविसुद्धीतो सव्वातप्पदेसविसुद्धीतो वा सव्वदिसोवल भत्तणतो भज्झगतोति भण्णति ।

१६. नन्दी, सूत्र १६ :-
पुरओ अंतगएणं ओहिणाणेणं पुरओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइ जाणइ पासइ । मग्गओ अ तगतण ओहिणाणेण मग्गओ चेव स खेज्जाणि वा अस खेज्जाणि जोयणाइ जांणइ पासइ ।
पासओ अ तगएण ओहिणाणेण पासओ चेव स खेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइ जाणइ पासइ ।
मज्झगएण ओहिणाणेणं सव्वओ सम ता स खेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइ जाणइ पासइ ।

१७. नन्दीसूत्र, ९ १८. षट्खंडागम, पुस्तक १३, पृ. २९२

१९. वही, पृ. २९५ :
जस्स ओहिणाणस्स जीवसरीरस्स एगदेसो करण होदि तमोहिणाणमेगक्खेत्त णाम ।

२०. षट्खंडागम, पुस्तक १३, पृ. २९५ :
जमोहिणाण पडिणियदखेत्त वज्जिय सरीरसव्वावयवेसु वट्टदि तमणेगक्खेत्त णाम ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. नंदीसूत्र २२ :
नेरइयदेवतित्थंकरा य, ओहिस्सऽवाहिरा हुंति ।
पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ॥

२२. षट्खंडागम, पुस्तक १३, पृ० २९७
ण च एक्कस्स जीवस्स एक्कम्हि चेव पदेसे ओहिणाणकरण' होदित्ति णियमो अत्थि, एग–दो–तिण्णि–चत्तारि–पंच–छआदि खेत्ताणमेगजीवम्हि संखादि-सुहसंठाणाण' कम्हि वि संभवादो ।

२३. वही, पृ. २९६ :– खेत्तदो ताव अणेयसंठाणसंठिदा ॥५७॥

२४. वही, पृ. २९७ :– सिरिवच्छ–कलस–संख–सोत्थिय णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि भवंति ।

२५. वही, पृ. २९७ :– एत्थ आदिसद्देण अण्णेसिं पि सुहसंठाणाण' गहणं कायव्व' ।

२६. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा० ३७१ :–
मनपच्चइंगो सुरणिरयाण', तित्थेवि सव्व अंगुत्थो ।
गुणपच्चइगो णरतिरियाण' संखादिचिण्हभवो ॥

२७. वही, टीका –
नाभेरुपरि शंखपद्मवज्रस्वस्तिकझषकलशादि शुभचिन्हलक्षितात्मप्रदेशरस्था-वधिज्ञानावरणीयान्तरायकर्मद्वयक्षयोपशमोत्पन्नमित्यर्थः ।

२८. ओवाइयं, सूत्र ६४ :–
इमे अट्ठट्ठट्ठ मंगलया पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया तं जहा सोवत्थिय-सिरिवच्छ–णंदियावत्त–वद्धमाणग–भद्दासण–कलस–मच्छ–दप्पणया ।

२९. षट्खंडागम, पुस्तक १३, पृ. २९७ :–
एदाणि संठाणाणि तिरिक्ख–मणुस्साण' णाहीए उवरिमभागे होंति, णो हेट्ठा; सुहसंठाणाणमधोभागेण सह विरोहादो ।

३०. वही, पुस्तक १३, पृ. २९८ :–
तिरिक्ख–मणुस्स-विहंग–णाणीणं णाहीए हेट्ठा सरडादि असुहसंठाणाणि होंति त्ति गुरूवदेसो, ण सुत्तमत्थि ।

३१. वही, १३, पृ. २९८ :–
विहंगणाणीणमोहिणाणे सम्मत्तादिफलेण समुप्पण्णे सरडादि असुहसंठाणाणि फिट्टिदूण णाहीएउवरि संखादिसुहसंठाणाणि होंति त्ति घेत्तव्व' ।
एवमोहिणाण–पच्छायद–विहंगणाणीणं वि सुहसंठाणाणि फिट्टिदूण' असुह-संठाणाणि होंति त्ति घेत्तव्व' ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

THE CONCEPT OF ĀTMAN IN THE BHAGAVATĪ (VIYĀH APANNATTI) SUTRA

DR. N. M. KANSARA,
Ahmedabad.

In about fifty or more occurences of the word '*ātman*' (Pkt. '*āyā*' or '*āttā*') in its various derivatives, the term has been generally used in the sense of 'I' or 'oneself'.[1] Of the grammatical forms, the following ones are utilised : '*āttāṇaṁ*' almost invariably occurs in the context of *Sāṁlehaṇā* (the vow of observing a fast) varying in duration from a period of half a month to six months.[2] '*appaṇā*' occurs about six or more times, with the same sense, e.g. "*appaṇā āhāraṁ āharttae*"[3], "*appaṇā bhuṁjāhi*"[4]. In one case, however, a slight shade of the sense of the individual soul lurks where the reference is to one's self as distinct from one's physical body, e.g. '*appaṇā ceva saeṇaṁ tayeṇaṁ anāiṭṭhe sāmaṇe aṁto sattarattassa vittajjara-parigaya-sarīre*".[5] In *appaṇo saṭṭhāṇe vattavvayā*"[6] or '*appaṇo maraṇaṁ ābhoei*"[7] the sense of 'oneself' is found, but, again, the sense of the individual soul seems to be slightly indicated in "*appaṇo ādiṭṭhe āyā, parassa ādiṭṭhe no ātā*"[8], etc. The form '*appāṇaṁ*', too, occurs generally in the same sense of 'oneself' e.g. "*appāṇaṁ parikilesaṁti*"[9] or "*Kaṭṭhasolliyaṁ piva appāṇaṁ karemāṇā viharaṁti*"[10], etc. But in other instances where the form occurs in the context of moving about with the mind absorbed in self-meditation, it indicates the sense of the 'Self', e.g. "*Saṁjameṇa tavasā appāṇaṁ bhāvemāṇā viharaṁti*':[11], etc. The form "*appāṇeṇa*' generally occurs in the sense of 'I' or 'oneself', but at times it does connote the 'Self' too, e.g. "*aypāṇeṇ uḍḍhaṁ vehāsaṁ uppaijjā*"[12] or "*bilam iva pannagabhūeṇaṁ appāṇeṇaṁ taṁ āhāraṁ sarīrakoṭṭhagaṁsi pakkhivai*"[13] etc. In the usages like *dravyātman*, *kaṣāyātman*, *yogātman*, *upayogātman*, *jñānātman*, *darśanātman*, *cāritrātman* and *vīryātman*, the term '*ātman*' (Pkt. '*āyā*') seems to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

refer to the individual soul when the moralistic duties ('*āyā śāmāie*') are referred to, when the moralistic and spiritual deeds work out in the soul ('*n' annattha āyāe pariṇāmenti'*), and especially when '*jīva*' and '*jīvāyā*' are explicitly equated with each other. The 'I' is more strongly stressed when the term '*āyā*' as such ('*daviyāyā*') as well as in its connection with passions, activity, cognition and other abstractions is quoted as '*kasāyāyā*', '*jogāyā*', '*nānāyā*', etc. and when all of them prove either to occur or not to occur simultaneously with the individual being. Cognition, non-cognition and belief, so it seems, permeate the personality and thus these definitions equal one another. Speech and inward-sense both mean something definitely different from the 'I', whereas this does not necessarily refer to the body, which may be explained by its constant external working. The submissions made in the *Viyāha-paṇṇatti-sutra* (VPS) are somewhat playful.

In contrast to the term '*āyā*' or '*āttā*', the VPS prefers to use the term '*jīva*' in the context of the individual soul or the Self. The topics discussed with regard to the '*jīva*' in the VPS, are : the heaviness and the lightness,[14] causes of long and short life,[15] contentions of others about the nature of '*jīva*',[16] the size,[17] whether active by themselves or due to others,[18] the knowledge about present *karma*,[19] whether endowed with power,[20] duration of knowledge,[21] types of knowledge,[22] *aura* or *karma* imprints,[23] types of *jīvas*,[24] types of '*ātmans*', i.e. conditions of the *jīvas*,[25] types transmigratory *jīvas*,[26] the number of bodies of the *jīvas*,[27] their sense-organs,[28] speeeh,[29] mind,[30] body,[31] location,[32] experience,[33] instruments[34] inward-sense,[35] faculty of practising,[36] their activity,[37] modifications,[38] passions,[39] feeling,[40] consciousness,[41] death,[42] transmigration,[43] birth,[44] condition in enbryo,[45] and their liberation.[46] Shri Gopalbhai J. Patel, Dr. Sikdar and Dr. Walther Schubring have studied all these references in their scholarly works and have presented their findings systematically under suitable sub-heads. Dr. Sikdar,[47] has discussed them under topics like the existence of the soul, plurality of soul, classification of soul, characteristics of a soul, and relation of a soul with speech, mind and body.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Shri Gopalbhai Patel has presented these references under the following heads,[48] *jīva*, knowledge possessed by various categories of *jīvas*, *pramāṇa*, classification of the *jīvas*, eight types of *ātmans*, fourteen types of transmigratory *jīvas*, five types of bodies, five senses, *jīva* in relation to speech, mind and body, *adhikaraṇa*, *Vedaka*, *Karaṇa*, *Saṁjñā*, *bhāvas*, *labdhi*, *yoga*. *kaśāya*, *vedanā*, *upayoga*, *jiva* and *leśyās*. *jīva* in relation to death, birth and liberation, *gati*, *yoni*, *jīva* in the condition of an embryo and other miscellaneous topics pertaining to *jīva*, viz., birth of a *nairayika*, whether *jīvas* are *Sādi-sānta*, whether *jīvas* increase or decrease in number, relation between *jīva* and *caitanya*, and *pradeśas* of a *jīva*, whether a *jīva* is *pudgala* or one possessed of *pudgala*, whether *jīva* is external or transitory, whether *ātman* is involved in the commitment of violence by a *jīva*, the manner of coagulation of *pudgalas*, what kinds of *jīvas* are liable to the bondage of *pāpa-karman*, the *jñānāvaraṇīya-karman*, whether *jīvas* are vibrating or non-vibrating, do all *jīva-dravyas* come within the range of the experience of *jīvas*, the duration of life in the transmigratory condition, whether the *nairāyṭkās* are born with or without *antara* (time-gap), and whether the *nairayikas* are born of their own accord or otherwise. Dr. Schubring has noticed,[49] that the soul as a bearer of life is called *jīva*, and since it is animate a living being is called *jiva* (besides *pāṇa*, *bhūya*, *satta*). Their total number remains constant for ever, it neither increases nor decreases. The spiritual function of *uvaoga* is the essence of the soul. Along with the *labdhi*, the faculty of practising, the *uvaoga* represents the sense considered as condition (*bhāvendriya*). Next to the sense-organs, the inward sense '*sannā*' is essential for spiritual imagination. It is without any organ. With animals and human beings *sannā* is connected with their coming into existence by procreation, with the Gods and the inhabitants of hell it is possessed by them in their pre-existence. Those who possess *sannā* are called *sanni* and so a *kevalin* is *no-sanni-no-asanni*, since he has come to be beyond *sannā*. The *karman* since time eternal, has been closely connected with the soul. The *karman* does not only effect the fate

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of the soul, but it equally supplies it with a conditional quality reflecting the moral level, and as such is called *lesā* or *lessā* (*leśyā*). They are represented by six colours : black (*kaṇha*), dark (*nīla*), grey (*kāu*), yellow (*teu*), pink (*pamha*) and white (*sukka*), each of them being determined by a number of comparisons which, however, are said not to reach up to "reality". Together with the infinite variety of actions it is also its resplendence that changes continually, just as the soul is accompanied, the beginning of its new existence, by the only *lessā* that it had in its hour of death. But it is in the nature of the grades and classes of the beings that their behaviour is limited, and correspondingly, their *lessā* moves within certain ranges, so that beings of hell, fire, wind and lower animal-world will not reach beyond the third (grey) *lessā*, and all the remaining one-sensed beings not beyond the fourth (yellow). Even female gods do not reach farther, whereas their male partners have all the six and those of the higher standing have only the last three. All humans and five-sensed animals are capable of all the *lessās*. Though the *kevalin*, during his stay on earth (*sajogi kevali*) still has the white *lessā*, the *siddha* has no longer any of it. The individual soul has as many *paesas* as has the space of the world. One individual soul occupies the room of $1/n$ (*aṇu* or even more) of such quantities as are presumed by the part of that or the size acquired through *karman*. So (substantially) the soul of an elephant equals that of a louse, as is explained by the simile of the lamp whose light, as the case may be, will illuminate a large or a small hollow room. The *paesas* (units) stand for different densities within the same number of units i.e. in different bodies. The units of matter differ in number from zero to infinity. The lower limit is the smallest unit of matter, the atom.

The details discussed under these topics would easily lead one to think that all the characteristics of the *jiva* as determined and discussed by Lord Mahāvīra refer to the soul as manifested at the astral and causal levels, rather than to that of the speculative nature of the pure Self, as determined on the basis of logic serving as a means of revealed knowledge (*śruti*). It pertains to the soul

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

as perceived at astral levels, rather than to the Self as bereft of the astral and causal bodies.

Modern physics has found out to very important facts :[50] (i) the mind of the experimenter can in some cases influence matter; and (ii) matter–energy can neither be created nor destroyed. All matter is energy and as energy can be changed or modified, the 'matter' is merely energy at different levels of "existence". For all practical purposes scince is now telling us that matter cannot be destroyed. It can only be changed from one form to another form, that is, from one vibrational frequency to another one. Little is known about the subtle energies involved in thoughts, emotions, the human aura and the soul. There is now a sufficient accummulation of research–data to show that the energies which make up an individual person's thoughts, emotions, personality, memory banks and soul continue in existence after death and decay of the physical body.

The experiences of many saints, sages, seers, prophets and mystics over the ages, and the experiences and reports of certain enlightened persons who in last hundred years have reached levels of cosmic consciousness, and the research currently under way in several countries, have revealed that there are seven levels of consciousness and correspondingly seven 'bodies' or layers or worlds in which life subsists at different times. These bodies or worlds are known as follows[51] : (i) The Earth or Physical Plane serves as the substratum of physical bodies along with the etheric on astral bodies. (ii) Lowest Astral Plane is a dark, dismal, dangerous and often frightening world and it serves as a habitat of greedy, self-centered, unloving resentful persons who often have fierce desires and lusts associated with physical bodies. It is also an abode of the less desirable "creatures" of non-human lines of evolutions. This level is traditionally referred to as hell, hades or or purgatory. It is the human and non-human astral bodies from this plane which attract themselves by way of obsession to the magnetic auras or astral bodies of persons living on the earth–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

plane. (iii) Intermediate Astral Plane is the level at which the person "awakens" minutes or days or months or years after departing from the physical body. The body is still material but of finer substances at a higher vibratory rate. Its appearance accommodates each individual's personal form, usually the prime, of life. (iv) Highest Astral Plane is the level, usually known as heaven, where there is no pain or suffering. This is the plane where eventually the soul has to decide whether to return to the earth-plane for more experience or to accept the second death. In case he chooses the latter, the mind and the soul may shade its astral body or containment vehicle and be re-born on to that Causal or Mental Level for which it has been qualified. When re-born, the soul will function in its mental and causal body. (v) Mental and (vi) Causal Plane, offer access to all of the accumulated wisdom of the ages on the earth-plane and throughout other parts of 'our solar system'. This is the final opportunity to choose to return to the earth-plane or the final re-birth onto the celestial planes. (vii) In Celestial Planes the nature of consciousness is galactical, universal and cosmic, largely beyond the comprehension of those living on the Planet-earth. The celestial planes are the location of the Christian God, of *Buddha*, of Jaina *Tirthaṅkaras* called or *Hiraṇyagarbha*.

Most of these levels are ever surrounding, and interpenetrating us. Our bodies, and all the material in the universe are more than 99% empty space, and we live in two worlds at the same time. We are functioning not only on the Earth-plane but also in a very lowest and densest portion of the Astral plane. When the physical body dies and the etheric body disintegrates we do not really have to go on a "far journey". We will be automatically on vibrational level that we deserve to be on, based on the quality of life we have loved while in the physical body. This is the glimpse of the sublime vistas and grandeur of the overall scheme of life which God has created for all of humanity, regardless of race, caste, sex or religion. The blueprint strips away most of the controversial dogmas and creeds which separate the world's religions;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

it does not discredit the central spiritual teachings of the major religious systems.

In the light of these findings of the modern science, we realise that the teachings of Lord Mahāvīra as preserved in the Āgama texts like the VPS, should not differ from those of the Upaniṣadic texts or the Vedānta-sūtras which attempt to merely systematise the Upaniṣadic teachings. And when we look for the resemblances, we do find that both distinguish between the liberated and the transmigratory soul, both posit the state of liberation as one beyond the pale of the wheel of transmigration, both describe the state, of heaven and hell for souls after their death, both teach that the soul is accompanied by his astral body and impressions of *karmā* when it departs from the physical body, that although the soul is very subtle (*aṇu*) it is capable of assuming a very big size to accomodate the physical body it is consigned to, both put forth the metaphor of a lamp the light of which reaches all the corners of the room in which it is placed, both propound the desirability of doing good to others and avoiding harm to them, both associate moral values with spiritual advancement and both prefer to teach in terms, and from the levels, easily understandable and approachable by persons with average common sense, rather than high intellectual calibre. It is only at the time of answering the probing questions pertaining to the nature of the soul in general and differentiating it from that of the Pure Self in particular by intellectually sharp and emotionally advanced sages that the difference on the higher levels is elucidated, in the Upaniṣads.

Lord Mahāvīra, on his part, seems to have maintained a highly practical attitude of focusing his attention only on the first four planes, where the soul is never seperated from its astral vehicle and he has to this end discouraged any tendency on the part of his disciples to distinguish between the Pure Self from the Soul. He has dubbed such a tendency as useless (*micchā*) and false, in view of the fact that it would encourage intelectual quibbling and bread laxity in moral outlook, as in the case of the Ājīvikas,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

which would uitimately weaken the most essential willpower of the aspirants for spiritual life. This was inevitable, since Lord Mahāvīra stood for a highly strict and severely disciplined moral life as the only adequate means for liberation from the wheel of transmigration. It is only as an expedient of encouragement for weaker souls already entangled in the worldly life that he has provided for the compromise formulae of twelve-fold way of the life of a householder, wherein, too, the ideal constantly kept in the forefront is that of an ascetic (*samaṇa*), a houseless one. The Upaniṣadic teachings, too clearly lay down that the eligibility for the path of liberation, called by them as '*devayāna*', call for a life of solitude, penance and faith, demanding total extinction of the desire for wealth or possessions, for progency or continuance of tradition and lineage, and for fame or indulgence to one's ego. In view of these broad fundamental facts of life, there is hardly any worthwhile differrence in the teachings of both these traditions of Indian spirituality. Whatever difference we come across in the later texts is more of the nature of intellectual hair-splitting rather than of any new discovery in the field.

REFERENCES

1. Cf. *Viyāhāpaṇṇattisuttam*, Parts I-III. Ed. Pt. Bechardas Jivaraj Doshi. Publ. Shri Mahavira Jaina Vidyalaya, Bombay, 1974-82.
2. VPS., pp. 479.20; 494.17.
3. Ibid.. p. 144.18.
4. Ibid., p. 361.16.
5. Ibid., p. 718.15.
6. Ibid., p. 948.16.
7. Ibid., p. 725.11,
8. Ibid., p. 610.18.
9. Ibid., p. 14.13.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. Ibid., p. 517.2.
11. Ibid., p. 101.11.
12. Ibid., p, 163.17.
13. Ibid., p. 731.15.
14. Ibid., I. ix. 1–3.
15. Ibid., V. vi. 1–4.
16. Ibid., XVII. ii. 17.
17. Ibid., VII. viii.
18. Ibid., I. i.
19. Op. cit.
20. Śrī–vyākhyā-prajñaptiḥ with Vṛtti of Abhayadevasūri. Publ. Jaina Sevatambara Samstha, Ratanpur (Malwa), 1937.
21. Ibid., I. i.
22. Ibid., VIII. ii.
23. Ibid., IX, xxxi.
24. Ibid., VII. iv.
25. Ibid., XII. x.
26. Ibid., XXV. i.
27. Ibid , X. i.; XVI. i; XVII. i.
28. Ibid., II. iv,
29. Ibid., XIII. vii.
30. Op. cit.
31. Op. cit.
32. VPS., XVI. i.
33. Ibid., VI. iii.
34. Ibid., VI. i.
35. Ibid., VII. viii.
36. Ibid., VIII. ii.
37. Ibid,, XXV. i.
38. Ibid., XVII. i; XVIII. i.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

39. Ibid., XVIII. iv.
40. Ibid., X. ii.
41. Ibid., XVI. vii.
42. Ibid., XIII. vii.
43. Ibid., I. vii.
44. Ibid., X. ii.
45. Ibid., I. vii.
46. Ibid., I. iv; VII. i,
47. Studies in the Bhagavatīsūtra, by Dr. Jogendra Chandra Sikdar. Publ. Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Muzaffarpur (Bihar), 1964.
48. Srī-Bhagavatī-Sāra (Guj.). Publ, Shri Jaina Sahitya Prakashan Samiti, Ahmedabad, 1938.
49. The Doctrine of the Jainas by Walther Schubring (Eng. Trans. by Wolfgang), Publ. Motilai Banarasidas, Delhi, 1978.
50. The Projection of the Astral Body, by Sylvan J. Muldoon and Hereward Carrington. Publ, Rider & Company, London, 1974.
51. After We Die. What Then? by George W. Meek. Publ, Metascience Corporation, Publication Division, Franklin. 1980.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ALLEGORY IN ENGLISH LITERATURE AND THE NĀYĀDHAMMA KAHĀO

V. M. DOSHI, Ahmedabad.

The origin of allegory should be traced back to philosophy and theology rather than literature. Most probably it lies in religion. From the beginning allegory has been closely associated with story.

We can distinguish between two kinds of stories: those which are essentially literal and those which are essentially symbolic and cannot be comprehended unless we understand their symbols. A literal story may have symbols in it but we can understand it without their presence because the story's meaning and effect will depend primarily on its development of a situation. But in some stories symbol is the primary method of communication, and without a translation of its symbols, the story will be meaningless.

Stories that operate primarily on a symbolic level can further be classified into allegorical and symbolic categories. The distinction between these two is that symbolism always means what it says and also something else while allegory primarily means something else. We can say that allegory begins with an idea and the author then creates an object (frequently a character) that stands for that idea. A story like the Pilgrim's Progress where Vanity Fair is chosen simply to represent an abstract idea, not to be taken on a literal level as an actual place, is an allegory.

An allegory is a coherent structure in which all the elements are carefully integrated in a pattern of thought, and the effectiveness of an allegorical scheme depends upon the systematizing process. The symbolist moves from the actual to the unseen and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

intangible while the allegorist attempts to comprehend immaterial ideas by giving them recognizable form. As Prof. Humphry House says, all allegory involves symbolism, and in proportion as symbolism becomes developed and coherent, it tends towards allegory.

All western and many eastern religions have found their most perfect expression in myth—a story or a series of stories which serve to explain those universal facts, which most intimatelly affect the believer, such as seasons, crops, birth, marriage, death, moral laws etc.

The myths are passed on orally or in ritual and eventually sometimes by way of the written word. Often they are mysteries the interpretation of which is revealed only to a fraternity of monks or to a larger body of initiates. There are stages of monkhood and full enlightenment is reserved for those who reach the highest level. Yet the myth could not have come into existence without some interpretation and we can reasonably assume that from prehistoric times onwards myth and interpretation went hand in hand.

In some parables of the Bible e.g. the Good Samaritans and the Prodigal Son, the story is allegorical. Among many other examples is the interpretation which allegorizes the Song of Solomon in terms of the mutual love of Christ and the Church. Solomon is a type of Christ and the Queen of Sheba represents the Church.

John, who at the end of the first century A.D. wrote Revealations deals allegorically with events of the period, in particular the persecution of christians by the Roman emperors Nego (54–68 A.D.) and Domitian (81–96 A.D.), and with the expectation of the return of Christ to earth in judgement. Structurally this book makes uses of numerical style of allegory.

In books on the New Testament one finds traces of the opinion that the history of the world was to occupy six ages, corresponding

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

to the six days of creation out of the seven days of the first week followed by the Sabbath of external rest. It is interesting to compare this Christian belief of six ages with the Jain conception of six *ārās*, spokes of the wheel of time.

John uses the number seven as a symbol for completeness or wholeness. Seven days makes a week. The seven days of the week are connected with the seven planets readily visible to the naked eye.

Twenty four is the most conspicuous number in the description of the heavenly throne and its setting which forms chapter IV. Twenty four elders are seated about the throne. The Jain conception of 24 *Tirthaṇkaras* is by far the older. This tradition of numerical allegory continued through the middle ages into the Renaissance, and is particularly well examplified in the poetry of Edmund Spenser (1552–99).

Allegory and satire are in fact intimately connected. Allegory is general and satire is particular. The generalities of allegory acquire power over the moral sense and the imagination by way of their relevance to the particular, and the particularities of satire equally acquire more than passing relevance when they are seen in terms of a system of moral ideas which are generally acceptable.

The description of Vanity Fair, for example, in the Pilgrim's Progress obviously and powerfully appeals to the satiric imagination of Thackeray. The basic structure of Gulliver's Travels is allegorical; the island of pigmies, the island of giants, the flying island and the island of rational horses are all allegories of aspects of the human condition which might perfectly well have found their way into an avowedly allegorical medieval or renaissance narrative.

Satire criticizes social, political or religious life with a view to reforming it while allegory aims at moral or religious edification.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Unlike symbolism which is a mode of thought, allegory is a mode of expression. It belongs to the form of literature more than to its content and it is learnt from the practice of the ancients.

In many of Blake's poems allegory and satire are present together :-

I wander thro' each charter'd street,
Near where the charter'd Thames does flow
And mark in every face I meet
Marks of weakness, marks of woe.

"London" here is both the allegory of a state of mind and an actual city whose way of life totally offended Blake's religious principle.

The thematic content of allegory with detailed richness of stylized point of view of good satire expressed in story-form produces potential literature. The Pilgrim's Progress, the Life and Death of Mr. Badman, and Gulliver's Travels, for example, mark important stages in the development of the English novel. The methods used by Bunyan and Swift and taken up by Fielding in Tom Jones and later by Jane Austen in the novels—Pride and Prejudice, Sense and Sensibility, Persuasion etc. recall the allegorical interludes of the sixteenth century. It is noticeable that the American novel as exemplified by the work of Hawthrone and Melville, retained and developed this allegorical structure. The structure of the morlity play, with its frequent satiric and realistic overtones and the general allegorical ambience of so many of the plays of Marlowe, Shakespeare and Jonson, is perhaps the greatest single contribution of allegory to the literature of England.

In Jain literature the tradition of allegory is as old as the *Āgamas*. The *Nāyādhammakahāo*, which is the most readable of all the Jain canonical works, is a collection of stories with various illustrations and tales tinged with religious sermonizing. Most of the tales lay more stress on some parable incorporated in them

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

than on the tale itself. Some of the tales are only parables spun out and enlarged to form narratives. Here we find the narrator endeavouring to make his meaning comprehensible to his listeners. He condescends very low to the level of their intelligence and draws on incidents familiar to them. The chief interest of these stories is, therefore, allegorical,

The allegorical story in Jain literature stands out as a distinct category and its special feature is that the story is followed by explication of its symbols.

The story of merchant Dhanya and robber Vijay of Rajgriha is a powerful allegory on the conduct of monks.

Once Dhanya was sentenced to imprisonment for committing a minor crime. He and robber Vijay, the murderer of the former's own son, Devdatta, were fettered together. This pious merchant shared with that robber in the jail, his food packets sent to him daily by his wife Bhadrā.

Here merchant Dhanya stands for a monk. Robber Vijay stands for human body which must be given food as long as the soul is in the body. The restraint that brings the greatest happiness is comparable to the merchant's son. The right knowledge, the right faith and the right conduct are ornaments. The world is like the old garden in the story. Without being tempted by sense-organs, the monk should give necessary food to the body only to maintain it in order to practise religious vows.

The illustration of the two eggs of a peahen confirms that a monk must not entertain any doubt about the efficacy of self-restraint. The son of Sāgaradatta who doubted whether a babe will come out of the egg symbolizes the monks and nuns who doubt whether the fivefold restraint will bring its reward. They get drowned into the ocean of *saṁsāra*. The son of Jinadatta symbolizes the monks and nuns who keep the five great vows with full faith in them. They ultimately attain liberation. The name of Sāgardatta and Jinadatta are also suggestive. The story presents potential allegory.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In the story of the two turtles and a jackal the first turtle who exposed itself to the danger of the jackal and was killed by it, symbolizes the monks and nuns who expose themselves to the danger of attachment and aversion, rāga and dveṣa and suffer miseries in the cycle of rebirths. Another turtle who remained unhurt in the shell and went to its abode in the water, symbolizes the monks and nuns who conceal their sense-organs in the shield of restraint, remain unhurt by attachment and aversion and attain liberation. Allegorically this story brings home to us the efficacy of the five great vows of monks and nuns and the five small vows of laymen and laywomen.

The story of five rice-grains is an interesting parable spun out and enlarged to form a story.

A rich merchant has four daughters-in-law : Ujjhitā (one who throws away). Bhogavatī (one who eats), Rakshikā (one who preserves) and Rohiṇī (one who grows something). He gives each of them five grains of rice with orders to preserve them. Ujjhitā throws the grains away and thinks to herself. "There are plenty of rice-grains in the larder. I shall give him others instead". Bhogavatī thinks in the same way and eats the grains. Rakshikā preserves them in her jewel-casket. But Rohiṇī plants the grains and reaps, she again sows the grains and reaps again until at the end of five years she has accumulated a large store of rice. The rich merchant returns from his journey and punishes Ujjhitā and Bhogavatī by assigning to them the meanest tasks in the household and he entrusts Rakshikā with the guarding of the entire property but he gives the entire management of the large household into the hands of Rohiṇī. These four women whose names are also symbolic stand for four types of monks.

Those monks and nuns who do not keep the five great vows degrade themselves and are hated by the *Saṅgha*. Those monks and nuns who keep the five great vows only with a view to filling their begging bowl and remain attached to food etc. disqualify themselves from attaining liberation and earn miseries for succeeding births. Those monks and nuns who keep the five great vows carefully live a worthy ascetic life. They are revered and are worshipped by

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the *Saṅgha*. Those monks and nuns who are not content with pretty well keeping the five great vows, propogate the vows and they alone attain liberation.

This story belongs to the category of international literature. E. Leumann has pointed out a corresponding story in Matthew (25.14-30) and Luke (19.12-27) of the New Testament. Gustav Roth traces its origin in Hebrew Gospel which is of greater antiquity than Matthew and Luke. In the present story one finds a few words of praise for women. This shows the narrator's broad democratic outlook.

The interesting story of Malli, the nineteenth *Tīrthaṅkara*, is a very obvious and striking allegory. Princess Malli of wondrous and incomparable beauty compared her body to the gold statue in the 'puzzling house' that she had got constructed in order to bring home to the six wooing princes the frailty of human body. The 'puzzling house' represents the world of temptations. The fair-looking, filthy and perishable human body is compared to the gold statue which is stenchent and loathsome inside.

The most important story of the *Nāyādhammakahāo* is the story of Avarakaṁkā. We are told that in her previous birth Draupadī (Dovai) was the daughter of a merchant of Campā and her name was Sukumārikā. Once she saw a prostitute enjoying the company of five young men at a Bohemian club of the city called Lalitā. Sukumārikā thereupon made a *nidāna* (claiming reward of penance in the next birth) to marry five husbands in her next life and accordingly she was born as Draupadī who as a result of her nidāna married five Pāṇḍavas. The story is spun round the concept of transmigration of soul which is a favourite theme in Jain legends.

'Āinna' (The Noble Horse) is mariner's fairy tale describing the fate of the winged horses as determined by their susceptibility to sense-organs. Those who are conquered by the sense-organ of hearing and tempted by sweet voice are like the partridge caught in the net. They who are subdued by the sense-organ of smelling and are tempted by various sweet smells are like a snake from a hole who gets caught up to become miserable. They who are

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

subjugated by the sense-organ of taste and are tempted by various tastes are like the fish that is taken out of water in a net and dies panting for breath. Those who do not control the sense-organ of touch and are tempted to various objects are like the elephant that is pierced by the hook and become survile and experience great pain.

Rather than put cotton pellets into the ears in order to prevent pleasant or unpleasant voice from entering the ears, the monk should try to cultivate equanimity.

Rather than blame the eyes for seeing pleasant or unpleasant sights the monks should cultivate equanimity.

Rather than show a like or dislike for a good or bad smell coming to the nose the monk should try to cultivate equnnimity.

Rather than show a like or dislike for things that taste sweet or sour, the monk should try to cultivate equanimity.

Rather than be glad or sad when he has a feel of soft or hard objects, the monk should try to cultivate equanimity.

The fairy tale of mariner teaches us to try to cultivate control over sense-organs and become equanimous.

Thus the stories of the *Nāyādhammakahāo* are potentially allegorical.

Since Jains were always in search of interesting stories from whatever source they came and incorporated them in their compositions, the post-canonical Jain narrative literature is voluminous and of varied interest. And allegory, which is an important device of the narrative art, is a wide-spread tradition.

The parable of 'Man in the Well' which has gained great fame and significance in universal literature is a genuine Indian production of ascetic poetry that corresponds with Jain view of life. It deserves to be quoted here.

A Brahmin loses his way in a dense forest full of beasts of prey. In great terror he runs here and there looking in vain for a way out. Then he sees that the terrible forest is surrounded on all sides by traps and is embraced by both arms of a dreadful looking woman. Great and terrible five-headed dragons, which reach up like, rocks to the sky, surround this great forest. And in the middle of this forest, covered by underwood and creeping plants there is a well. The Brahmin falls into it and is caught on

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the interwined branches of a creeper, "As the great fruit of a bread-fruit tree, held by its stalk, hangs down, so he hung there, feet upwards, head downwards. And yet another even greater danger threatens him there. In the middle of the well he perceived a great, mighly dragon, and at the edge of the lid of the well he saw a black, six-mouthed and twelve-footed giant elephant slowly approaching. In the branches of the tree which covered the well, swarmed all kinds of dreadful-looking bees, preparing honey. The honey drips down and is greedily drunk by the man hanging in the well. For he was not weary of existence, and did not give up hope of life, though white and black mice gnawed the tree on which he hung.

The forest is the *saṁsāra*, the beast of prey are the diseases, the hideous giantess is old age, the well is the body of beings, the dragon at the bottom of the well is time, the creepers in which the man is caught are the hope of life, the six-mouthed and twelve-footed elephant is the year with six seasons and twelve months. the mice are the days and nights, and the drops of honey are sensual happiness.

Though this parable corresponds with the Jain view of life it was probably the Buddhistic versions of the parable which paved the way for it to the West. This story also appears in the fifth chapter of the *Strīparva* of the *Mahābhārata*. Ernst Kuhn has traced throughout all the literatures of the world the "circulation of this truly non-sectarian parable which has served for the edification of Brāhmaṇas. Jainas, Buddhists Mohammedans, Christians and Jews."

'*Dhūrtākhyāna*' the well known satire written by Haribhadra, one of the most distinguished and prolific Jain writers, ridicules the stories of the Hindu epics and *Purāṇas*.

Siddharṣi's 'Upamitibhavaprapañcakathā' is the first elaborate and extensive allegory in Indian literature, followed two centuries later by Kṛṣṇa Misra's great allegory, 'Prabodhacandrodaya.'

Somaprabha, the younger contemporary of Hemchandra, wrote Jīva-manaḥ-karaṇa-santāpa-kathā (The story of conversation between Soul, Mind, and Senses) which is an elaborately worked out allegory of 105 stanzas.

The vast ocean of Jain literature has a rich treasure of precious gems of allegory which we can be legitimately proud of.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

THE DREADFUL DETERRENTS TO THE JAIN UPĀSAKAS IN THE UVĀSAGADASĀO

Dr. D. G. Vedia, Ahmedabed.

The Uvāsagadasāo is the seventh Aṅga among the eleven Aṅgas. the sacred books of the Śvetāmbara Jains, the sacred books of Mahāvīra himself and his direct disciples, the Gaṇadharas. They have passed through three editions at councils held at (1) Pāṭaliputra (about 307 B. C.), (2) Mathurā and Valabhī (about 360 A.D. or 373 A.D.) and (3) Valabhī (about 513 or 526 A.D.). Thus the last edition belongs to the first quarter of the 6th century A.D., In the last edition Devarddhigaṇi compiled a canon of sacred writings partly with the help of old manuscripts and partly on the basis of oral tradition as Winternitz opines.[1]

Uvāsagadasāo literally means the ten chapters on the religious duties of persons who have become followers of Mahāvīra without, however, renouncing the world and accepting the monastic vows and who remain as ordinary members of tha society. It contains ten stories of pious Jain householders. Most of them are wealthy merchants. They adopt certain vows and rules of conduct laid down by Mahāvīra,

The rules and vows which a Jain monk has to observe ar set forth in the first Aṅga, the Ācāraṅga Sutta. The first chapter of the Uvāsagadasāo gives in detail a list of the vows and obser vances. Mahāvīra's disciple Ānanda, and his wife Śivānandā, adopted the vows and observances in the presence of Mahāvīra. Ānanda acquired the miraculous knowledge of Avadhiñjāna. Finally he dies a voluntary death by starvation like a genuine Jain saint and is reborn as god in heaven. Ānanda is not disturbed by dreadful deterrents during his austerity.

Various kinds of temptations arising from external persecutions, which threaten to prevent pious house-holders from faithful obser-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

vance of the vows are described in the succeeding chapters i.e. two to five.

In the second chapter a certain god appeared before Kāmadeva at midnight. God assumed the form of a goblin,[2] and threatened Kāmadeva who showed no fear, dread, alarm, agitation, emotion or perturbation, but remained silent and kept himself engaged in the meditation. The god often tried to frighten by assuming the form of a huge celestial elephant. a deadly venomous cobra and a huge celestial god. But all the efforts of a celestial god were in vain.[3]

In the third chapter, Culaṇīpiyā was exposed to the temptation of giving up the observance of the vows to save the relatives.[4] Culaṇīpiyā, through lofty ascetic exercises, was reborn as a god,

In the fourth chapter Surādeva was victimized through similar temptations to preserve his health and wealth by breaking up the vows by a certain god. But he engaged himself in the meditation on religion.

In the fifth chapter a certain god who brandishing a large sword threatens Cullasayaga to slay his eldest son as a god does in the previous stories. His entire property was put in danger of being lost.[6] Lastly like Surādeva and Culaṇipiyā, Cullasayaga succeeded in duly observing the vows they had undertaken to perform. After death he reached the different heavens and he was destined to be liberated in due course.

All these stories of Kāmadeva, Culaṇīpiyā, Surādeva and Cullasayaga closely resemble. The role of the god is narrated in the same manner.

In the sixth chapter Kuṇḍakoliya accepts the vows of a householder. A certain god appears, snatches away from the masonry platform the seal inscribed with his name and his upper garment and mounts up with them into mid-air under the sound of little bells. The god appreciates the doctrine of Gosāla Maṅkhaliputta and condemns the doctrine of Mahāvīra. After exchange of some arguments the god being defeated places the seal inscribed with

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

his name and his upper garment on the masonry platform and disappears.[7] Thus in this story Kuṇḍakoliya refuted the theories of heterodox people by means of thesis, arguments, questions, proofs and explanations based on the sacred collection of the twelve Aṅgas. Like a true ascetic he was reborn as a god.

In the seventh chapter Saddālaputta, a disciple of the Ājīvika conducted himself according to the dictates of the Ājīvika tenets. A certain god appeared before him in mid-air when he was living a life according to the law received in the presence of Maṅkhaliputta. The god spoke to him to receive the person coming next day. Next day Mahāvīra went there. Mahāvīra preached him twelve fold law of a householder which consists of the five lesser vows and the seven discriplinary vows,[8] when he was fully couvinced Gosāla Maṅkhaliputta failed in his efforts to prevent transgressing of Saddālaputta from his doctrine to the doctrine of Mahāvīra. Saddālaputta sanctified himself by practising the vows and observances for fourteen years. During the fifteenth year at one mid-night there appeared a certain god, brandishing a large sword of dark blue lustre,[9] slew his sons and he spattered his body with flesh and blood, even though Saddālaputta remained engaged in meditation of the religion. Everything happens as in the case of Cullaṇīpiyā. Lastly he is reborn as a god.[10]

In the eighth chapter Mahāsayaga is not disturbed by any god. But his wife Revai comes in the way. She deprived her twelve co-wives of their life either by weapon or by poison. Being, mad after meat, juices, liquor and spirits of various kinds together with many kinds of food consisting of roasted or fried or baked meat, she tried to often excite Mahāsayaga in a state of intoxication with the passion of love. Once he grew furious and applied his supernatural power. Consequently she was reborn as a hell-being. Lord Mahāvīra conveyed a message to him through Goyama to confess the sins and santify himself by many exercises in the moral restraints. He observed austerities for twenty years and was reborn as a god after death.[11]

In the remaining two chapters the stories of Nandiṇīpiya and Sālihīpiya and narrated. There we do not come across the interruption by any god or a wife.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Thus we can see that Kāmadeva, Cullaṇipiya, Surādeva, Cullasayaga and Kuṇḍakoliya were disturbed by a certain god in the same manner. In the case of Saddālapūtta nature of interruption differs. The god tempts him to adopt the doctrine of Gosāla Maṅkhali for the first time and behaves in the same manner as in the case of Kāmadeva, Cullaṇipiya etc. for the second time.

Here the nature and behaviour of the god does not seem to be divine one. Amarakoṣa enumerates the supernatural elements,[12] among which Yakṣa and Guhyaka seem to be supernatural elements referred to herewith. In the Bhagwatī Suūtra,[13] Puṇṇabhadda and Maṇibhadda are called powerful and they appear together to those who practice certain austerities. Mahavaṁsa[14] enumerates the names of Puṇṇabhadda, Maṇibhadda, Śālibhadda, Sumandabhadda, Cakṣurākṣa, Purṅarākṣa, Savvana, Savvajaśa, Savakāma, Samiddha, Amona and Asaṁta. All these names of Yakṣas are auspicious, implying fullness, increase, prosperity etc. Yakṣas are often called Devas in the Jain books, as Śāsana Devatās. They are usually guardian angels. The Devas who persecute the followers of Mahāvīra should be regarded as Yakṣas. They appear in an Asoga (As'ka) grove and take possession of objects laid on an altar. The shape-shifting is one of the characteristics of Yakṣas. Piśācas (Prākṛta-Piśāya) is also said to be a form of Deva. It may be the Yakṣas like the more orthodox Brahmanical deities of Śānta and Ugra form. Here in Uvāsagadasāo the false and lying Devas possess the objectionable qualities.

In the commentāry Rāmāśramī on Amarakoṣa the word Yakṣa is derived from the root Yaj to worship.[15] Medinī takes the word Yakṣa as a synonym of Guhyaka.[16] The commentāry by Rāmāśramī further derives the word Yakṣa from I (e) and 'Akṣa'[17]. The word Guhyaka is derived from 'Guh'[18], or Guhya and Ka.[19] The word Bhūta is also understood to be synonym of Yakṣa. The word Bhūta is derived from the root Bhū.[20] Malevolent nature of some Yakṣas is the same as that of Piśāca[21].

In the earlier Vedic books the root Yaj is used much. The word Yakṣa is first time found in the Jaiminīya Brāhamaṇa,[22] and Kenopaniṣad.[23] It does contain the sense of a wonderous thing.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

It does not appear in the sense of spirit or genius. During the period of Gṛhyasūtra Yakṣas are invoked together with a numerous and various deities classed a Bhūtas i.e. beings.[24] Śiva is known as Bhūteśvara. Yakṣas are often called Bhūtas.[25]

The word Yakṣa occurs in the Sanskrit, Pali, Prakrit and Simhalese languages. Sanskrit : Yakṣa, (f) Yakṣiṇī; Pali : Yakkha, (f) Yakkhiṇī; Prakrit : Jakkha, (f) Jakkhiṇī; Simhalese : Yaka, (f) Yakī.

The word 'Yakṣa' is perhaps indigenous and of non-Aryan otigin. Rāmāyaṇa proposes an explanation which looks like mere folk etymology : Brahmā created beings to guard the waters and some of these soon cried 'Rakṣāmaḥ'– 'Let us guard' and others said Yakṣāmaḥ 'let ue gobble'. Thus the former became Rākṣasas and the later Yakṣas. The idea seems to be derived from the big belly which is the most constant feature of the Yakṣa iconography.

There is some confusion of Yakṣas and Rākṣasas, who according to one tradition have a common origin. Both have good and evil qualities, benevolent and malevolent as the case may be. Very often the same description can be appliad to the both. Even though. these two classes are quite different. Yakṣas are associated with Kubera, while the others are associated with Rāvaṇa. Yakṣas are kind, while the others are blood-thirsty.

In the Śatapatha Brāhmaṇa Kubera is said to be Rākṣasa and Lord of robbers and evil-doers. But in the later literature he is Lord of the Yakṣas. Kālidāsa knows him as the Lord of Yakṣas in the Meghadūtam.

The Rāmāyaṇa uses Yakṣatva in the sense of 'spirithood'[26]. The Mahābhārata knows Yakṣas and Rakṣasas as the deities of Rājasika or passionate people.[27] Thus Yakṣas are known here below the class of Devas and above that of goblins and ghosts. The word 'Yakka-bhūta' in the Mahavaṁsa shows the malevolent nature of some Yakṣas. The god of Uvāsagadasāo seems to be of this type. Benevolent-natured Yakṣas are specially grouped

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

with Nāgas, gods, Gandharvas etc. Kubera, Gaṇeṣa, Maṇibhadda etc. are of this type. The good-natured Yakṣas are later on described as the attendants of gods like Gūha on Kātrikeya,[28] supporter of friendly service, gate-keeper and world-protector. But Yakṣas of malevolent nature used to disturb the penance of ascetics and moral behaviour of good people. as happens in the case of Kāmadeva, Cūlaṇīpiya, Surādeva and Cullasayaga in the Uvāsagadasāo. Such Yakṣas are Yakṣagrahas i.e. a kind of demons who take possession of others and cause diseases.

Benevolent Yakṣas are regarded as tutelary deities. They are worshipped as Sylvan deities,[29] as well as family deities. In the Siddhārtha's family Yakṣa was known as Śākyavardhana. Such Yakṣa is a tutelary deity to whom tne children were presented.[30] It is interesting to note that the Brahmins used to worship such a tutelary deity as Yakṣa alongwith a family deities such as Kuladevī, Śiva, Gaṇeśa etc.[31] Such deities protect a devotee from malevolent spirits,

The abode of a Yakṣa is often represented as Caitya Pali : Cetiya; Prakrit : Ceiya, or Āyatana (Prakrit : Āyayana), which may be outside a city in a grove, on a mountain or ghāṭa. The word 'Caitya' sometimes means no more than a sacred tree or a tree with an altar. Such are designated as Caitya-vṛkṣas.[32] Kālidāsa also refers to such 'Grāmacaityas'[33]. Such holy trees should not be injured as they are the abodes of Devas, Yakṣas, Rākṣasas etc. Buddha is often said to be halting or resting at such abode of Yakṣa. Bodhi-tree of Gautama is also known as Yakṣabhavana. Māra who disturbed Siddhārtha Gautama was that malevolent Yakṣa, while Śākyavardhana, his family Yakṣa is benevotent by nature.

In Uvāsagadasāo we find Mahāvīra in such Caitya, as Hoernle assumes that the Caitya must have been sacred to the previous Jina Pārśvanātha, but that may be a Jakkha shrine and not a Jain temple, as no Jain Pūjā cult was established in the time of Mahāvīra.

Sāla, Āmra, Plakṣa, Aśoka, Aśvattha, Vaṭa etc.[34] are said to be the abodes of Yakṣas in the Buddhist and Puranic literature.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Generally flowers are offered to the Yakṣas as they are called Sumanasas.[35] Milk is also offered to them. Meat and spirituous liquor are liked by generally malevolent Yakṣas and Rākṣasas.[36] In the Meghadūta benevolent Yakṣas also used to drink wine produced from Kalpavṛkṣas.[37]

Fergusson opines that "Tree and serpent worship i.e. the worship of Yakṣas and Nāgas, powers of fertility and rainfall was primitive faith of the aborginal castless Dasyus who inhabited northern India before the advent of the Āryans.'[38] This prediction took the shape of a cult with the cause of time. During three centuries before Christ we find a worship of one deity under various aspects. even of Yakṣas and Rāksasas as coming into consciousness and prominence as we find in Buddhist and Jain literature as well as in epics and purāṇas. As a result of this in the sectarian literature the Yaksaś possess honorable status and are benevolent towards mankind. People also had developed affection for them. Simultaneously some malevolent Yakṣas, Rakṣasas, Bhūtas and Piśācas are found causing dreadful deterrents in the way of ascetics, saints and householders.

Gautama Buddha and Mahāvīra were also disturbed by such malevolent divine spirits. Other ascetics are also found passing through such expbrience. Force of endurance and self confidence made them succeed in achieving their goal.

As a conclusion we find here in the Uvāsagadasāo :

1. Mahāvīra halted at some caitya or shrine of Yakṣa.

2. The followers like Kāmadeva, Culaṇīpiyā, Surādeva, Cullasayaga and Kuṇḍkoliya are interrupted by dreadful deterrents caused by some deity. This deity seems to be none but Yakṣa, malevolent by nature.

3. Saddālaputta refutes the arguments of a divine i.e. Yakṣa and ultimately he also like Kāmadeva, Culaṇīpiyā etc. successfully pass through such dreadful deterrents.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. Such stories are intended to establish steadiness, self-confidence and endurance in the Upāsakas.

5. Worship of the benevolent Yakṣas and resistance of the malevolent deities have come down from the very early period. In this connection Jain, Bauddha and Puranic literature closely resemble.

---

1. Indian Literature, Vol. II, para. 433
2. Uvāsagadasāo, para. 94, 95
3. Ibid para. 94–113
4. Ibid para. 132–142
5. Ibid para. 146–154
6. Ibid para. 156–161
7. Ibid para. 165–170
8. Ibid para. 186–187–200
9. Ibid para. 224–225
10. Ibid para. 224–230
11. Ibid para. 238–265
12. विद्याधराऽप्सरसो यक्षगन्धर्वकिन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनदः ॥ अमरकोष १-१-११
13. Bhagawatisūtra, Uvāsagadasāo, Hoernle Appx. X
14. Mahavaṁsa, I. 45
15. यक्ष्यते पूज्यते 'यक्ष पूजायाम् । (चु. आ. से) । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३-३-१९) इति कर्मणि घञ् ।
16. यक्षो गुह्यकमात्रे च गुह्यकाधीश्वरेऽपि च । इति मेदिनी (१/६७)
17. इः कामः, तस्येवाक्षिणी अस्येति वा । इरक्षिषु यस्येति वा ।
18. गूहति निधिं रक्षति । गुहू संवरणे (भ्वा. उ. से.) । ण्वुल् (३-१-१३३) पृषोदरादित्वात् (६-३-१-९) यगागमः ।, निधिं रक्षन्ति ये यक्षास्ते स्यु-र्गुह्यकसंज्ञकाः ॥ व्याडिः ।
19. गुह्य' कुत्सितं कायति ।, गुह्य' गोपनीय' क' सुख' यस्येति वा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

20 भूतिरस्यास्ति । अर्श आद्यच् (५/२/१२७) भूतः ।
भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ जन्तौ क्लीबं त्रिषूचिते ।
प्राप्ते वित्ते सत्ये सत्ये देवयोरन्यतरेषु वा ॥ [मेदिनी ५७/४१-४२]

21 पिशितमश्नाति । अश भोजने (क्रया प. र.) कर्मण्यण् (३-२-१) ।
' पृषोदरादिः ' । (६-३-१-९)
मध्यतालव्यः अमरकोष पृ. ७–८

22. III, 203, 272
23. Umāhaimavatī Vṛttānta
24. Śāṅkhāyana Gṛhyasūtra, IV 9; Āśvalāyana Gṛhyasūtra III, 4; Pāraskara Gṛhyasūtra II, 12; Mānava Gṛhyasūtra II; 14.
25. Mahāvaṁśa Ch. X, verse Yakkha–bhūta, 'those that had become Yakṣas
26. Rāmāyana, 3: 11, 94
27. Mahābhārata, 6, 41, 4
28. Hopkins, Epic Mythology, pp. 295
29. Hopkins, Epic Mythology, p. 57, Atanatiya Suttanta
30. Lalitavistara Ch. VIII; Uttarādhyayanasūtra Ch. III, 14–18
31. Śrīmalapurāṇa, Ch. 69; Brahmaksetra–Māhātmya; introduction
32. Mahābhārata, Southern Reeension 12, 69, 41
33. Ākutāḥ grāmacaiyāḥ–Meghadūta
34. Nidānakathā, Aśckāvadāna, Lalitavistara, Divyāvadāda, Varanasi Mahāṭmya in the Matsyapurāṇa, Bhūtamāta episode in the brīmālapurāṇa etc.
35. Hopkins, Epic Mythology, pp. 68
36. Hopkins, Epic Mythology, pp. 68, 69
37. Meghadūta, II, 3
38. Fergusson, Tree and Serpent Worship, pp. 244.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

A COMPARATIVE AND CRITICAL NOTE ON UVĀSAGADASĀO AND RATNA-KARAṆḌAKA-ŚRĀVAKĀCĀRA

Dr. M. D. Vasantharaj, Mysore.

Among all the living beings man stands supreme because of his thinking capacity or wisdom, and again because of this wisdom he is the master of himself in gaining whatever is good for him and also in warding off whatever is evil. It is as a result of this that man has built up a social order of life which, in one way or the other, is established wherever he lives. The primary aim of this social order is to enable man to live peacefully and happily. This compels him to accept certain principles and the essence of those principles can be expressed by the term 'Live and Let Live'; of course, with a varying degree in observing the same. When a person does not want to be injured by any other person, then he will have to follow the principle of not injuring the other person. When this principle is observed in the form of a vow then it becomes Dharma and the same is Jainacāritra Dharma.

The cāritra dharma is classified into two categories depending on the individual's capacity for observance : (1) Munidharma and (2) Gṛhasthadharma, or well known either as Upāsaka or Śrāvaka Dharma. The subject of the latter constitutes the seventh Aṅga known by the title Uvāsaga-dasāo in Śvetāmbara tradition and Uvāsayajjhayaṇam in Digambara tradition.[1] The former of these two has been traditionally handed down till today where as the latter is not available today, but only references to its name and contents are found in other works such as Sarvārtha-Siddhi, Dhavalā etc., just as references to other Aṅga literature are found.

In Uvāsagadasāo, the code of conduct of Upāsaka is detailed in a form of narration mainly in the Ānanda Śrāvaka story, the first story. Ānanda was a wealthy person and was respected by one and all including the King. One day he attends the sermon of Bhagavān Mahāvīra and as a result becomes an ardent devotee

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of Him with unswerving faith in His teachings. Thereupon he expresses his incapacity to take to the vows of a muni and pleads to allow him to take the vows of a householder (Gihidhamma) and thus at the foot of Bhagavān Mahāvīra, first of all he takes the Pañcāṇuvratas. Afterwards, the vow pertaining to Uvabhoga-paribhoga is taken and next to it the vow of abandoning fourfold Anatthadaṇḍa. Bhagavān Mahāvīra instructs Ānanda not to commit transgressions i.e. Aticāras relating to Samyaktva. Thereafter the aticāras pertaining to five Aṇuvratas, digvrata, upabhoga-paribhoga-parimāṇa vrata, anatthadaṇḍa vermaṇavrata, desāvagāsiga vrata, Sāmāyika vrata, Posahovavāsavrata, Ahāsaṁvibhāgavrata, and finally the aticāras pertaining to saṁlehaṇājhūsaṇārāhaṇā.

According to the Digambara tradition, afrer 683 years of the Parinirvāṇa of Bhagavān Mahāvīra, the Aṅga and Pūrva Śruta-Jñāna was only partially retained by Munis and the Āgama works were composed by such of these munis depending on their such partial knowledge of the Śruta. Again commentaries were written on these Āgama works by a succession of Ācāryas depending again on the reminiscent knowledge of the Śruta. Now as Samantabhadra's name finds place in this list of succession of commentators, it is quite possible that he had the knowledge of course partially, of 'Uvāsayajjhayaṇa' and that depending on the same he co nposed Ratnakaraṇḍa-Śrāvakācāra, the earliest Śrāvakācāra work of the Digambaras. Therefore a comparison of Uvāsagadasāo and R. K. Śrāvakācāra is discussed here.

R. K. Śrāvakācara is divided into seven paricchedas and the statement - 'Iti Śri Samantabhadra-Viracite Ratnakaraṇḍa Nāmni Upāsakādhyayane'[2] at the end of these paricchedas is noteworthy. The same possibly indicates 'Upāsakādhyayana' to have been the source depending on which the author Samantabhadra has composed this work with the title 'Ratnakaraṇḍa'. In the first Pariccheda, which opens with the benedictory stanza offering obeisance to Vardhamāna Tīrthaṅkara, Samyagdarśana with its eight Aṅgas. etc. noted for perfection is discussed. The second Pariccheda describes in brief Samyagjñāna with its four fold divisions namely Prathamānuyoga, Karaṇānuyoga, Carṇānuyoga and Dravyānuyoga. In the

5. Seminar on Join Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

third Pariccheda, the characteristic feature of Samyakcāritra, its two fold divisions into Sakala and Vikala, the Śrāvakācāra with its divisions and sub-divisions, the Aticāras, list of persons known for their perfection in observing Pañcāṇuvratas and also of those who committed sinful acts such as himsā, etc., and finally names of aṣṭamūlaguṇas are related. In the fourth Chapter the characteristic feature of three Guṇavrata, Digvrata, Anarthadaṇḍa-vrata, Bhogopabhoga-parimāṇa-vrata are treated. In the fifth Pariccheda the four Śikṣāvrata in details namely Deśāvakāsika, Sāmāyika, Proṣadhopavāsa and Vaiyyāvṛtya are treated. Sallekhanā with its importance and exaltedness is described in the sixth Pariccheda. Finally in the Seventh Pariccheda characteristics of eleven Pratimās are related.

A comparison of the terminology used in both Uvāsagadasāo and R. K. Śrāvakācāra reveals how almost all the terminologies used in the latter are just the sanskritized forms or at least transformed forms of expressions in sanskrit of the terminologies found in the former one. It can be noted that though there is concordance in majority of the terminologies of Uvāsagadasāo and R. K, Śrāvakācāra, there are also notable differences. For instance, against the third and fifth Aṇuvratas namely, Adinnādāna and Icchāvihiparimāṇa of Uvāsagadasāo, R. K. Śrāvakācāra is having Acauryāṇuvrata and Parigraha-parimāṇa-vrata. Anarthadaṇḍa is having four divisions according to Uvāsagadasāo whereas according to R. K. Śrāvarkācāra it is having five divisions. Similarly many such notable differences between these two works can be put forward. By this it becomes evident that the author of R. K. Śrāvakācāra had some source other than Uvāsagadasāo and this source possibly was Uvāsayajjhayaṇa that was available partially, as pointed out earlier; and also that the language and the subject matter of this work did not differ much from that of Uvāsagadasāo.

1. Uvāsayajjhayaṇaṁ nāma Aṅgaṁ ekkārasalakkha-sattari-sahassa-padehiṁ daṁsaṇavada.....idi ekkārasa-viha upāsagāṇaṁ lakkhaṇaṁ.....vaṇṇedi.

Ṣaṭkhaṇḍāgama, Part I, page 102.

2. R. K. Śrāvakācāra, Edited by Vardhamana Parshvanatha Shastry, 3rd Edition, 1962.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Bibliography

(1) Śrī Upāsakadaśāṅga Sūtram. Ed. Dr. Indrachandra Śāstri M.A., Ph.D., Published by Acharya Śri Atmaram Jain Prakashana Samiti, Ludhiana.

(2) Śri Upāsakadaśāṅga Sūtram Published by Śri Akhila Bhārata Śvetāmbara Sthānakvāsi Jaina Shāstroddhāra Samiti, Rajkot.

(3) Ratnakaraṇḍaka Śrāvakācāra :

(i) Edited by Jugulkishor Mukhtar, Manikchandra Digambara Jain Granthamālā, Bombay.

(ii) Jivaraj Jain Granthamālā (Kannada) 1960.

(iii) Ed. Pandit Vardhamana Parswanatha Shastry. Published by S. P. Shantarajiah & Brothers, Mysore 1962.

(4) Vasunandi Śrāvakācāra, Bharatiya Jñāna Peetha, Kashi. 1952.

(5) Caraṇa Pāhuḍa of Kundakundācārya.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नव्याकरणसूत्र की प्राचीन विषयवस्तु की खोज

—डा० सागरमल जैन, वाराणसी

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएं यह स्वीकार करती हैं कि प्रश्नव्याकरणसूत्र (पण्हवागरण) जैन अंग-आगम साहित्य का दसवां अंग-ग्रन्थ हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा के अनुसार अंग-आगम साहित्य के विच्छेद (लुप्त) हो जाने के कारण वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा अंग साहित्य का विच्छेद नहीं मानती है। अतः उसके उपलब्ध आगमों में प्रश्नव्याकरण नामक ग्रन्थ आज भी पाया जाता हैं। किन्तु समस्या यह है कि क्या श्वेताम्बर परम्परा के वर्तमान प्रश्नव्याकरणकी विषय वस्तु वही हैं जिसका निर्देश अन्य श्वेताम्बर प्राचीन आगम ग्रन्थों में है अथवा यह परिवर्तित हो चुकी है। प्रश्न व्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी प्राचीन निर्देश श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांग (ठाणंग), समवायांग, अनुयोगद्वार एवं नन्दीसूत्र में और दिगम्बर परम्परा के राजवार्तिक, धवला एवं जयधवला नामक टीका ग्रन्थों में उपलब्ध है। इनमें स्थानांग और समवायांग लगभग ३ री—४ थी शती के एवं नन्दी लगभग ५ वीं—६ ठीं शताब्दी का राजवार्तिक ८वीं शताब्दी का तथा धवला एवं जयधवला १० वीं शताब्दी के ग्रन्थ स्वीकार किये गये हैं।

प्रश्नव्याकरण नाम क्यों ?

'प्रश्नव्याकरण' इस नाम को लेकर प्राचीन टीकाकारों एवं विद्वानों में यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारणा बन गयी थी कि जिस ग्रन्थ में प्रश्नों के समाधान किये गये हों, वह प्रश्नव्याकरण है। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण के प्राचीन संस्करण की विषयवस्तु प्रश्नोत्तरशैली में नहीं थी और न वह प्रश्न-विद्या अर्थात् निमित्तशास्त्र से ही सम्बन्धित थी। गुरु-शिष्य सम्वाद की प्रश्नोत्तर शैलीमें आगम-ग्रन्थ की रचना एक परवर्ती घटना है-भगवती या व्याख्या-प्रज्ञप्ति इसका प्रथम उदाहरण है। यद्यपि समवायांग एवं नन्दीसूत्र में यह माना गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ पूछे गये, १०८ नहीं पूछे गये और १०८ अंशतः पूछे गये और अंशतः नहीं पूछे गये प्रश्नों के उत्तर हैं।[1] किन्तु यह अवधारणा काल्पनिक ही लगती हैं। प्रश्नव्याकरण की प्राचीनतम विषयवस्तु प्रश्नोत्तर रूप में थी या उसमें प्रश्नोंका उत्तर देनेवाली विद्याओं का समावेश था—समवायांग और नन्दीसूत्र के उल्लेखों के अतिरिक्त आज इसका कोइ प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राचीनकाल में ग्रन्थों को प्रश्नों के रूपमें विभाजित करने की परम्परा थी। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण आपस्तम्बीय धर्मसूत्र है जिसकी विषयवस्तुको दो प्रश्नों में विभक्त किया है। इसके प्रथम प्रश्नमें ११ पटल और द्वितीय प्रश्न में ११ पटल हैं। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रश्नोत्तर रूप में भी नहीं है। इसी प्रकार बौधायन धर्मसूत्र की विषयवस्तु भी प्रश्नों में विभक्त है। अतः प्रश्नोत्तर शैली में होने के कारण या प्रश्नविद्या से सम्बन्धित होने के कारण इसे प्रश्नव्याकरण नाम दिया गया था—यह मानना उचित नहीं होगा। वैसे इसका प्राचीननाम वागरण[2] (व्याकरण) ही था। ऋषिभाषित में इसका इसी नाम से उल्लेख है[3]। प्राचीनकाल में तात्त्विक व्याख्या को व्याकरण कहा जाता था।

प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु –

प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बन्ध मे अन्य ग्रन्थों में जो निर्देश है-उससे वर्तमान प्रश्नव्याकरण निरचय ही भिन्न है। यह परिवर्तन किस रूपमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है, यही विचारणीय है । यदि हम ग्रन्थके कालक्रमको ध्यानमें रखते हुए प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के संबंध में उपलब्ध विवरणों को देखें, तो हमें उसकी विषयवस्तु में हुए परिवर्तनों की स्पष्ट सूचना उसमें मिल जाती है ।

(अ) **स्थानांग** – प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख स्थानांगसूत्र में मिलता है । इसमें प्रश्नव्याकरण की गणना दस दशाओं में की गई है तथा उसके निम्न दस अध्ययन बताये गये हैं —

१–उपमा, २–संख्या, ३–ऋषिभाषित, ४–आचार्यभाषित ५–महावीर-भाषित, ६ – क्षोभिकप्रश्न, ७ – कोमलप्रश्न, ८–आदर्शप्रश्न आद्रकप्रश्न, ९–अंगुष्ठप्रश्न, १०–बाहुप्रश्न । इससे फलित होता है कि सर्वप्रथम यह दस अध्यायों का ग्रन्थ था । दस अध्यायों के ग्रन्थ दसा (दशा) कहे जाते थे ।

(ब) **समवायांग** – स्थानांग के पश्चात् प्रश्नव्याकरणसूत्र की विषयवस्तु का अधिक विस्तृत विवेचन करनेवाला आगम समवायांग है । समवायांगमें उसकी विषयवस्तु का निर्देश करते हुए कहा गया है कि प्रश्नव्याकरणसूत्र में १०८ प्रश्नों, १०८ अप्रश्नों और १०८ प्रश्नाप्रश्नोंकी विद्याओं के अतिशयों (चमत्कारों) का तथा नागों-सुपर्णों के साथ दिव्य संवादों का विवेचन है । यह प्रश्नव्याकरणदशा स्वसमय-परसमय के प्रज्ञापक एवं विविध अर्थों वाली भाषा के प्रवक्ता प्रत्येक बुद्धों के द्वारा भाषित अतिशय गुणों एवं उपशमभावके धारक तथा ज्ञान के आकर आचार्यों के द्वारा विस्तार से भाषित और जगत के हित के लिए वीर महर्षिके द्वारा विशेष विस्तार से भाषित है । यह आदर्श, अंगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, क्षौम (वस्त्र) एवं आदित्य (के आश्रय से) भाषित है । इसमें महाप्रश्नविद्या, मनप्रश्नविद्या, देवप्रयोग आदिका उल्लेख है । इसमें सब प्राणियों के प्रधान गुणों के प्रकाशक, दुर्गुणों को अल्प करनेवाले, मनुष्यों की मतिको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्मित करनेवाले, अतिशयमय कालज्ञ एवं शमदम से युक्त उत्तम तीर्थंकरों के प्रवचन में स्थित करनेवाले, दुराभिगम, दुरावगाह, सभी सर्वज्ञोंके द्वारा सम्मत सभी अज्ञजनों को बोध करानेवाले प्रत्यक्ष प्रतीतिकारक, विविधगुणों से और महानअर्थों से युक्त जिनवरप्रणीत प्रश्न (वचन) कहे गये हैं ।

प्रश्न व्याकरण अंग की सीमित वाचनायें हैं, संख्यात अनुयोगद्वार हैं, संख्यात प्रतिपत्तियां हैं, संख्यात वेढ हैं, संख्यात श्लोक है, संख्यात निर्युक्तिय हैं और संख्यात संग्रहणियां हैं ।

प्रश्नव्याकरण अंगरूप से दसवां अंग है, इसमें एक श्रुत स्कन्ध है, पैंतालीस उद्देशन काल है, पैंतालीस समुद्देशन काल हैं पद-गणना की अपेक्षा संख्यात लाख पद कहे गये हैं । इसमें संख्यात अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्याय है, परीत त्रस हैं, अनन्त स्थावर हैं, इसमें शाश्वत कृत, निबद्ध, निकाचित जिन-प्रज्ञप्त भाव कहे जाते हैं, प्रज्ञापित किये जाते हैं प्ररूपित किये जाते हैं, निदर्शित किये जाते हैं और उपदर्शित किये जाते हैं । इस अंग के द्वारा आत्मा ज्ञाता होता है, विज्ञाता होता है । इस प्रकार चरण और करण की प्ररूपणा के द्वारा वस्तु-स्वरूप का कथन, प्रज्ञापन, निदर्शन और उपदर्शन किया जाता हैं ।[४]

(स) **नन्दीसूत्र** – नन्दीसूत्र में प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जो उल्लेख है वह समवायांग के विवरण का मात्र संक्षिप्त रूप है । उसके भाव और भाषा दोनों ही समान है । मात्र विशेषता यह है कि इसमें प्रश्नव्याकरण के ४५ अध्ययन बताये गये हैं, जबकि समवायांग में केवल ४५ समुद्देशनकालों का उल्लेख है, ४५ अध्ययन का उल्लेख समवायांग में नहीं है ।[५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(द) **तत्त्वार्थवार्तिक** – तत्वार्थवार्तिक में प्रश्नव्याकरण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आक्षेप और विक्षेप के द्वारा हेतु और नय के आश्रय से प्रश्नों के व्याकरण को प्रश्नव्याकरण कहते है। इसमें लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया जाता है।[६]

(इ) **धवला** – धवला में प्रश्नव्याकरण की जो विषयवस्तु बताई गई है वह तत्त्वार्थवार्तिक में प्रतिपादित विषय-वस्तु से किंचित् विभन्नता रखती है। उसमें कहा गया है कि प्रश्नव्याकरण में आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है। उसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि आक्षेपणी कथा परसमयों (अन्य मतों) का निराकरण कर ६ द्रव्यों और नव तत्त्वों का प्रतिपादन करती है। विक्षेपणी कथा में परसमय के द्वारा स्व-समय पर लगाये गये आक्षेपों का निराकरण कर स्वसमय की स्थापना करती है। संवेदनी कथा पुण्यफल की कथा है। इसमें तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती आदि की ऋद्धि का विवरण है। निर्वेदनी कथा पाप फल की कथा है, इसमें नरक, तिर्यंच, जरा–मरण, रोग आदि सांसारिक दुःखों का वर्णन किया जाता है। उसमें यह भी कहा गया है कि प्रश्नव्याकरण प्रश्नों के अनुसार हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का निरूपण करता है।[७]

इस प्रकार प्रश्नव्याकरण की विषय वस्तु के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेखों में एकरूपता नहीं है।

प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी विवरणों की समीक्षा

मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरणसूत्र की विषयवस्तु के तीन संस्कार हुए होंगे। प्रथम एवं प्राचीनतम संस्कार, जो 'वागरण' कहा जाता था, में ऋषिभाषित,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यभाषित और महावीरभाषित ही इसकी प्रमुख विषयवस्तु रही होगी। ऋषिभाषितमें 'वागरण' ग्रन्थका एवं उसकी विषयवस्तुकी ऋषिभाषित से समानता का उल्लेख है।[८] इससे प्राचीनकाल (इ०पू० ४ थी या ३ री शताब्दी) में उसके अस्तित्व की सूचना तो मिलती ही है साथ ही प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित का सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है।

स्थानांगसूत्र में प्रश्नव्याकरण का वर्गीकरण दस दशाओं में किया है—सम्भवतः जब प्रश्नव्याकरण के इस प्राचीन संस्करण की रचना हुई होगी तब ग्यारह अंगों अथवा द्वादश गणिपिटिक की अवधारणा भी स्पष्ट रूप से नहीं बन पायी थी। अंग—आगम साहित्य के ५ ग्रन्थ—उपासकदशा, अन्तकृतदशा, प्रश्नव्याकरणदशा और अनुत्तरौपपातिकदशा तथा कर्मविपाकदशा (विपाकदशा) दस दशाओं में ही परिगणित किये जाते थे। आज इन दशाओं में उपर्युक्त पांच तथा आचारदशा, जो आज दशाश्रुतस्कन्ध के नाम से जानी जाती है, को छोडकर शेष चार—बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और संक्षेपदशा—अनुपलब्ध है। उपलब्ध छह दशाओं में भी उपासकदशा और आयारदशा की विषयवस्तु स्थानांग में उपलब्ध विवरण के अनुरूप है। कर्मविपाक और अनुत्तरौपपातिकदशा की विषयवस्तु में कुछ समानता है और कुछ भिन्नता है। जबकि प्रश्नव्याकरणदशा और अन्तकृतदशा की विषयवस्तु पूरी तरह बदल गई है। स्थानांग में प्रश्नव्याकरण की जो विषयवस्तु सूचित की गई है वही इसका प्राचीनतम संस्करण लगता है, क्योंकि यहां तक इसकी विषयवस्तु में नैमित्तिक विद्याओं का अधिक प्रवेश नहीं देखा जाता है। स्थानांग प्रश्नव्याकरण के जिन दश अध्ययनों का निर्देश करता है, उनमें भी मेरी दृष्टि में इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं और महावीरभासियाइं—ये तीन प्राचीन प्रतीत होते हैं। 'उवमा' और 'संखा'की सामग्री क्या थी? कहा नहीं जा सकता। यद्यपि मेरी दृष्टि में 'उवमा' में कुछ रूपकों के द्वारा धर्म—बोध कराया गया होगा। जैसाकि ज्ञाताधर्म कथा में कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अण्डों के रूपकों द्वारा क्रमशः यह समझाया गया है कि जो इन्द्रिय-संयम नहीं करता है वह दुःख को प्राप्त होता है और जो साधना में अस्थिर-चित्त रहता है वह फल को प्राप्त नहीं करता है। इसी प्रकार 'संखा' में स्थानांग और समवायांग के समान संस्था के आधार पर वर्णित सामग्री हो। यद्यपि यह भी संभव हैं कि संखा नामक अध्ययन का सम्बन्ध सांख्य दर्शन से रहा हो। क्योंकि अन्य परम्पराओं के विचारों को प्रस्तुत करने की उदारता इस ग्रन्थ में थी। साथ ही प्राचीनकाल में सांख्य श्रमणधारा का ही दर्शन था और जैन दर्शन से उसकी निकटता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अद्दागपसिणाइं, बाहुपसिणाइं आदि अध्यायों का सम्बन्ध भी निमित्तशास्त्र से न होकर इन नामवाले व्यक्तियों की तात्त्विक परिचर्चा से रहा हो जो क्रमशः आर्द्रक और बाहुक नामक ऋषियों की तत्त्वचर्चा से सम्बन्धित रहे होंगे। अद्दागपसिणाइं की टीकाकारों ने 'आदर्श-प्रश्न' ऐसी जो संस्कृत छाया की है वह भी उचित नहीं है। उसकी संस्कृत-छाया 'आर्द्रकप्रश्न' ऐसी होना चाहिए। आर्द्रक से हुए प्रश्नोत्तरों की चर्चा सूत्रकृतांग में मिलती है साथ ही वर्तमान ऋषिभाषित में भी 'अद्दाएण' (आर्द्रक) और बाह (बाहुक) नामक अध्ययन उपलब्ध है। हो सकता है कि कोमल और खोम-क्षोम भी कोई ऋषि रहे हैं। सोम का उल्लेख भी ऋषिभाषित में है। फिर भी यदि हम यह मानने को उत्सुक ही हों कि ये अध्ययन निमित्त शास्त्र से सम्बन्धित थे तो हमें यह मानना होगा कि यह सामग्री उसमें बाद में जुड़ी है, प्रारम्भ में उसका अंग नहीं थी। क्योंकि प्राचीनकाल में निमित्त शास्त्र का अध्ययन जैनभिक्षु के लिए वर्जित था और इसे पापश्रुत माना जाता था।[६]

स्थानांग और समवायांग दोनों में प्रश्नव्याकरण सम्बन्धी जो विवरण हैं, वे भी एक काल के नहीं हैं। समवायांग का विवरण परवर्ती है, क्योंकि उस विवरण में मूल तथ्य सुरक्षित रहते हुए भी निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण काफी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तृत हो गया है। स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन बताये गये हैं जबकि समवायांग उसमें ४५ उद्देशक होने की सूचना देता है। 'उवमा' और 'संखा' नामक स्थानांग में वर्णित प्रारम्भिक दो अध्ययनों का यहां निर्देश ही नहीं है। हो सकता है कि 'उवमा' की सामग्री ज्ञाताधर्मकथा में और 'संखा' की सामग्री—यदि उसका सम्बन्ध संख्या से था तो स्थानांग या समवायांग में डाल दी गई हो। 'कोमलपसिणाइं' का भी उल्लेख नहीं है। इन तीनों के स्थान पर 'असि' 'मणि' और आदित्य' ये तीन नाम नये जुड गये हैं, पुनः इनका उल्लेख भी अध्ययनों के रूप में नहीं है। समवायांग का विवरण स्पष्टरूप से यह बताता है कि प्रश्नव्याकरण का वर्ण्य—विषय चमत्कारपूर्ण विविध विधाओं से परिपूर्ण है। यहाँ इसिभासियाइं, आयरियाभासियाइं और महावीरभासियाइं इन तीन अध्ययनों का विलोप कर यह निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण इनके द्वारा कथित है—यह कह दिया गया है।

वस्तुतः समवायांग का विवरण हमें प्रश्नव्याकरण के किसी दूसरे परिवर्धित संस्करण की सूचना देता है जिसमें नैमित्तशास्त्र से सम्बन्धित विवरण जोडकर प्रत्येकबुद्धभाषित (ऋषिभाषित) आचार्यभाषित और वीरभाषित (महावीरभाषित) भाग अलग कर दिये गये थे और इस प्रकार इसे शुद्धरूप से एक निमित्तशास्त्र का ग्रन्थ बना दिया गया था। उसे प्रमाणिकता देने के लिए यहाँ तक कह दिया गया कि यह प्रत्येकबुद्ध आचार्य और महावीरभाषित है।

तत्त्वार्थवार्तिक में प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जो विवरण उपलब्ध है वह इतना अवश्य सूचित करता है कि ग्रन्थकार के सामने प्रश्नव्याकरणकी कोई प्रति नहीं थी उसने प्रश्नव्याकरणकी विषयवस्तु के सम्बन्धमें जो विवरण दिया है, वह कल्पनाश्रित ही है। यद्यपि धवला में प्रश्नव्याकरण के सम्बन्धमें जो निमित्तशास्त्र से सम्बन्धित कुछ विवरण हैं, वह निश्चय ही यह बताता हैं कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकारने उसे अनुश्रुति के रूप में श्वेताम्बर या यापनीय परम्परा से प्राप्त किया होगा। धवला में वर्णित विषय वस्तुवाला कोई प्रश्नव्याकरण अस्तित्व में भी रहा होगा, यह कहना कठिन है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि समवायांग का प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी विवरण स्थानांगकी अपेक्षा परवर्ती काल का है। फिर भी इसमें कुछ तथ्य ऐसे अवश्य हैं जो हमारी इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि प्रश्नव्याकरण की मूलभूत विषयवस्तु ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीर-भाषित ही थी और जिसका अधिकांश भाग आज भी ऋषिभाषित आदि के रूप में सुरक्षित है। क्योंकि समवायांग में भी प्रश्नव्याकरण की विषय वस्तु को प्रत्येकबुद्धभाषित, आचार्यभाषित, महर्षिवीरभाषित कहा गया है। स्थानांग में जहां ऋषिभाषित शब्द है वहाँ समवायांग में प्रत्येकबुद्धभाषित शब्द है। यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के प्रत्येक ऋषि को आगे चलकर जैनाचार्यों ने प्रत्येक बुद्ध के रूप में स्वीकार किया है[30] और यह शब्द-परिवर्तन उसी का सूचक है। यही कारण है कि इसमें ऋषिभाषित के स्थान पर प्रत्येकबुद्धभाषित कहा गया है। हमारे कथन की पुष्टि का दूसरा आधार यह है कि समवायांग में प्रश्नव्याकरण के एक श्रुतस्कन्ध और ४५ अध्याय माने गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि समवायांग के प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु सम्बन्धी इस विवरण के लिखे जाने तक भी यह अवधारणा अचेतनरूप में अवश्य थी कि प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु प्रत्येकबुद्धों, धर्माचार्यों और महावीर के उपदेशों से निर्मित थी, यद्यपि इस काल तक ऋषिभासित को उससे अलग कर दिया गया होगा और उसके ४५ अध्ययनों के स्थान पर नैमित्तशास्त्र सम्बन्धी विद्यायें समाविष्ट कर दी गई होंगी। यद्यपि निमित्तशास्त्र के विषय जोडने का ही ऐसा कुछ प्रयत्न सीमितरूप में स्थानांग में प्रश्नव्याकरण सम्बन्धी विवरण लिखे जाने के पूर्व भी हुआ होगा। मेरी धारणा यह है कि प्रश्नव्याकरण में प्रथम निमित्तशास्त्र का विषय जुडा और फिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषिभाषित वाला अंश अलग हुआ तथा बीच का कुछ काल ऐसा रहा जब वही विषयवस्तु दोनों में समान्तर बनी रही। यहां हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि जहां स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन होने का उल्लेख है, वहां समवायांग में इसके ४५ उद्देशनकाल और नन्दी में ४५ अध्ययन होने का उल्लेख है—यह आकस्मिक नहीं हैं। यह उल्लेख प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित की किसी साम्यता का संकेतक है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण में दस अध्ययन होना भी सप्रयोजन है— स्थानांग के पूर्व विवरण से संगति बैठाने के लिए ही ऐसा किया गया होगा। दस और पैंतालीस के इस विवाद को सुलझाने के दो ही विकल्प हैं— प्रथम सम्भावना यह हो सकती है कि प्राचीन संस्करण में दस अध्याय रहे हों और उसके ऋषिभाषितवाले अध्याय के ४५ उद्देशक रहे हों अथवा मूल प्रश्नव्याकरण में वर्तमान ऋषिभाषित के ४५ अध्याय ही हों क्योंकि इनमें भी ऋषिभाषित के साथ महावीरभाषित और आचार्यभाषित का समावेश हो ही जाता है। यह भी सम्भव हैं कि वर्तमान ऋषिभाषित के ४५ अध्यायों में से कुछ अध्याय ऋषिभाषित के अन्तर्गत और कुछ आचार्यभाषित एवं कुछ महावीरभाषित के अन्तर्गत उद्देशकों के रूप में वर्गीकृत हुए हों। महत्त्वपूर्ण यह है कि समवायांग में प्रश्नव्याकरण के ४५ अध्ययन न कहकर ४५ उद्देशनकाल कहा गया है, किन्तु प्रश्नव्याकरण से अलग करने के पश्चात् उन्हें एक ही ग्रन्थ के अन्तर्गत ४५ अध्यायों के रूप में रख दिया गया हो। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी हैं कि समवायांग में ऋषिभाषित के ४४ अध्ययन कहे गये हैं जबकि वर्तमान ऋषिभाषित में ४५ अध्ययन हैं। क्या वर्धमान नामक अध्ययन पहले इसमें सम्मिलित नहीं था। क्यों कि इसे महावीरभाषित में परिगणित किया गया था या अन्य कोई कारण था, हम नहीं कह सकते। यह भी सम्भव है कि उत्कटवादी अध्याय में किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है। साथ ही यह अध्याय चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन करता हैं। अतः इसे ऋषिभाषित में स्वीकार नहीं किया हो। समवायांग और नन्दीसूत्र के मूलपाठो में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है वह यह कि नन्दीसूत्र में प्रश्न-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरण के ४५ अध्ययन हैं—ऐसा स्पष्ट पाठ है[12] जबकि समवायांग में ४५ अध्ययन ऐसा पाठ न होकर ४५ उद्देशन काल है, मात्र यही पाठ है। हो सकता है कि समवायांग के रचना-काल तक वे उद्देशक रहे हों, किन्तु आगे चलकर वे अध्ययन कहे जाने लगे हों। यदि समवायांग के कालतक ४५ अध्ययनों की अवधारणा होती तो समवायांगकार उसका उल्लेख अवश्य करता क्योंकि समवायांग में अन्य अंग आगमों की चर्चा के प्रसंग में अध्ययनों का स्पष्ट उल्लेख है।

इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि क्या निमित्तशास्त्र एवं चामत्कारिक विद्याओं से युक्त कोई प्रश्नव्याकरण बना भी था या यह सब कल्पना की उडाने हैं? यह सत्य है कि प्रश्नव्याकरण की पद-संख्या का समवायांग, नन्दी, नन्दीचूर्णी और धवला में जो उल्लेख है, वह काल्पनिक है। यद्यपि समवायांग और नन्दी प्रश्नव्याकरण के पदों की निश्चित संख्या नहीं देते हैं—मात्र संख्यात—शत—सहस्र—ऐसा उल्लेख करते हैं, किन्तु नन्दीचूर्णी एवं समवायांगवृत्ति[13] में उसके पदों की संख्या ९२१६००० और धवला[14] में ९३१६००० बतायी गई है, जो मुझे तो काल्पनिक ही अधिक लगती है।

मेरी अवधारणा यह है कि स्थानांग, समवायांग, नन्दी, तत्त्वार्थ, राजवार्तिक धवला एवं जयधवला में प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जिस रूप में उल्लेख है वह पूर्णतः काल्पनिक चाहे न हो किन्तु उसमें सत्यांश कम और कल्पना का पुट अधिक है। यद्यपि निमित्तशास्त्र के विषयको लेकर कोई प्रश्नव्याकरण अवश्य बना होगा फिर भी उसमें समवायांग और धवला में वर्णित समग्र विषयवस्तु एवं चामत्कारिक विधाएं रही होंगी यह कहना कठिन ही है।

इसी सन्दर्भ में समवायांग के मूलपाठ 'आदागंगुट्ठबाहुअसिमणि खोमआइच्च-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भासियाणं[१५] ने अर्थ के सम्बन्ध में भी यहां हमे पुनर्विचार करना होगा । कहीं अद्दाग, अंगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, खोम (क्षोम) और आदित्य व्यक्ति तो नहीं हैं– क्योंकि इनके द्वारा भाषित कहने का क्या अर्थ है ? स्थानांग के विवरण की समीक्षा करते हुए जैसीकी मैंने सम्भावना प्रकट की है कि कहीं अद्दाग-आर्द्रक, बाहु-बाहुक, खोम-सोम नामक ऋषि तो नहीं हैं, क्योंकि ऋषिभाषित में इनके उल्लेख हैं । आदित्य भी कोइ ऋषि हो सकते हैं । केवल अंगुट्ठ, असि और मणि ये तीन नाम अवश्य ऐसे हैं, जिनके व्यक्ति होने की सम्भावना धूमिल हैं ।

इस समग्र चर्चा का फलित तो मात्र यही है कि ऋषिभाषित की विषयवस्तु समय समय पर बदलती रही हैं ।

क्या प्रश्नव्याकरणकी प्राचीन विषयवस्तु सुरक्षित है ?

यहां यह चर्चा भी महत्त्वपूर्ण है कि क्या प्रश्नव्याकरण के प्रथम और द्वितीय संस्कारों की विषयवस्तु पूर्णतः नष्ट हो गई है या वह आज भी पूर्णतः या आंशिक रूप में सुरक्षित हैं ।

मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण के प्रथम संस्करण में ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित के नाम से जो सामग्री थी वह आज भी ऋषिभाषित, ज्ञाताधर्मकथा, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में बहुत कुछ सुरक्षित है । ऐसा लगता है कि ईस्वी सन् के पूर्व ही उस सामग्री को वहां से अलग कर इसिभासियाइं के नाम से स्वतन्त्रग्रन्थ के रूप में सुरक्षित कर लिया गया था । जैन परम्परा में ऐसे प्रयास अनेक बार हुए हैं जब चूला या चूलिका के रूप में ग्रन्थों में नवीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामग्री जोड़ी जाती रही अथवा किसी ग्रन्थ कि सामग्री को निकालकर उससे एक नया ग्रन्थ बना दिया। उदाहरण के रूप में किसी समय निशीथ को आचारांग की चूला के रूप में जोड़ा गया और कालान्तर में उसे वहाँ से अलग कर निशीथ नामक नया ग्रन्थ ही बना दिया गया। इसी प्रकार आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध) के आठवें अध्याय (पर्युषण कल्प) की सामग्री से कल्पसूत्र नामक एक नया ग्रन्थ ही बना दिया गया। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि पहले प्रश्नव्याकरण में इसिभासियाइं के अध्याय जुड़ते रहे हों और फिर अध्ययनों की सामग्री को वहां से अलग कर इसिभासियाइं नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ अस्तित्व में आया है। मेरा यह कथन निराधार भी नहीं है। प्रथम तो दोनों नामों की साम्यता तो है ही। साथ ही समवायांग में यह भी स्पष्ट उल्लेख हैं कि प्रश्नव्याकरण में स्वसमय और परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येक-बुद्धों के कथन हैं। (पण्हावागरणदसाइण ससमय-परसमय पण्णवय पत्तेअबुद्ध .....भासियाइण, समवायांग ५४७)। इसिभासियाइं के सम्बन्ध में यह स्पष्ट मान्यता है कि उसमें प्रत्येकबुद्धों के वचन है। मात्र यही नहीं समवायांग 'स-समय-पर समय पण्णवयं पत्तेअबुद्ध-अर्थात् स्वसमय एवं परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येकबुद्धका उल्लेख कर इसकी पुष्टि भी कर देता है कि वे प्रत्येकबुद्ध मात्र जैन परंपरा के नहीं है अपितु अन्य परम्पराओं के भी है। इसिभासियाइं में मंखलिगोसाल, देवनारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, उद्दालक आदि से सम्बन्धित अध्याय भी इसी तथ्य को सूचित करते हैं। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण का प्राचीनतम अधिकांश भाग आज भी इसिभासियाइं में तथा कुछ भाग सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथा और उत्तराध्ययन के कुछ अध्यायों के रूप में सुरक्षित है। प्रश्नव्याकरण का इसिभासियाइं वाला अंश वर्तमान इसिभासियाइं (ऋषिभाषित्) में महावीर-भाषियाइं में तथा आयरियाभासियाइं का कुछ अंश उत्तराध्ययन के अध्ययनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सुरक्षित है। ऋषिभाषित के तेत्तलिपुत्र नामक अध्याय की विषय सामग्री ज्ञाताधर्मकथा के १४ वें तेत्तलिपुत्र नामक अध्याय में आज भी उपलब्ध है।

उत्तराध्ययन के अनेक अध्याय प्रश्नव्याकरण के अंश थे उसकी पुष्टि अनेक आधारों से की जा सकती है। सर्वप्रथम उत्तराध्ययन नाम ही इस तथ्य को सूचित करता है कि यह किसी ग्रन्थ के उत्तर–अध्ययनों से बना हुआ ग्रन्थ है। इसका तात्पर्य है कि इसकी विषय–सामग्री पूर्व में किसी ग्रन्थ का उत्तरवर्ती अंश रही होगी। इस तथ्य की पुष्टि का दूसरा किन्तु सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययन निर्युक्त गाथा ४ में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि उत्तराध्ययन का कुछ भाग अंग साहित्य से लिया है। उत्तराध्ययन-निर्युक्ति की इस गाथा का तात्पर्य यह है कि बन्धन और मुक्ति से सम्बन्धित जिनभाषित और प्रत्येक बुद्ध सम्वादरूप इसके कुछ अध्ययन अंग ग्रन्थो से लिये गये हैं[6]। निर्युक्तिकार का यह कथन तीन मुख्य बातों पर प्रकाश डालता है। प्रथम तो यह कि उत्तराध्ययन के जो ३६ अध्ययन हैं, उनमें कुछ जिनभाषित (महावीर-भाषित) और कुछ प्रत्येकबुद्धों के सम्वाद रूप है तथा अंग साहित्य से लिये गये हैं। अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वह अंग-ग्रन्थ कौनसा था, जिससे उत्तराध्ययन के ये भाग लिये गये ? कुछ आचार्यों ने दृष्टिवाद से इसके परिषह आदि अध्यायों को लिये जाने की कल्पना की हैं किन्तु मेरी दृष्टि में इसका कोई आधार नहीं है। इसकी सामग्री उसी ग्रन्थ से ली जा सकती है जिसमें महाबीरभाषित और प्रत्येकबुद्धभाषित विषयवस्तु हो। इस प्रकार विषयवस्तु प्रश्नव्याकरण की ही थी अतः उससे ही इन्हें लिया गया होगा। यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि चाहे उत्तराध्ययन के समस्त अध्ययन तो नहीं, किन्तु कुछ अध्ययन तो अवश्य ही महावीरभाषित हैं। एक बार हम उत्तराध्ययन के ३६ वें अध्ययन एवं उसके अन्त में दी हुई उस गाथा को जिसमें उसका महावीरभाषित होना स्वीकार किया गया है, परवर्ती एवं प्रक्षिप्त मान भी लें, किन्तु उसके १८वें

6. Seminar on Jain Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन की २४ वीं गाथा जो न केवल इसी गाथा के समरूप है, अपितु भाषा की दृष्टि से भी उसकी अपेक्षा प्राचीन लगती है— प्रक्षिप्त नहीं कही जा सकती। यदि उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन जिनभाषित एवं कुछ प्रत्येकबुद्धों के सम्वाद-रूप हैं तो हमें यह देखना होगा कि वे किस अंग ग्रन्थ के भाग हो सकते हैं। प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु का निर्देश करते हुए स्थानांग, समवायांग और नन्दीसूत्र में उसके अध्यायों को महावीरभाषित एवं प्रत्येकबुद्धभाषित कहा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन के अनेक अध्याय पूर्व में प्रश्नव्याकरण के अंश रहे हैं। उत्तराध्ययन के अध्यायों के वक्ता के रूप में देखें तो स्पष्टरूप से उनमें नमिपव्वज्जा, कापिलीय, संजयीया आदि जैसे कई अध्ययन प्रत्येकबुद्धों के सम्वादरूप मिलते हैं। जबकि विनयसुत्त, परिषह—विभक्ति, संस्कृत, अकाममरणीय, क्षुल्लक—निर्ग्रन्थीय, द्रुमपत्रक, बहुश्रुतपूजा जैसे कुछ अध्याय महावीरभाषित हैं और केसी — गौतमीय, गर्दभीय आदि कुछ अध्याय आचार्यभाषित कहे जा सकते हैं। अतः प्रश्नव्याकरण के प्राचीन संस्कार की विषय-सामग्री से इन उत्तराध्ययन के अनेक अध्यायों का निर्माण हुआ है।

यद्यपि समवायांग एवं नन्दीसूत्र में उत्तराध्ययन का नाम आया है, किन्तु स्थानांग में कहीं भी उत्तराध्ययन का नामोल्लेख नहीं है; जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके है। स्थानांग ही ऐसा प्रथम ग्रन्थ है जो जैन आगम साहित्य के प्राचीनतम स्वरूप की सूचना देता है। मुझे ऐसा लगता है कि स्थानांगमें प्रस्तुत जैन साहित्य-विवरण के पूर्व तक उत्तराध्ययन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में अस्तित्व में नहीं आया था, अपितु वह प्रश्नव्याकरण के एक भाग के रूप में था।

पुनः उत्तराध्ययन का महावीरभाषित होना उसे प्रश्नव्याकरण के ही अधीन मानने से ही सिद्ध हो सकता है। उत्तराध्ययन की विषयवस्तु का निर्देश करते हुए यह भी कहा गया है कि ३६ अपृष्ठ का व्याख्यान करने के पश्चात् ३७ वें प्रधान नामक अध्ययन का वर्णन करते हुए भगवान परिनिर्वाण को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त हुए । प्रश्नव्याकरण के विषयवस्तु की चर्चा करते हुए उसमें पृष्ठ, अपृष्ठ और पृष्ठापृष्ठ प्रश्नों का विवेचन होना बताया गया है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि प्रश्नव्याकरण और उत्तराध्ययन की समरूपता है और उत्तराध्ययन में अपृष्ठ प्रश्नों का व्याकरण है ।

हम इसे यह भी सुस्पष्ट रूप से बता चुके हैं कि पूर्व में ऋषिभाषित ही प्रश्नाव्याकरण का एक भाग था । ऋषिभाषित को परवर्ती आचार्यों ने प्रत्येक-बुद्धभाषित कहा है । उत्तराध्ययन के भी कुछ अध्ययनों को प्रत्येकबुद्धभाषित कहा गया है । इसका तात्पर्य यह है कि उत्तराध्ययन एवं ऋषिबाषित एक दूसरे से निकटरूप से सम्बन्धित थे और किसी एक ही ग्र-थ के भाग थे । हरिभद्र (८ वीं शती) आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति (८/५) में ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन को एक मानते हैं । तेरहवीं शत्ताब्दी तक भी जैन आचार्यों में ऐसी धारणा चली आ रही थी कि ऋषेभाषित का समावेश उत्तराध्ययन में हो जाता है । जिनप्रभसूरिकी विधिमार्गप्रपा में, जो १४ वीं शताब्दी की एक रचना है— स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि कुछ आचार्यों के मत में ऋषिभाषित का अन्तर्भाव उत्तराध्ययन में हो जाता है। यदि हम उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समग्र रूप में एक ग्रन्थ माने तो ऐसा लगता है कि उस ग्रन्थ का पूर्ववर्ती भाग ऋषि-भाषित और उत्तराध्ययन कहा जाता था ।

यह तो हुइ प्रश्नव्याकरण के प्राचीनतम प्रथम संस्करण की बात । अब यह विचार करना है कि प्रश्नव्याकरण के निमित्तशास्त्रप्रधान दूसरे संस्करणकी क्या स्थिति हो सकती है— क्या वह भी किसी रूप में सुरक्षित है ?

जहां तक निमित्तशास्त्र से सम्बन्धित प्रश्नव्याकरण के दूसरे संस्करण के अस्तित्व के होने का प्रश्न है— मेरी दृष्टि में वह भी पूर्णतया विलुप्त नहीं हुआ है, अपितु मात्र हुआ यह है कि उसे प्रश्नव्याकरण से पृथक कर उसके स्थान पर आश्रवद्वार और संवरद्वार नामक नई विषयवस्तु डाल दी गई है । श्री अगर-चन्दजी नाहटा ने जिनवाणी, दिसम्बर १९८० में प्रकाशित अपने लेख में प्रश्न-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरण नामक कुछ अन्य ग्रन्थों का संकेत किया है। 'प्रश्नव्याकरणाख्य जय-पायड' के नाम से एक ग्रन्थ मुनि जिनविजयजीने सिंघी जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थ क्रमांक ४३ में सम्बत् २०१५ में प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के आधार पर प्रकाशित किया गया है। ताड़पत्रीय प्रति खरतर-गच्छ के आचार्यशाखा के ज्ञानभण्डार जैसलमेर से प्राप्त हुई थी और यह विक्रम सम्बत् १३३६ की लिखी हुई थी। ग्रन्थ मूलतः प्राकृत भाषा में हैं और उसमें ३७८ गाथाएं हैं। उसके साथ संस्कृत टीका भी है। यह प्रकाशित ग्रन्थ पार्श्व-नाथ विद्याश्रम वाराणसी के पुस्तकालय में है। ग्रन्थ का विषय निमित्तशास्त्र से सम्बन्धित है। इसी प्रकार जिनरत्नकोश में भी शान्तिनाथ भण्डार खंभात में उपलब्ध जयपाहुड़ प्रश्नव्याकरण नामक ग्रन्थ की सूचना उपलब्ध होती है।[१७] यद्यपि इसकी गाथा संख्या २२८ बताई गई है। एक अन्य प्रश्नव्याकरण नामक ग्रन्थ की सूचना हमें नेपाल के महाराजा की लायब्रेरी से प्राप्त होती है। श्री अगरचन्दजी नाहटा की सूचना के अनुसार इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि तेरापन्थ धर्मसंघ के युवाचार्य मुनिश्री नथमलजीने प्राप्त कर ली है। इस लेख के प्रकाशन के पूर्व श्री जौहरीमलजी पारख, रावटी, जोधपुर के सौजन्य से इस ग्रन्थ की फोटो कापी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान को प्राप्त हो गई है। इसे अभी पूरा पढ़ा तो नहीं जा सका है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात हुआ कि इसकी मूलगाथाए तो सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित कृति के समान ही हैं, किन्तु टीका भिन्न है। इसकी एक अन्य फोटो-कापी लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद से भी प्राप्त हुई है। एक अन्य प्रश्न-व्याकरण की सूचना हमें पाटन ज्ञान भण्डार की सूचि से प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ भी चूड़ामणि नामक टीका के साथ है। और टीका का ग्रन्थांक २३०० श्लोक परिमाण बताया गया है। यह प्रति भी काफी पुरानी हो सकती है।[१८]

इस सब आधारों पर ऐसा लगता है कि प्रश्नव्याकरण का निमित्तशास्त्र से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धित संस्करण भी पूरी तरह विलुप्त नहीं हुआ होगा अपितु उसे उससे अलग करके सुरक्षित कर लिया गया है। यदि कोई विद्वान् इन सब ग्रन्थों को लेकर उनकी विषयवस्तु को समवायांग, नन्दीसूत्र एवं धवला में प्रश्न व्याकरण की उल्लिखित विषय सामग्री के साथ मिलान करे तो यह पता चल सकेगा कि प्रश्न-व्याकरण नामक जो अन्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे प्रश्नव्याकरण के द्वितीय संस्करण का ही अंश है या अन्य है। यह भी सम्भव है कि समवायांग और नन्दी के रचनाकाल में प्रश्नव्याकरण नामक कई ग्रन्थ वाचना-भेद से प्रचलित हो और उनमें उन सभी विषयवस्तु को समाहित किया गया हो, इस मान्यता का एक आधार यह है कि ऋषिभाषित, समवायांग, नन्दी एवं अनुयोगद्वार में 'वागरण-गंथा' एवं पण्हावागइणाइं'– ऐसे बहुवचन प्रयोग मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि इस काल में वाचनाभेद से या अन्य रूप अनेक प्रश्नव्याकरण उपस्थित रहे होंगे।

इन प्रश्नव्याकरणों की संस्कृत टीका सहित ताड़पत्रीय प्रतियां मिलना इस बात की अवश्य सूचक है कि ईसा की ४-५ वीं शती में ये ग्रन्थ अस्तित्व में थे क्योंकि ९–१० वीं शताब्दी में जब इनकी टीकाएं लिखि गईं, तो उसके पूर्व भी ये ग्रन्थ अपने मूल रूप में रहे होंगे।

सम्भवत: ईसा की लगभग २–३ री शताब्दी में प्रश्नव्याकरण में निमित्त-शास्त्र सम्बन्धी सामग्री जोड़ी गई हो और फिर उसमें से ऋषिभाषित का हिस्सा अलग किया गया और उसे विशिष्ट रूप से एक निमित्तशास्त्र का ग्रन्थ बना दिया गया। पुन: लगभग ७ वीं शताब्दी में यह निमित्तशास्त्रवाला हिस्सा अलग किया गया और उसके स्थान पर पांच आश्रव तथा पांच संवरद्वार वाला वर्तमान संस्करण रखा गया। जैसा कि मैंने सूचित किया कि प्रश्नव्याकरण के पूर्व के दो संस्करण भी चाहे उससे पृथक् कर दिये गये हों किन्तु वे ऋषिभाषित, उत्तरा-ध्ययन और प्रश्नव्याकरण नामक अन्य निमित्तशास्त्र के ग्रन्थों के रुप में अपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तित्व रख रहे हैं। आशा है, इस सम्बन्ध में विद्वत्वर्ग आगे और मन्थन करके किसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा।

प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित की विषयवस्तुकी समरूपता का प्रमाण

ऋषिभाषित और प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तुओं की एकरूपता का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण हमें ऋषिभाषित के पार्श्व नामक ३१ वें अध्ययन में मिल जाता है। इसमें पार्श्व की दार्शनिक अवधारणाओं की चर्चा है। इस चर्चा के प्रसंग में ग्रन्थकार ने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि व्याकरणप्रभृति ग्रन्थों में समाहित इस अध्ययन का ऐसा दूसरा पाठ भी मिलता है। यह मूलपाठ इस प्रकार है–

' वागरणगंथाओ पभिति सामित्तं
इमं अज्झयणं ताव इमो बीओ पाढो दिस्सति '–[१६]

इसका तात्पर्य तो यह है कि ऋषिभाषित की विषयवस्तु प्रश्नव्याकरण में भी समाहित थी। यद्यपि यह एक विवादास्पद प्रश्न होगा कि प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु से ऋषिभाषित का निर्माण हुआ या ऋषिभाषित की विषयवस्तु से प्रश्नव्याकरण का। लेकिन यह सुस्पष्ट है कि किसी समय प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित की विषयवस्तु समान थी और उनमें कुछ पाठान्तर भी थे। अतः वर्तमान ऋषिभाषित में प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का होना निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि मूल प्रश्नव्याकरण में पार्श्व आदि प्राचीन अर्हत् ऋषियों के दार्शनिक विचार एवं उपदेश निहित थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नव्याकरण और जयपायड की विषयवस्तु की आंशिक समानता

'प्रश्नव्याकरणाख्य जयपायड़' नामक जिस ग्रन्थ का हमने उल्लेख किया है, उसकी विषय सामग्री निमित्तशास्त्र से सम्बन्धित है। पुनः उसमें कर्ता ने तीसरी गाथा में 'पण्हं जयपायडं वोच्छं' कहकर के प्रश्नव्याकरण और जयपायड की समरूपता को स्पष्ट किया है।[२०] प्रस्तुत ग्रन्थ की इसी गाथा की टीका से ग्रन्थ की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि इसमें नष्ट-मुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखजीवनमरण' आदि सम्बन्धी प्रश्न हैं। इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि धवलाकार ने प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जिस रूप में उल्लेख किया है उसकी इससे बहुत कुछ समानता है।[२१] प्रस्तुत ग्रन्थ के विषयों में मुष्टिविभाग प्रकरण, नष्टिका चक्र, संख्या प्रमाण, लाभ प्रकरण, अस्त्रविभाग प्रकरण आदि ऐसे हैं जिनकी विषय वस्तु समवायांग में प्रश्नव्याकरण के वर्णित विषयों से यत्किंचित् साम्यता हो सकती है।[२२] दुर्भाग्य यह है कि प्रकाशित होते हुए भी विद्वानों को इस ग्रन्थ की जानकारी नहीं है। यह जैन निमित्तशास्त्र का प्राचीन एवं प्रमुख ग्रन्थ है।

ग्रन्थ की भाषा को देखकर सामान्यतया यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ईस्वी सन् की चौथी–पांचवी शताब्दी की हो सकती है। ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त पायड या पाहुड शब्द से भी यह फलित होता है कि यह ग्रन्थ लगभग पांचवी शताब्दी के आसपास की रचना होना चाहिए, क्योंकि कसायपाहुड़ एवं कुन्दकुन्द के पाहुड़ग्रन्थ इसी कालावधि के कुछ पूर्व की रचनाएं हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में भी विषयों का वर्गीकरण पाहुड़ों के रुप में हुआ है। अतः यह सम्भावना हो सकती है कि जयपायड़ प्रश्नव्याकरण के द्वितीय संस्करण का कोई रुप हो, यद्यपि इस सम्बन्ध में अन्तिमरूप से तभी कुछ कहा जा सकता है जब प्रश्न-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरण के नाम से मिलनेवाली सभी रचनाएं हमारे समक्ष उपस्थित हों और इनका प्रमाणिकरूप से अध्ययन किया जाये।

विषय सामग्री में परिवर्तन क्यों ?

यद्यपि यहां यह प्रश्न स्वाभाविकरूप से उठता है कि प्रथम ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित आदि भाग को हटाकर उसमें निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण रखना और फिर निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण हटाकर आश्रवद्वार और संवरद्वार सम्बन्धी विवरण रखना—यह सब क्यों हुआ ? सर्वप्रथम ऋषिभाषित आदि भाग क्यों हटाया गया ? मेरी दृष्टि में इसका कारण यह है कि ऋषिभाषित में अधिकांशत: अजैन परम्परा के ऋषियों के उपदेश एवं विचार संकलित थे—इसके पठन पाठन से एक उदार दृष्टिकोण का विकास तो होता था किन्तु जैन-धर्म संघ के प्रति अटूट श्रद्धा खण्डित होती थी तथा परिणाम स्वरूप संघीय व्यवस्था के लिए अपेक्षित धार्मिक कट्टरता और आस्था टिक नहीं पाती थी। इससे धर्मसंघ को खतरा था। पुन: यह युग चमत्कारों द्वारा लोगों को अपने धर्मसंघ के प्रति आकर्षित करने और उनकी धार्मिक श्रद्धा को दृढ करने का था—चूंकि तत्कालीन जैन परम्परा के साहित्य में इसका अभाव था, अत: उसे जोडना जरूरी था। समवायांग में प्रश्नव्याकरण सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध है उससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है—उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि लोगों को जिनप्रवचन में स्थित करने के लिए, उनकी मति को विस्मित करने के लिए सर्वज्ञ के वचनों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए इसमें—महाप्रश्नविद्या, मन:प्रश्नविद्या, देवप्रयाग आदि का उल्लेख किया गया है। यद्यपि यह आश्चर्य-जनक है कि एक ओर निमित्तशास्त्र को पापसूत्र कहा गया—किन्तु संघहित के लिए दूसरी ओर उसे अंग आगम में सम्मिलित कर लिया गया क्योंकि जब तक उसे अंग साहित्य का भाग बनाकर जिनप्रणीत नहीं कहा जाता तब तक लोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की आस्था उस पर टिक नहीं पाती और जिनप्रवचन की अतिशयता प्रकट नहीं होती। अतः प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु में परिवर्तन करने का दोहरा लाभ था— एक ओर अन्यतीर्थिक ऋषियों के वचनों को उससे अलग किया जा सकता था और दूसरी ओर उसमें निमित्तशास्त्र सम्बन्धी नई सामग्री जोडकर उसकी प्रामाणिकता को भी सिद्ध किया जा सकता था। किन्तु जब परवर्ती आचार्यों ने इसका दुरुपयोग होते देखा होगा और मुनिवर्ग को साधना से विरत होकर इन्हीं नैमित्तिक विद्याओं की उपासना में रत देखा होगा तो उन्होंने यह नैमित्तिक विद्याओं से युक्त विवरण उससे अलग कर उसमें पांच आश्रवद्वार और पांच संवरद्वार वाला विवरण रख दिया। प्रश्नव्याकरण के टीकाकार अभयदेव एवं ज्ञानविमल ने भी विषय परिवर्तन के लिए यही तर्क स्वीकार किया है।[२३]

प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु कब उससे अलग कर दी गई और उसके स्थान पर पांच आश्रवद्वार और पांच संवरद्वार रूप नवीन विषयवस्तु रख दी गई यह प्रश्न भी विचारणीय है? अभयदेवसूरीने अपनी स्थानांग, और समवायांग की टीका में भी यह स्पष्ट निर्देश किया है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण में इनमें सूचित विषयवस्तु उपलब्ध नहीं है।[२४] मात्र यही नहीं, उन्होंने पांच आश्रवद्वार और पांच संवरद्वार वाले वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण पर ही टीका लिखि है। अतः वर्तमान संस्करण की निम्नतम सीमा अभयदेव के काल अर्थात् ईस्वी सन् १०८० से पूर्ववर्ती होना चाहिए। पुनः अभयदेवने प्रश्नव्याकरण में एक श्रुतस्कन्ध है या दो श्रुतस्कन्ध है इस समस्या को उठाते हुए अपनी वृत्ति की पूर्वपीठिका में अपने से पूर्ववर्ती आचार्य का मत उद्धृत किया है— दो सुयसंधा पण्णता आसवदारा य संवरदार य—। अभयदेवने पूर्वाचार्य की मान्यता को अस्वीकार भी किया है और यह भी कहा है कि यह दो श्रुत स्कन्धों की मान्यता रूढ़ नहीं है।[२५] सम्भवतः उन्होंने अपना एक श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी मत समवायांग और नन्दी के आधार पर बनाया हो। इसका अर्थ यह भी है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि अभयदेव के पूर्व भी प्रश्नव्याकरण के वर्तमान संस्करण पर प्राकृत भाषा में ही कोई व्याख्या लिखी गई थी जिसमें दो श्रुतस्कन्ध की मान्यता को पुष्ट किया गया गया था। उसका काल अभयदेव से २–३ शताब्दी पूर्व अर्थात् ईसा की ८ वीं शताब्दी के लगभग अवश्य रहा होगा। पुनः आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने नन्दीसूत्र पर शक सम्वत् ५९८ अर्थात् ईस्वी सन् ६७६ ई० में अपनी चूर्णी समाप्त की थी। उस चूर्णी में उन्होंने प्रश्नव्याकरण में पंचसंवरादि की व्याख्या होने का स्पष्ट निर्देश किया है।[२६] इससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि ईस्वी सन् ६७६ के पूर्व प्रश्नव्याकरण का पंच संवरद्वारों से युक्त संस्करण प्रसार में आ गया था, अर्थात् आगमों के लेखनकाल के पश्चाद् लगभग सौ वर्ष की अवधि में वर्तमान प्रश्नव्याकरण अस्तित्व में अवश्य आ गया था। प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण की प्रथम गाथा, जिसमें 'वोच्छामि' कहकर ग्रन्थ के कथन का निश्चय सूचित किया गया है, की रचना शेष सभी अंग आगमों के प्रारम्भिक कथन से बिलकुल भिन्न है। यह ५ वीं ६ ठीं शताब्दी में रचित ग्रन्थों की प्रथम प्राक्कथन गाथा के समान ही है। अतः प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण रचनाकाल ईसा की छट्ठी शताब्दी माना जा सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह प्रश्नव्याकरण जिसमें उसकी विषयवस्तु ऋषिभाषित की विषयवस्तु के समरूप थी, प्राचीनतम संस्करण है जो लगभग ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचना होगी। फिर ईसा की दूसरी–तीसरी शताद्वी में उसमें निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण जुड़े जिनकी सूचना उसके स्थानांग के विवरण से मिलती है। ईसके पश्चात् ईसा की चौथी शताद्वदी में ऋषिभाषित आदि भाग अलग किये गये और उसे निमित्तशास्त्र का ग्रन्थ बना दिया, समवायांग का विवरण इसका साक्षी है। इस काल में प्रश्नव्याकरण के नाम से वाचनाभेद से अनेक ग्रन्थ अस्तित्व मे थे ऐसी भी सूचना हमें आगम साहित्य से मिल जाती है। लगभग ईसा की ६ ठी शताद्वी के उत्तरार्ध में इन ग्रन्थों के स्थान यर बर्तमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नव्याकरणसूत्र का आश्रव एवं संवर के विवेचन से युक्त वह संस्करण अस्तित्व में आया है जो वर्तमान में हमें उपलब्ध है। यह प्रश्नव्याकरण का अन्तिम संस्करण जहां तक प्रश्नव्याकरण के उपर्युक्त दो प्राचीन लुप्त संस्करणों की विषयवस्तु का प्रश्न है, उसमें से प्रथम संस्करण की विषयवस्तु अधिकांश रूप से एवं कुछ परिवर्तनों के साथ वर्तमान में उपलब्ध ऋषिभाषित (इसिभासियाइं), उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग एवं ज्ञाताधर्मकथा में समाहित है। द्वितीय निमित्तशास्त्र सम्बन्धी संस्करण की विषयवस्तु, जयपायड और प्रश्नव्याकरण के नाम से उपलब्ध अन्य निमित्तशास्त्रों के ग्रन्थों में हो सकती है। यद्यपि इस सम्बन्ध में विशेष-रूप से शोध की आवश्यकता है। आशा है विद्वद्जन इस दिशा में ध्यान देंगे।

सन्दर्भ

१—पण्हावागरणेसु अट्ठुत्तरं पसिणसयं अट्ठुत्तरं अपसिणसयं अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं विज्जाइसया नाग—सुवन्नेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति—समवायांगसूत्र, ५४६

२—वागरणगंथाओ पभिति..... । इसिमासियाइं—३१

३—पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—उवमा, संख, इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं, महावीरभासियाइं, खोमगपसिणइं, कोमलपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं।—स्थानांगसूत्र १०/११६

४—से किं तं पण्हावागरणाणि? पण्हावागरणेसु अट्ठुत्तरं पसिणसयं अट्ठुत्तरं अपसिणसयं अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं विज्जाइसया नाग—सुवन्नेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति।

५—पण्हावागरणदसासु णं ससमय परसमय पण्णवय—पत्तेअबुद्ध—विविहत्थभासा-भासियाणं अइसयगुण—उवसम—णाणप्पगार—आयरियभासियाणं वित्थरेणं, वीरम-हेसीहिं विविहवित्थरभासियाणं च जगहियाणं जद्दागंगुट्ठ—बाहु—असि—मणि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

-खोम-आइच्चभासियाणं विविहमहापसिणविज्जा-मणपसिणविज्जा-देवयपयोग-पहाग-गुणप्पगासियाणं सब्भूयदुगुणप्पभाव-नरगणमइविम्हयकराणं अइसयमइ-यकालसमय-दम-सम-तित्थकरुत्तमस्स ठिइकरणकारणाणं दुरहिगम-दुरवगाहस्स सव्वसव्वन्नुसम्मजस्स अबुह-जण-विवोहणकरस्स पच्चक्खयपच्चयकराणं पण्हाणं विविहगुणमहत्था जिणवरप्पणीयाआघविज्जंति ।

पण्हावागरणेसु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखे-ज्जाओ संगहणीओ ।

से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणया-लीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाणि पयसयसहस्साणि पयग्गेणं पण्णत्ताइं । संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा. परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासया विकडा णिबद्धा णिकाइया जिणपण्णत्ता भाषा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परू-विज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्ज ति । से एवं आया, से एवं णाया, एवं विण्णया, एवं चरण-करणपरूवणया आघविज्ज ति । से त्त पण्हावागरणइं १० ।

-समवायांगसूत्र ५४६-५४९

५-से किं तं पण्हावागरणइं ? पण्हावागरणेसु णं-अट्ठुत्त पसिणसयं, अट्ठुत्तरं अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं, तंजहा-अगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं अद्दागपसिणाइं, अन्नेवि विचिता विजयाइसया, नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जन्ति ।

पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ, संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए दसमें अंगे, एगे सुयक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्देसणकाला, पणयालीसं सुमुद्देशणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणन्ता पज्जवा, परित्ता तसा, अणन्ता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पण्णविज्जन्ति, परूविज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति ।

से एवं आया, एवं नया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरण परूवणा आघविज्जई. सत्तं पण्हावागरणाइं । — नन्दीसत्र,[५४]

६—आक्षेपविक्षेपैर्हेतुनयाश्रितानां प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, तस्मिल्लोकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयः— तत्वार्थवार्तिक १।२० (पृष्ठ ७३–७४)

७—अक्खेवणी विक्खेवणी संवेयणी णिव्वेयणी चेदि चउव्विहाओ कहाओ वज्णेदि तत्थ अक्खेवणी नाम छद्दव्व–णव पयत्थाणं सरूवं दिगंतरसमयांतर–णिराकरणं मुद्दिं करेंती परूवेदि ।

विक्खेवणी णाम परसमएण ससमयं दूसंती पच्छा दिगंतरसुद्धिं करंती ससमयंथावंती छद्दव्वा–णवपयत्थे परूवेदि ।

संवेयणी णाम पुण्णफलसंकहा । काणि पुण्णफलाणि ? तित्थयर–गणहर–रिसि–चक्कवट्टि–बलदेव –सुर–विज्जाहररिद्धीओ ।

णिव्वेयणी णाम पावफलसंकहा । काणि पावफलाणि ? णिरय–तिरिय–कुमाणुसजोणीसु जाइ–जरा–मरण–वाहि–वेयणा– दालिद्दादीणि । संसारसरीरभोगेसु वेरग्गुप्पाहणी णिव्वेयणीणा.....।

पण्हाओ हद-नट्ठ-मुट्ठि-चिंता-लाहालाह-सुह-दुक्ख-जीविय–मरण–जय–पराजय–णाम–दव्वासु–संखं च परूवेदि ।

–धवला, पुस्तक १, भाग १, पृष्ठ १०७–८

८—वागरणगंथाओ पभिति जाव सामित्तं हमं अज्झयणं ताव इमो बीओ पाढो दिस्सति, तंजहा : — इसिभासियाइं अध्याय ३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९.–नवविहे पावसुयपसंगे पण्णत्ते, तं जहा–

उप्पाए, नेमित्तए, मत्ते, आइक्खए, तिगिच्छीए ।

कलावरण–अन्माणे, मिच्छापावयणत्तिय ।। –स्थानांग, ९ स्थान

१०–पत्तेयबुद्धमिसिणो बीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स

पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स

–इसिभासियाइं पठमा संगहणी गाथा, १

११–चोयालीसं अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुया भासिया पण्णत्ता ।

–समवायांगसूत्र ४४।२५८

१२–अंगट्ठाए दसमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा

–नन्दीसूत्र–५४

१३– (क) पदग्गं दीणउतिलक्खा सोलस य सहस्सा ।

–णन्दीचूर्णि

(ख) द्विनवतिलक्षाणि षोडश च सहस्राणि ।

–समवायांगवृत्ति

१४–पण्हवायरणो णाम अंग तेणउदिलक्ख–सोलससहस्सपदेहि ।

–धवला, भाग–१, पृ० १०४

१५–समवायांग–५४७

१६–समवायांग–५४७

१७–प्रश्नव्याकरण जयप्राभृत, (ग्रन्थ० २२८), जैन ग्रन्थावली पृ० ३५५,

(अ) चूडामणिवृत्ति (ग्रन्थ २३००), पाटन केटलोग, भाग १, पृ. ८

(ब) लीलावती टीका, पाटन केटलोग, भाग १, पृ. ८ एवं इन्ट्रोडक्शन, पृ. ६.

(स) प्रदर्शनज्योतिर्वृत्ति, पाटन केटलोग, भाग १, पृ. ८ एवं इन्ट्रोडक्शन, पृ. ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहद्वृत्तिटिप्पणिका (जैन साहित्य संशोधक, पूना १९२५, क्रमांक ५६०), जैन ग्रन्थावली, पृ. ३५५ –जिनरत्नकोश, पृ. २७४.

१८–जिनरत्नकोश, पृ. २७४

१९–इसिभासियाइं, अध्याय ३१, पृ. ६९ (शुब्रिंग)

२०–महमाहप्पुप्पायं, भुवणब्भंतरपवंत (वत्त) वावारं ।
अइसयपुण्णं णाणं, पण्हं जयपांयडं वोच्छं ॥
– प्रश्नव्याकरणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्र ३

२१–नष्टमुष्टिचिन्ता–लाभालाभ–सुख–दुःख–जीवित–मरणाभिव्यजंकत्वम् ।
–प्रश्नव्यारणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम्–टीका ।
तुलनीय–पण्हादो हद–नट्ठ–पुट्ठि–चिंता–लाहालाहथसुह–दुक्ख–जीविय –मरण–जथ–णाम–दव्वायु–संखं च परूवेदि ।
– धवला, भाग १, पृ. १०७–८

२२–देखें–प्रकरण १४, १७, २१, ३८–प्रश्नव्याकरणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम्

२३–(अ) अतिशयानां पूर्वाचार्यैरेदंयुगीनानामपुष्टालम्बनप्रतिषेविपुरुषापेक्षयोत्तारितत्वादिति । – प्रश्नव्याकरण वृत्ति (अभयदेव) प्रारम्भ ।

(ब) पूर्वाचार्यैरेदंयुगीनपुरुषाणां तथाविधहीनहीनतरपाण्डित्यबलबुद्धिवीर्यापेक्षया पुष्टालम्बनमुद्दिश्य प्रश्नादिविधास्थाने पंचाश्रय–संवररूपं समुत्तारितम् । –प्रश्नव्याकरण टीका (ज्ञानविमल), प्रारम्भ ।

२४– (अ) प्रश्नानां विद्याविशेषणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपरा दशा –दशाध्ययनप्रतिबद्धाः ग्रन्थपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशाः । अयं च व्युत्पत्त्यर्थो स्य पूर्वकाले भूत् । इदानीं त्वाश्रवपंचक–संवरपंचकव्याकृतेरेवेहोपलभ्यते । –प्रश्नव्याकरण वृत्ति (अभयदेव) प्रारम्भ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ब) प्रश्नाः अंगुष्ठादि प्रश्नविद्या व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते अस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणम् एतादृशं पूर्वकाले भूत। इदानीं तु आश्रव–संवर-पंचकव्याकृतिरेव लभ्यते।

–प्रश्नव्याकरण टीका (ज्ञानविमल) प्रारम्भ।

२५–शकराज्ञो पंचसु वर्षशतेषु व्यतिक्रांतिषु अष्टनवतेषु नंद्यध्ययनचूर्णी समाप्ता॥

–नन्दीचूर्णि (प्रावृत–देवस्ट–सोंसायटी)।

पाठान्तर–सकराजाती पंचसु वर्षशतेषु नन्द्यध्ययनचूर्णी समाप्ता॥

–नन्दी चूर्णि (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम)।

२६–तम्हि पज्झावागरणे बंगे पंचासवदाराइं वा व्यास्थेयाः परप्पवादिगे य।

–णंदीसुत्तचूर्णि –पृ० ६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

VIPĀKA SŪTRA - SOME CHRONOLOGICAL CONSIDERATIONS

Prof. R. N. Mehta, Ahmedabad.

Introduction :

Vipāka Sūtra or Vivāga Suyaṁ, the eleventh Aṅga is a text of twenty Adhyayanas of 1216 Śloka length. These are divided in ten Dukhavipākas and ten Sukhavipākas.

The complete Aṅga literature according to the Śvetāmbara tradition consists of twelve Aṅgas : the Ācārāṅga etc. Dṛṣṭivāda, the last one however does not exist.

These twelve are jointly known as 'Gaṇipiḍaga' or Gaṇipiṭaka. This term seems to be derived from the Buddhist works, the Tripiṭakas.

Problem :

In the present stage of information there is a difference of opinion about the existence of the survival of original teachings of Mahāvīra. The śvetāmbara tradition asserts that the meaning of the original teaching of Mahāvīra has survived. The Gaṇadharas had preserved it and this tradition continues, so the literature chronologically refers to a period of circa 5th cent. B.C.

It is to be noted that often the verbal tradition continues for many generations and therefore, the claim of the continuation of the basic concepts of the teaching of Mahāvīra rests on sound experience.

However the Śvetāmbara tradition asserts that the canonical literature passed through the following stages. The tradition was finally collated at Mathurā. It was reedited by Nāgārjuna at Valabhi, the capital of the Maitrakas. At this place, the edition of Mathurā known as 'Māthurī Vācanā' was committed to writing.

Thus it is clear that the tradition notes that the Aṅgas were committed to writing at Valabhi. Chronologically this event took place prior to the 8th century A.D. when Valabhi suffered heavily and Maitraka dynasty was wiped out.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

It is, therefore, significant that the canonical literature would reflect the oral tradition of Māthurī Vācanā, and the written tradition of Valabhī Vācanā. However a perusal of the text of Vipāka Sūtra does not suggest that this conclusion is valid, as there are some elements of later date in it.

They therefore raise a doubt about the chronology of Vipāka Sūtra. An effort is made to study this problem.

Method.

The method used to study this problem is the examination of the period of the text and that of the commentaries of the text and comparision of the data available from other sources. On the basis of this examination, an effort is made to draw the possible conclusions.

Text :

The examination of the text of Vipākasūtra is based on the work of Āgamodaya Samiti and also is based on the Vipāka Sūtra of Madhukar-Muni edition printed by Āgama Prakāśana Samiti, Beawar, in 1982 A.D.

It has an excellent introductory study by Devendra Muni Śāstrī, In this study the chronology of the text is not discussed. However on p. 12 it has been noted that Sthānāṅga 10.111 notes ten Adhyayanas of Dukhavipāka. He has noted the difference of these Adhyayanas. It is tabulated here for comparision.

Adhyayanas of Vipāka according to the Sthānāṅga	Adhyayanas of Vipāka according to the Present text.
1. Mṛgāputra	1. Mṛgāputra
2. Gotrāsa	2. Ujjhitaka
3. Aṇḍa	3. Abhayasena
4. Śakaṭa	4. Śakaṭa
5. Brāhmaṇa	5. Bṛhaspatidatta
6. Nandiṣeṇa	6. Nadīvardhana
7. Śaurika	7. Umdradatta
8. Udumbara	8. Śaurikadatta
9. Sahasroddāha Ābharika	9. Devadattā
10. Kumāralicchai	10. Aṅgu

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Sthānāṅga is silent about the second Śrutaskandha. The Samavāyāṅga does not give the names of the Adhyayanas but it knows twenty Adhyayanas. This is the exact number of the present text. The Sukhavipāka of Vipākasūtra notes (1) Subāhukumāra, (2) Bhadranandi (3) Sugatakumāra (4) Suvāsavakumāra (5) Jinadāsa (6) Dhanapati (7) Mahābala (8) Bhadranandi (9) Mahāchandra and (10) Varadatta.

It is significant to note that Sthānāṅga and Nandisūtra are silent about the second part of the Vipāka sūtra. The Samavāyāṅga knew the twenty Adhyayanas, but it has not given the titles of the Adhyayanas of the text. There is a discrepancy in the number of the padas of the existing text and those noted in the Samavāyāṅga and Nandisūtra. These discrepancies require interpretations.

The interpretation offered by Devendramuni Śāstri on p. 12 on the basis of Sthānāṅga Vṛtti is that the second Srutaskandha is discussed elsewhere. This interpretation does not consider chronology. So this aspect requires an analysis of the available data.

Analysis :

Analysis of the textual data presents the chronological problems as indicated here.

1. The Sthānāṅga and the Samavāyāṅga knew a text of the Vipāka Sūtra. The Sthānāṅga knew a text of ten Adhyayanas, whereas the Samavāyāṅga had the knowledge of twenty Adhyayanas.
2. The present text differs in arrangement and length from the one known to the Sthānāṅga. If this arrangement that is noted above is compared, it becomes clear that the first nine Adhyayanas have some similarity. But the last is known in the Sthānāṅga as Kumāra licchai. In the present text, the story has no reference to licchai.

These facts suggest the differences and they require some chronological considerations. They are listed here.

1. There is a difference between the notice of the text in Sthānāṅga and the one available. When did this difference develop ?
2. The Sthānāṅga knew only ten Adyayanas, while the Samavāyāṅga notes twenty Adhyayanas. This difference indicates that

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the text of Vipāka was changed or reedited. When did this change occur ?

These considerations indicate some possible answers. Logically they point to two positions.

1. The presext text of twenty Adhyayanas was reedited and text having twenty Adhyayanas known to Samavāyāṅga was prepared. This situation indicates some time gap.
2. It is highly probable that the second Śrutaskandha was added at the time of reediting, and the changes introduced, so that the present text differs from that noted in the Sthānāṅga.

This logical position requires further study on the following lines.

1. Search of MSS. of the text and its commentaries.
2. Study of the internal aspects of the text from chronological view point.

The Āgamas are being studied for more than a century. The tremendous efforts of Muni Shri Puṇyavijayaji and a number of scholars in the search of manuscripts have not led to the discovery of any text of Vipāka Sūtra that might pre-date 10th century A.D. This tremendous effort suggest that this line of inquiry might not yield any fruit, but one might continue this effort.

In our country, the logical argument that such a situation indicates is beset with unsurmountable difficulties and hence it should not be followed for establishing exact chronology of a work of a long tradition, so the problems arising out of this line of investigation be kept open.

The analysis of the present text is also highly significant. It deals with Dukhavipāka and Sukhavipāka. The first Śrutaskandha dealing with dukhavipāka notes bad condition of the present life, and its causes are pointed out to be in the past life of the individual. Hope is given that in future life the individual would gain emancipation. This text deals with the illustrations of dukhavipāka in the first Śrutaskandha and Sukhavipāka in the second Śrutaskandha. Thus the whole text is a good commentary on the principles of Karmavipāka.

The first Śrutaskandha offers the Karmavipāka of past life as an explanation of the sufferings of the present life. The first and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the sixth Adhyayanas indicate that Mṛgāputra and Nandīvardhana suffered due to their misdeeds as an administrator and a jailor. These are therefore directed against administrative misbehaviour. The Adhyayanas 2, 3, 4, and 8 are directed against non-vegetarian diet, cooking of meat, selling of eggs etc. The seventh Adhyayana of Udumbaradatta is directed against the medical practice of recommending the use of meat for curing illness. The fifth Adhyayan of Bṛhaspatidatta emphasises the evil effects of Human sacrifice for the victory of the rulers.

Thus these six Adhyayanas are illustrations of the Karmavipāka of Hiṁsā in some form or other.

The major thrust of the last two Adhyayanas is against abuse of sex. The ninth Adhyayana dealing with the present life of Devadattā and her misfortune indicates that in past life she was a prince Simhasena who neglected his 499 wives for one of his wife Śyāmā. The tenth Adhyayana deals with the life of Pṛthviśrī, a gaṇikā, who used tantric practices for satisfying her desires.

Summarising these Adhyayanas, their principal objectives could be classified as follows :-

1.	Mal administration	20%
2.	Hiṁsā due to eating, business etc.	60%
3.	Abuse of sex	20%
		100%

Further study on this basis suggests that the stories emphasise the moral of Ahiṁsā, Satya and possibly Brahmacarya.

Incidentally, the first Śrutaskandha provides some glimpses into a number of social practices that are utilized in the Vipāka Sūtra.

If one analyses the Adhyayanas connected with state craft one finds that in the first Adhyayana, the story of Raṭṭhakūḍa Ekkai is narrated. Here in the sections 20–24, the term Raṭṭhakūda is noted thirteen times. This Adhyayana directly deals with general administration. In other Adhyayanas the names of rulers are noted, but their dynastic names do not appear. This situation leads one to inquire into the question, as to why only one dynastic name, the Raṭṭhakūda has been given this prominence ? Raṭhakūḍa is sankritised as Rāṣṭrakūṭa by Abhayadeva, the earliest commentator. This

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

is an administrative term denoting local chiefs, district officers and big land-lords. One of their families became the Rāṣṭrakūṭa rulers.

Period of Commentaries. :

The answer rests on two considerations. One of them is the logical conclusion that the present text is later than its reference in the Sthānāṅga Sūtra. The second consideration is based on the available commentaries.

Significantly, the commentaries on Aṅga texts are Niryuktī, Bhāṣya, Cūrṇi, and ṭikā, and commentaries in different modern languages. These also form a chronological order. The earliest commentary available for the Vipāka-Sūtra is that of Abhayadeva of the 11th/12th centuries A.D.

If one relies on this piece of evidence, the chronological position of the Vipāka text lies between the Sthānāṅga text and 11th/12th centuries A.D. The date of sthānāṅga also requires to be closely examined, but if one relies on the tradition of Valabhi Vācanā, its date is prior to the 8th century A.D. Thus the Vipāka text of the present day would be between the Sthānāṅga and Abhayadeva. It is therefore, reasobale to arrive at a time gap of circa 8th to 11th century A.D. for the present text. This is a time span of about four hundred years. Can it be reduced ? Is there any other evidence to support the conclusion ?

Comparision of other data :

The answer lies in the study of socio-political situation of this period. Interestingly, this period of 8th and succeeding centuries is marked by the disappearance of older states and emergence of the new powers of the Gurjaras, Pālas, Rāṣṭrakūṭas and Cholas in differnt parts of India.

In Western India, Valabhi, where the Jain Āgama texts were committed to writing was destroyed by the Arabs. Its fall as a capital of the Maitrakas led to the migration of the Jains, The conquerors of Valabhi were defeated by Avanijanāśraya Pulakeśi-rāja near Navasari in south Gujarat. These Calukya rulers were defeated by the Rāṣtrakūṭas, who were powerful in Mahārāṣṭra, Gujarāt and Karṇāṭak in the period of 8th-10th centuries.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The power of Rāṣṭrakūṭas was responsible for stability and patrouage to learning. Their copper-plates refer to Śiva, Viṣṇu, Buddha and Jaing. Rulers like Amoghavarṣa I and Indra IV were attracted to Jainism. These are interesting aspects of the socio-political situation that are noted in Harivaṁśa purāṇa of Jinesena. The work was completed in śaka 705 when Śrīvallabha, the son of Indra was ruling in the south.

In this situation the period suggested by the analysis of chronological aspects seems to be favourable for literary activities. The references of the first Adhyayana of the Vipākasūtra require some consideration.

It has been already noted that the first Adhyayana deals with the life of Ekkai who was a savant of a ruler Dhanavayi. Ekkai was ruling over 500 villages of Vijayavardhana Kheḍa. It is seen that no Rāṣṭrakūta ruler is known as Dhanavayi. However Dhanavayi is the Prakrit form of Dhanapati which could give a sense of Śrīvallabha. Such use of synonyms is a well known literary device.

This is an epithet of Govinda as could be seen from the Torakhade grant where the Rāṣṭrakūta ruler Govindarāa is noted as "Śrīvallabha Narendra" in śaka 735=812 A.D. The sanjan plates of Amoghavarṣa of Śaka 793=871 A,D. also note him as "Śrīvallabha Narendradeva". From these epithets of these rulers it is clear that the name Dhanavayi of the ruler is possibly the use of an epithet of the Rāṣtrakūṭa rulers.

The practice of giving numbers to the areas is also very common in rhis period, as could be noted in Siharākhī Dvādasa, Aṅkoṭṭaka Caturaśīti etc.

The notice of Raṭhakūda for 13 times in the Vipāka Sūtra also indicates the intention of the editor of the text. Thus even though Raṭhakuḍa is a general term for local officers, it is highly probable that it was used in the story during the Rāṣṭrakūṭa period.

Conclusions :

Thus the references in the Aṅga texts, the conditions of the commentaries and the prevailing conditions of Indian socio-political situation leads one to the following conclusions :-

1. The notice in the Sthānāṅga indicates the existence of Vipāka text of ten Adhyayanas only. If the story of Mṛgāputra as

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

noted in the present text be found in the same form as it is today then it will indicate the chronology of Sthānāṅga also. Samavāyāṅga is later than Sthānāṅga and it is either contemporary to the present text of Vipāka or of a little later date. Interestingly a comparision of the description of Mṛgāputra wtth that of Guptika of Avadāna śatakam suggests a close similarity not only of descriptions but also of the moral of the story. Avadāna story is comparatively simple.

2. The present Vipāka sūtra is a later text. When it was reedited the order of the Adhyayanas was changed and second śrutaskandha was added.
3. This change seems to have occured during the period of the Rāṣṭrakūṭas in the 8th/10th centuries A.D. If one considers the inclinations of Amoghavarṣa it is possible that this change took place in the later part of 9th century A.D.
4. The 9th and 10th Adhyayanas where the future lives of Devadattā and Anju are noted, it is clearly indicated that they were born as males before emancipation. This is a clear reference to the Digambara practice, that has infiltered in the Śvetāmbara text.
5. The present text of the Vipākasūtra was completed latest by the 10th century A.D. so that it was available to Abhayadeva for commenting.
6. Fresh study of this and other Aṅga texts is essential for clearing cultural and chronological situation.
7. Such a study wiil help in understanding the literary activities in better light.

References

1. Madhukar Muni (Ed.) Vipāka Sūtra, also Vipākasūtra of Śriman Mukti Kamal Jain Mohanmālā, Vadodara, vol 38, saṁvat 1993 = 1937 A.D.
2. Mohanlal Mehta Jain Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, vol. III
3. A. S. Altekar, Rāṣṭrakūṭas and Their Times.
4. R. C. Majmudar etc. Age of Imperial Kanauj.
5. Acarya G. V. Gujarāt Nā Aitihāsik Lekha. vol II
6. Epigraphia Indica, vol III, p. 53
7. Epigraphia Indica. vol. XVIII, p. 235
8. P. L. Vaidya (ed.) Avadāna Śatakam, p. 247 ff.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

રાજપ્રશ્નીયસૂત્રમાં નાટ્યતત્ત્વ

ડૉ. જાગૃતિ પંડ્યા, અમદાવાદ

ત્યાગ, વૈરાગ્ય અને અધ્યાત્મને પ્રાધાન્ય આપતા જૈનધર્મમાં સંગીત તથા નૃત્યની જેમ નાટક પણ આગવું સ્થાન ધરાવે છે. નાટ્યવિધિ એ ભક્તિયોગનું સર્વોત્તમ અંગ હોઈ, ભક્તિના શ્રેષ્ઠ પ્રકારરૂપ નાટક પૂજામાં પણ સ્થાન પામ્યું હતું. આ નાટકપૂજામાં સંગીતના સાજ સાથે ભાવવાહી નૃત્ય કરાતું. એટલે કે, નૃત્યના પાંચ પ્રકારો પૈકી એક એ નાટક–એમ કહી શકાય. આવાં નાટક જાહેર વ્યાખ્યાનના સ્થળે ભજવાતાં હોય છે, જે બોધપ્રધાન હોવાની સાથે ધર્મને પણ પુષ્ટિ આપનારાં હોવાથી જૈનધર્મમાં મહત્ત્વપૂર્ણ સ્થાન પામે છે.

જૈન સાહિત્યના પ્રાચીનમાં પ્રાચીન ગ્રંથ તે આગમ. આ આગમ-ગ્રંથોમાં પણ નાટ્યતત્ત્વનું નિરૂપણ પ્રાપ્ત થાય છે. જેમ કે–જૈન આગમોના બીજા મહત્ત્વપૂર્ણ ઉપાંગ – 'રાજપ્રશ્નીયસૂત્ર'–માં સૂર્યાભદેવે મહાવીરસ્વામી સમક્ષ ૩૨ પ્રકારનાં નાટકો કરી બતાવ્યાનું જણાવ્યું છે. 'વિવાહપણણત્તિ' નામના પાંચમા અંગમાં, ઈશાન ઇન્દ્રનો અધિકાર વર્ણવતાં–જહેવ રાયપ્પસેણઇજ્જે जाव दिव्वं देविड्ढिं जाव– એવો ઉલ્લેખ છે.[૧] જૈન આગમોના દસમા ઉપાંગ –'પુપ્ફિયા' –માં સૂર્યાભદેવની જેમ ચંદ્ર નામે ઇન્દ્ર, સૂર્ય, શુક્ર, બહુપુત્રિકા દેવી, પૂર્ણભદ્ર, મણિભદ્ર, દત્ત, શિવ, બલ, અને અનાદત (અનાદૃય) વગેરેએ મહાવીર સ્વામી સમક્ષ નાટ્યવિધિ બતાવ્યાનો ઉલ્લેખ છે.[૨] અન્ય આગમોમાં પણ અનેક સ્થળે નાટ્યવિધિ અંગે ઉલ્લેખ મળે છે. જેમ કે, 'ઉત્તરાધ્યયન'ની વૃત્તિ[3] અનુસાર– જ્યારે બ્રહ્મદત્ત ચક્રવર્તી પદ પર બેઠો તો તેની સામે એક નટે મધુકરી ગીત નામની નાટ્યવિધિ પ્રદર્શિત કરી, (ઉત્તરાધ્યયન ટીકા–૧૩. પૃ. ૧૯૬) તથા, સૌધર્મ ઇન્દ્રની સામે સુધર્મા સભામાં 'સૌદામિની' નાટક કરવાનો પણ ઉલ્લેખ છે. (ઉત્તરાધ્યયન ટીકા–૧૮ પૃ. ૨૪૦ અ.)[૪] વળી, 'જીવાભિગમ'માં વિજયદેવનો અધિકાર વર્ણવતાં, (સૂત્ર – ૧૪૧) કેટલીક નાટ્યવિધિનો ઉલ્લેખ છે. આ નાટ્યવિધિઓ 'રાજપ્રશ્નીયસૂત્ર'માં

8. Seminar on Jain Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

આવતી નાટ્યવિધિઓથી જુદી નથી. તે 'રાજપ્રશ્નીય'માંની ૨૨ થી ૩૧ સુધીની નાટ્યવિધિઓ છે. 'જીવાભિગમ'ની ટીકામાં મલયગિરિએ 'રાજ-પ્રશ્નીય'ગત ૩૨ નાટ્યવિધિઓનો સંપૂર્ણ હવાલો આપ્યો છે.[૫]

અહીં આપણો પ્રયત્ન આ 'રાજપ્રશ્નીયસૂત્ર'માંની ૩૨ નાટ્યવિધિઓ સ્પષ્ટ કરવાનો છે. તથા ભરતના નાટ્યશાસ્ત્ર કે અન્ય નાટ્યશાસ્ત્રીય ગ્રંથોમાં તે અંગેના નિર્દેશો પ્રાપ્ત થાય છે કે કેમ તે ચકાસવાનો છે.

હવે આપણે તે દરેક નાટ્યવિધિ ક્રમશઃ વિચારીશું.

(૧) સૌ પ્રથમ સ્વસ્તિક, **શ્રી**વત્સ, નન્દ્યાવર્ત, વર્ધમાનક, ભદ્રાસન, કલશ, મત્સ્ય, દર્પણ–નો દિવ્ય અભિનય દર્શાવે છે.

ડો. રાઘવનના મતે (પૃ. ૫૭૩) સ્વસ્તિક વગેરે આકૃતિમાં ગોઠવાઈને કરાતું નૃત્ય તે સ્વસ્તિક વગેરે નામે ઓળખાતું હશે. અથવા તો નર્તક તે પ્રકારની મુદ્રાઓનો અભિનય કરતો હશે.

સ્વસ્તિક વગેરે આકારમાં ગોઠવાઈ નૃત્ય કરાયું હશે, તેવી સંભાવના શ્રી કાપડિયાએ (પૃ ૫૭) પણ વ્યકત કરી છે.

(અ) **સ્વસ્તિક** :

નાટ્યશાસ્ત્રીય ગ્રંથોમાં શિરમોરસમા ભરતના 'નાટ્યશાસ્ત્ર' (ના.શા.)માં 'સ્વસ્તિક'નો ઉલ્લેખ મળે છે.

સૌ પ્રથમ 'ના. શા. ૪-૩૭ Aમાં કરણના પ્રકાર તરીકે તેનો ઉલ્લેખ છે તથા શ્લોક–૭૫/૭૬માં તેનું લક્ષણ આપ્યું છે. તે આ પ્રમાણે છે :

હસ્તાભ્યામથ પાદાભ્યાં ભવતઃ સ્વસ્તિકૌ યદા ।।
તત્સ્વસ્તિકમિતિ પ્રોક્તં કરણં કરણાર્થિભિઃ ।

—(ના. શા. –૭૫ B-૭૬A)

અર્થાત્, બે હાથ વડે ને બે પગ વડે જ્યારે સ્વસ્તિક આકાર બને છે, તેને 'કરણ'ની ઇચ્છાવાળાઓ વડે 'સ્વસ્તિક' નામે કરણ કહેવાયું છે.

ના. શા. અધ્યાય–૯માં સંયુત હસ્તના તેર અભિનયો ગણાવતાં, ચોથા અભિનય તરીકે સ્વસ્તિકનો ઉલ્લેખ છે, જેની નોંધ શ્રી કાપડિયાએ (પૃ. ૬૦) પણ લીધી છે.
જેમ કે—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ स्त्रीप्रयोजितौ ।
उत्तानौ वामपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तितः ॥

—(ना. शा.—९, १३५)

અર્થાત્, મણિબંધ પર ગોઠવેલા, સ્ત્રી વડે પ્રયોજિત, વક્ર, ફેલાયેલા અને ડાબા પડખા પર રહેલા (બે હાથ) 'સ્વસ્તિક' કહેવાય છે.
તથા,

तावेव मणिबन्धान्ते स्वस्तिकाकृतिसंस्थितौ ।
स्वस्तिकाविति विख्यातौ विच्युतौ विप्रकीर्णकौ ॥

—(ना. शा. – ९.१८८)

અર્થાત્, તે જ બે હાથને મણિબંધ આગળ સ્વસ્તિક આકારમાં રાખવામાં આવે તો તેને 'સ્વસ્તિક' નામે ઓળખવામાં આવે છે, અને (મણિબંધથી) વિચ્યુત કરાતાં, તે વિપ્રકીર્ણક કહેવાય છે.

(બ) **નન્દ્યાવર્ત** :

'નન્દ્યાવર્ત'નું પ્રાકૃતરૂપ 'નંદિયાવત્ત' થાય છે. તે નામની માછલીનો ઉલ્લેખ 'અંગુત્તરનિકાય'માં મળે છે (ડિક્શનરી ઓફ પાલિ પ્રોપર નેમ્સ-ભા. ૨. પૃ. ૨૯)[૬]

(ક) **વર્ધમાનક** :

ના. શા. ના. ચોથા અધ્યાયમાં (૪. ૧૪ B) જણાવ્યા પ્રમાણે, વર્ધમાનક વગેરેના યોગથી પૂર્વરંગ –'ચિત્ર' નામે ઓળખાય છે.

'રાજપ્રશ્નીય'ટીકામાં —चित्रं नाम दिव्य नाट्यविधिम् એવો ઉલ્લેખ છે.

ત્યાર બાદ, નૃત્તની પ્રયોગવિધિ વર્ણવતાં, તેનો ઉલ્લેખ આવે છે. જેમ કે—

कलानां वृद्धिमासाद्य ह्यक्षराणां च वर्धनात् ।
लयस्य वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ॥

—(ना. शा. ४.२७२ B–२७३ A)

અર્થાત્, કલાઓના અંશોની અથવા શિલ્પ = કાલની વૃદ્ધિ (અથવા ગીતોમાં ગાનની શૈલી, વાદ્યોમાં વાદનની અને નૃત્યમાં નર્તનની શૈલીને 'કલા' કહે છે, તેના અંશોની વૃદ્ધિ) કરીને, અક્ષરોનો વિસ્તાર કરીને તથા ગાયન, વાદન અને નર્તનની ક્રિયાઓમાં સામ્ય (लयः साम्यम् इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमरः) અથવા કેવળ ગાવામાં સમય તથા ક્રિયાઓની સમાન ગતિ (लयः गतौ) વધારવાથી ગીતનું નામ 'વર્ધમાનક' કહેવાય છે.

ના. શા. ના આધ્યાય–૫ માં પૂર્વરંગના અંગ--ગીતક–ને વર્ણવતાં, વર્ધમાનનો ઉલ્લેખ મળે છે. ત્યાં કહ્યું છે કે,

वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते ॥

—(ના. શા.–૫. ૧૩)

એટલે કે, તાંડવ જ્યારે પ્રયોજાય છે, ત્યારે ત્યાં પણ 'વર્ધમાનક' હોય છે.

ના. શા.–અધ્યાય–૯ માં સંયુત હસ્તના ૧૩ મા અભિનય તરીકે તેનો ઉલ્લેખ છે, જેની નોંધ શ્રી કાપડિયાએ (પૃ. ૬૦) લીધી છે. જેમ કે,

मुकुलस्तु यदा हस्तः कपित्थपरिवेष्टितः ।
वर्धमानः स विज्ञेयः कर्म चास्य निबोधत ॥

—(ના. શા.–૯·૧૫૮)

અર્થાત્, જ્યારે જોડેલા, કળી જેવા આકારમાં રહેલા હાથને કપિત્થ (=હાથ અને આંગળીઓની એક ખાસ સ્થિતિ) વડે પરિવેષ્ટિત કરવામાં આવે તેને 'વર્ધમાન' કહે છે. તેનું કર્મ હવે સમજો.

ત્યાર બાદ, ના. શા.–અધ્યાય–૩૧માં આસારિત વિધિ સાથે વર્ધમાનક વિધિનો ઉલ્લેખ છે. જેમ કે,

आसारितानां संयोगो वर्धमानकमुच्यते ।
उत्पत्तिं लक्षणं चास्य गदतो मे निबोधत ॥

(ના. શા. ૩૧. ૬૯)

અર્થાત્ આસારિત સાથેના સંયોગને વર્ધમાનક કહે છે. તેનાં ઉત્પત્તિ ને લક્ષણ કહેતા મને સાંભળો.

વળી,

वर्धमानमिदं दृष्टं पिण्डीबन्धैर्विभूषितम् ॥

(ના. શા.– ૩૧·૭૨ B)

એટલે કે, પિંડીબંધો (= ગોળ ચક્રાકાર રચના) વડે વિભૂષિત તે 'વર્ધમાનક' જણાય છે.

તથા—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तिदक्षिणचित्रेषु मार्गेषु विनियोजितम् ।
द्विविधं वर्धमानं स्यात् स्वप्रमाणविनिर्मितम् ॥
अतालं च सतालं च वर्धमानं द्विधा स्मृतम् ।

—(ना. शा. – ३१.७५, ७६ A)

અર્થાત્, વૃત્તિ, દક્ષિણ અને ચિત્ર એ ત્રણ માર્ગોમાં પ્રયોજાતું અને પોતાના પ્રમાણથી જેનું નિર્માણ થાય છે તેવું વર્ધમાન તાલ વગરનું અને તાલસહિત એમ બે પ્રકારનું છે.

ના. શા.ના ૩૧મા અધ્યાયમાં શ્લોક ૬૯ થી ૧૦૫ સુધી વર્ધમાનક વિધિનું વિસ્તારથી વર્ણન મળે છે.

શારદાતનયના 'ભાવપ્રકાશ' (ભા. પ્ર.)માં પણ પૂર્વરંગના ૨૦ મા અંગ તરીકે વર્ધમાનકનો ઉલ્લેખ છે. (અ. ૭, પૃ. ૨૮૨) તેનું લક્ષણ છે-

आसारितादि वा गीतं नृत्तं वाद्यमथापि वा ।
वर्धतेऽभिनयो वा स्यात् स भवेद्वर्धमानक: ॥

—(ભા. પ્ર. અ. ૭, પૃ. ૨૮૯)

અર્થાત્, આસારિત વગેરે ગીત, નૃત્ય, વાદ્ય કે અભિનયની જે વૃદ્ધિ કરે છે તે 'વર્ધમાનક' કહેવાય છે.

'મહાભારત'માં આ 'સ્વસ્તિક', 'નન્દ્યાવર્ત' ને 'વર્ધમાન'નો ઉલ્લેખ મળે છે. જેમ કે-

स्वस्तिकान् वर्धमानांश्च नन्द्यावर्त्तांश्च काञ्चनान् ।
माल्यं च जलकुंभांश्च ज्वलितं च हुताशनम् ॥[७]

અર્થાત્, સાથિયા, કોડિયાં, સુવર્ણનાં સંપુટ વગેરે અર્ઘ્યપાત્રો, માળા, જળભર્યા કળશો, પ્રજ્વલિત અગ્નિ (વગેરે મંગલ પદાર્થો જોઈને તથા સ્પર્શીને યુધિષ્ઠિર બહાર ગયા).

શ્રી કાપડિયાના '...જૈન ઉલ્લેખો.' (પૃ. ૫૬ ઉપરની પા. ટી. ૩ ઉપર) તથા રાજ.ની પ્રસ્તાવના (પૃ. ૨૫, પા. ટી. ૬૭)માં આ અંગેની નોંધ છે.

પરંતુ, વાસ્તવમાં 'મહાભારત'માં સ્વસ્તિક, વર્ધમાન, નન્દ્યાવર્ત વગેરે મંગલ ચિહ્ન-આકૃતિઓ અંગેનો સંદર્ભ છે, જેને નાટ્યવિધિ સાથે કોઈ નિસબત હોય તેમ જણાતું નથી.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(૬) **ભદ્રાસન :**

ના. શા.માં આસારિત પ્રકારના પ્રયોગનિરૂપણપ્રસંગે પિંડીબંધની રચના કરવા અંગે જણાવ્યું છે કે, પિંડીની ઉત્પત્તિ બે રીતે થાય છે- યંત્ર અને ભદ્રાસન.

पिण्डीनां द्विविधा योनिर्यन्त्रं भद्रासनं तथा ।।

—(ના. શા. – ૪. ૨૯૨ B)

આ રીતે, સ્વસ્તિક, નન્દ્યાવર્ત, વર્ધમાન ને ભદ્રાસન એ ચાર પ્રકાર અંગેની માહિતી 'નાટ્યશાસ્ત્ર' તેમ જ અન્ય ગ્રંથો દ્વારા પ્રાપ્ત થઈ શકી છે. પરંતુ બાકીના ચાર–શ્રીવત્સ, કલશ, મત્સ્ય, ને દર્પણ–અંગે સ્પષ્ટતા થઈ શકતી નથી. પરંતુ આ આઠ મંગલકર્મ અંગેની નોંધ 'રાજપ્રશ્નીયસૂત્ર'માં જ અગાઉ સૂર્યાભદેવના વિમાનવર્ણનપ્રસંગે પ્રાપ્ત થાય છે.[૯] ત્યાં વર્ણવ્યા પ્રમાણે–સૂર્યાભદેવના દિવ્ય યાન–વિમાનની રચના કરતાં, ત્રણ દિશામાં ત્રણ સોપાન પંક્તિ–તથા તેની આગળના ભાગમાં તોરણ બાંધ્યાં હતાં, જેના ઉપરના ભાગમાં સ્વસ્તિક વગેરે આઠ માંગલિકની રચના કરી હતી. વળી, દિવ્યયાનનું નિર્માણ થઈ જતાં, સંતોષ પામેલ સૂર્યાભદેવ તેને વિશે આરૂઢ થયા તે પછી દેવદેવીઓ વગેરે પણ ચઢયા. ચાર બાદ અનુક્રમે આઠ મંગલદ્રવ્ય તેમની સામે આવ્યા.

આ પ્રથમ નાટ્યવિધિ અંગે–'જંબૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિ ટીકા'–(પ., પૃ. ૪૧૪)માં કહ્યું છે કે, ભરતના ના. શા.માં સ્વસ્તિકને ચતુર્થ તથા વર્ધમાનકને ૧૩મું નાટ્ય કહેલ છે. તેમાં, ના. શા.માં ઉલ્લેખેલ આંગિક અભિનય દ્વારા નાટક કરનારા સ્વાસ્તિક આદિ આઠ મંગલોનો આકાર બનાવીને ઊભા થતા અને પછી હાથ વગેરે દ્વારા તે આકાર દર્શાવતા અને વાચિક અભિનય દ્વારા મંગલ શબ્દનું ઉચ્ચારણ કરતા, જેથી દર્શકોના હૃદયમાં તે મંગલ પ્રતિ રતિભાવ જાગે.[૯]

(૨) આવર્ત, પ્રત્યાવર્ત, શ્રેણિ, પ્રશ્રેણિ, સ્વસ્તિક, સૌવસ્તિક, પુષ્યમાણવ, વર્ધમાનક, મત્સ્યાંડક, મકરાંડક, જાર, માર, પુષ્પાવલી, પદ્મપત્ર, સાગરતરંગ, વસંતલતા, પદ્મલતાના ચિત્રોનો અભિનય.

(અ) **આવર્ત–પ્રત્યાવર્ત :**

ના. શા.ના ચોથા અધ્યાયમાં નિરૂપાયેલ ૧૦૮ કરણ પૈકી ૫૯ મું કરણ છે– આવર્ત. તેનું લક્ષણ છે—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसार्य कुञ्चितं पादं पुनरावर्तयेत् द्रुतम् ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ तदावर्तमुदाहृतम् ।
—(ના. શા.-૪. ૧૧૯ B, ૧૨૦ A)

અર્થાત્, વાંકા વાળેલા પગને બાજુમાં ફેલાવીને ઝડપથી ઘુમાવી લે (= સીધો કરે) (અને એ જ રીતે) બે હાથને પ્રયોગ અનુસાર (વાંકા વાળીને સીધા ફેરવી લે) તેને 'આવર્ત' કહે છે.

વળી, ના. શા. માં ભૌમ મંડલો વર્ણવતાં પણ, 'આવર્ત'નો ઉલ્લેખ છે. જેમ કે—

आद्यो भ्रमरकश्चैव त्रिकञ्च परिवर्तयेत् ।
पृष्ठापसर्पी वामश्चेत्यावर्ते मण्डले भवेत् ॥
—(ના. શા.-૧૧.૫૨)

એટલે કે, જમણા પગને ભ્રમરરૂપ કરી ત્રિકનું પરિવર્તન કરવું જોઇએ. ત્યાર બાદ ડાબા પગને પૃષ્ઠાપસર્પીરૂપ કરે તેને 'આવર્ત' મંડલ કહે છે.

જંબૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિ (પ.-પૃ. ૪૧૪) પ્રમાણે-

भ्रमद् भ्रमरिकादानैर्नर्तनम् आवर्तः तद्विपरीतः प्रत्यावर्तः ।[૧૦]

અર્થાત્, ભ્રમણ કરતી ભમરીની ગતિ જેવું નર્તન તે 'આવર્ત' છે. તેનાથી વિપરીત તે 'પ્રત્યાવર્ત' છે.

ના. શા. માં જો કે, પ્રત્યાવર્તનો ઉલ્લેખ નથી.

ટીકાકાર મલયગિરિ (પૃ. ૩૧ આ) અનુસાર-એક આવર્તનો પ્રત્યભિમુખ આવર્ત તે પ્રત્યાવર્ત છે.[૧૧]

(બ) **શ્રેણિ-પ્રશ્રેણિ** :

ટીકાકાર મલયગિરિ પ્રમાણે-શ્રેણિ એટલે તે પ્રકારના બિંદુના સમૂહની પંક્તિ તથા શ્રેણિમાંથી નીકળેલી અન્ય શ્રેણિ તે પ્રશ્રેણિ.[૧૨]

(ક) **સ્વસ્તિક** ને **વર્ધમાનક** એ બે પ્રકાર પ્રથમ નાટ્યવિધિમાં આવી જ ગયા છે.

(ડ) **સૌવસ્તિક** અંગે માહિતી નથી. પા. સ. મ. માં (પૃ. ૧૧૭૫) તેનો અર્થ 'સ્વસ્તિક' એમ દર્શાવેલ છે. તેથી તેનો પૃથક્ ઉલ્લેખ કયા હેતુસર કરાયો હશે તે અંગે શ્રી કાપડિયા[૧૩]એ પ્રશ્ન ઉઠાવ્યો છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ઇ) **પુષ્યમાણવમાં** પુષ્ય અને માણવને બે ભિન્ન પ્રકાર ન ગણતાં, 'પુષ્યમાણવ' એવો એક જ પ્રકાર માન્યો છે. (મલયગિરિની ટીકા-પૃ. ૩૧ આ)[૧૪] પરંતુ તેની સમજૂતી ત્યાં આપી નથી.

(ઈ) ડૉ. રાઘવનના જણાવ્યા પ્રમાણે (પૃ. ૫૭૩)-આવર્ત વગેરે પૈકી-**વસંતલતા, પદ્મલતા** વગેરે કંઈક અંશે ભરતના પિંડીનૃત્યને મળતી આવે છે. પરંતુ માણવક, મત્સ્યાંડ, મકરાંડ ને જાર, માર અસ્પષ્ટ જ રહે છે.

(ઉ) **જાર-માર** વિષે જીવાજીવાભિગમ ટીકામાં (પૃ. ૧૮૯) કહ્યું છે-

જારમારેતિ-લક્ષણવિશેષૌ સમ્યગ્મણિલક્ષણવેદિનૌ લોકાદ્વેદિતવ્યૌ ।

અર્થાત્, જાર મારણરૂપ વિશેષ લક્ષણો મણિલક્ષણ દ્વારા બરાબર સમજાય તેમ છે. તેમને લોક (વ્યવહાર)માંથી જાણવાનાં છે.

(ઊ) સૂર્યાભદેવના વિમાનની અંદર કરાયેલ એક સમતલ ભૂમિભાગ અનેક પ્રકારના મણિઓથી સુશોભિત હતો. આ મણિઓ માટે આવર્તથી પદ્મલતા પૈકી ઘણાંખરાં નામ પ્રયોજાયાં છે. (સૂ. ૧૫, પૃ. ૩૦ અ)[૧૬]

(૩) ઈહામૃગ, વૃષભ, ઘોડો, નર, મગર, પક્ષી, સર્પ, કિન્નર, રુરુ, શરભ, ચમર, કુંજર, વનલતા, પદ્મલતાના ચિત્રોનો અભિનય.

(અ) આ નામોનો ઉલ્લેખ 'રાજપ્રશ્નીયસૂત્ર'[૧૭]માં જ અગાઉ-વિમાનની રચનાપ્રસંગે-પ્રાપ્ત થાય છે. ત્યાં જણાવ્યા પ્રમાણે-વિમાનમાં ઠેરઠેર, તેની રમણીયતાને અર્થે ઈહામૃગ વગેરેનાં ચિત્રો ચિત્રિત કર્યાં હતાં. વિમાનનો ભૂમિભાગ વિવિધ પ્રકારનાં મણિઓથી જડેલો ને સુંદર હતો, જેમાં ઉપરનિર્દિષ્ટ ચિત્રો હતાં. તથા, ભૂમિ ભાગ મધ્યે રચેલ મણિપીઠિકા પરના સિંહાસન ઉપર પણ તે ચિત્રો હતાં.

(બ) ડૉ. રાઘવનના મતે (પૃ. ૫૭૩), આ નાટ્યવિધિમાં પ્રાણીઓની ક્રિયાની અભિવ્યક્તિ જણાય છે. તેઓ વધુમાં જણાવે છે કે, અભિનવગુપ્ત અનુસાર, કેટલાંક ઉપરૂપકોમાં આ નિરૂપણ પ્રાપ્ત થાય છે.

(ક) ના. શા. માં સંયુત હસ્તના અભિનય વર્ણવતાં, 'મકર'નો ઉલ્લેખ છે. જેમ કે—

पताकौ तु यदा हस्तावूर्द्धाङ्गुष्ठावधोमुखौ ।
उपर्युपरि विन्यस्तौ तदा स मकरः करः ॥

—(ના. શા. ૯. ૧૫૨)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

અર્થાત્, ઉપરની બાજુ રહેલ અંગુઠાવાળા અને અધોમુખ પતાકા-વાળા હાથ જ્યારે ઉપર ઉપર મૂકવામાં આવે ત્યારે 'મકર' નામે હસ્તાભિનય બને છે.

જો કે, વાણીભૂષણશ્રી રતનમુનિજી[૧૮]એ આગળની નાટ્યવિધિના 'મકરાંડક'ના સંદર્ભમાં, ના. શા. ગત મકરની નોંધ લીધી છે.

અહીં પણ, 'કુંજર' માટે ના. શા. ના ગજદંતનો સંદર્ભ આપ્યો છે. ગજદંત એ સંયુત હસ્તનો એક અભિનયપ્રકાર છે. પરંતુ મકરાંડક ને મકર તથા કુંજર ને ગજદંતનું સામ્ય વિચારવું યોગ્ય જણાતું નથી. જો કે, ના. શા.ગત મકર ને ગજદંતનો મોઘમ ઉલ્લેખ શ્રી કાપડિયા (પૃ. ૬૦) પણ આપે છે.

(૪) એકતોવક્ર, દ્વિધાતોવક્ર, એકતશ્ચક્રવાલ, દ્વિધાચક્રવાલ, ચક્રાર્ધ, ચક્રવાલનો અભિનય,

આ વર્તુળાકારે કરાતું નૃત્ય જણાય છે.

જંબૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિ ટીકા[૧૯] (૫. પૃ. ૪૧૪)માં તેને સમજાવતાં કહ્યું છે કે-

એકતોવક્ર—

નટાનાં એકસ્યાં દિશિ ધનુરાકારશ્રેણ્યા નર્તનમ્ ।

દ્વિધાતોવક્ર—

દ્વયોઃ પરસ્પરાભિમુખાદ્દશોઃ ધનુરાકારશ્રેણ્યા નર્તનમ્ ।

એકતશ્ચક્રવાલ :

એકસ્યાં દિશિ નટાનાં મણ્ડલાકારેણ નર્તનમ્ ।

અર્થાત્, નટોનું એક જ દિશામાં ધનુષ્ય આકારે નર્તન તે એકતોવક્ર; એકબીજા સામે દૃષ્ટિ કરતા બે નટોનું ધનુષ્યાકારે નર્તન તે દ્વિધાતોવક્ર અને એક જ દિશામાં નટોનું મંડલ આકારે નર્તન તે એકતશ્ચક્રવાલ.

અહીં બે પાઠ મળે છે. ઉપરનિર્દિષ્ટ પાઠથી ભિન્ન અન્ય પાઠની નોંધ રાજ. (પૃ. ૫૩ ઉપરની પા. ટી.) માં લીધી છે. પા. ટી. માં આપેલ પાઠ અનુસાર-એકતો અહ (= એક તરફ ગગનમંડલાકૃતિ) તથા દ્વિધાતો અહ (= બે બાજુ ગગનમંડલાકૃતિ) - એટલી વિગત વિશેષ છે. આ પાઠ શ્રી કાપડિયાએ (પૃ. ૫૮) પણ સ્વીકાર્યો છે. પરંતુ 'અહ' દ્વારા શું અભિપ્રેત છે, તે અંગે તેમણે સ્પષ્ટતા કરી નથી.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

અહીં નોંધનીય વિગત એ છે કે રાજ.ની પ્રસ્તાવનામાં આ નાટ્ય-વિધિ નિરૂપતાં દ્વિધાતોવકનો ઉલ્લેખ છે પરંતુ મૂળમાં દ્વિધાતોવકનો ઉલ્લેખ રહી જવા પામ્યો છે, જે કદાચ છાપભૂલ હોઈ શકે, 'રાજ-પ્રશ્નીયસૂત્ર'– (મલયગિરિની વૃત્તિ સહિત)માં પણ-એગતો खुद्दं दुहओ खुद्दं' – એટલી જ વિગત પાઠ ફેર રૂપે કૌંસમાં આપી છે, અન્ય વિગત તો સ્પષ્ટ ઉલ્લિખિત છે જ[૨૦]

ડૉ. રાઘવનના મતે (પૃ. ૫૭૩) ચક્ક, ચક્કવાલ, દ્વિધા ચક્કવાલ અને અર્ધચક્કવાલમાં વર્તુળાકાર ગતિ જણાય છે.

(૫) चंद्रावलिकाप्रविभक्ति, सूर्यावलिकाप्रविभक्ति,
वलयावलिकाप्रविभकित, हंसावलिकाप्रविभक्ति,
एकावलिकाप्रविभक्ति, तारावलिकाप्रविभक्ति,
मुक्तावलिकाप्रविभक्ति, कनकावलिकाप्रविभक्ति,
અને रत्नावलिकाप्रविभक्तिનો અભિનય.

જંબૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિ ટીકા[૨૧]માં કહ્યું છે કે– (૫-પૃ. ૪૧૪)–

चन्द्राणां आवलिः श्रेणिः तस्याः प्रविभक्तिःविच्छित्तिरचना
विशेषस्तदभिनयात्मकम् ।

અર્થાત્ અનેક ચંદ્રની આવલિ અર્થાત્ હારમાળા- તેની પ્રવિભક્તિ અર્થાત્ શોભાની રચનાવિશેષના અભિનયરૂપ. એ જ રીતે, સૂર્ય, વલય, હંસ વગેરે વિષે પણ સમજવું.

ના. શા. માં અસંયુત હસ્તના પ્રકાર તરીકે હંસવક્ક ને હંસપક્ષનો ઉલ્લેખ છે.[૨૨] જેમ કે–

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठास्त्रेताग्निस्था निरन्तराः ।
भवेयुर्हंसवक्त्रस्य शेषे द्वे सम्प्रसारिते ॥
समाः प्रसारितास्तिस्रस्तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
अङ्गुष्ठः कुञ्चितस्यैव हंसपक्ष इति स्मृतः ।

—(ના. શા. ૯.૧૦૪, ૧૦૬)

અર્થાત્, તર્જની, મધ્યમા ને અંગુઠો – એ ત્રણ ત્રેતાગ્નિની જેમ જોડાયેલ રહે અને બાકીની (બે આંગળીઓ) – અનામિકા તથા કનિષ્ઠિકા આંગળી-ફેલાયેલી રહે ત્યાં હંસવકત્ર બને છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

તથા,

તર્જની, મધ્યમા ને અનામિકા એ ત્રણ આંગળી એકસરખી રીતે ફેલાયેલી હોય ને કનિષ્ઠિકા ઊંચી ઊઠેલી હોય તથા અંગુઠો વાંકો રહે તે હંસપક્ષ નામે હસ્તાભિનય છે.

હંસાવલિકાને હંસવક્ર ને હંસપક્ષ સાથે એકરૂપ માની શકાય કે કેમ તે એક પ્રશ્ન છે. પરંતુ વાણીભૂષણ શ્રી રતનમુનિએ[૨૩] આ અંગે નોંધ લીધી છે.

(૬) ચંદ્રોદ્ગમનદર્શન ને સૂર્યોદ્ગમનદર્શનનો અભિનય
(૭) ચંદ્રાગમદર્શન ને સૂર્યાગમદર્શનનો અભિનય
(૮) ચંદ્રાવરણદર્શન ને સૂર્યાવરણદર્શનનો અભિનય
(૯) ચંદ્રાસ્તદર્શન ને સૂર્યાસ્તદર્શનનો અભિનય
(૧૦) ચંદ્રમંડલ, સૂર્યમંડલ, નાગમંડલ, યક્ષમંડલ, ભૂતમંડલ, રાક્ષસમંડલ, ગંધર્વમંડલના ભાવોનો અભિનય.

અહીં, ૬ થી ૯ – એ ચાર પ્રકારની નાટ્યવિધિમાં ચંદ્ર તથા સૂર્યના ઉદયથી માંડીને અસ્ત સુધીની તેમની સ્થિતિ – ગ્રહણસુદ્ધાં – અંગેનો અભિનય છે, જ્યારે ૧૦મી નાટ્યવિધિમાં ચંદ્ર, સૂર્ય વગેરેનો મંડલાકાર અભિનય જણાય છે.

ના. શા.ના ૧૧મા અધ્યાયમાં આકાશગમંડલ અને ભૌમમંડલ એ બે પ્રકાર નીચે દસ દસ એમ કુલ ૨૦ પ્રકારના મંડલનું વર્ણન છે.[૨૪] પરંતુ ઉપરનિર્દિષ્ટ મંડલથી તે ભિન્ન છે.

જો કે, વાણીભૂષણ શ્રીરતનમુનિએ[૨૫] ના. શા.માં ગંધર્વમંડલ હોવા અંગેની નોંધ આપી છે ખરી.

(૧૧) દ્રુતવિલંબિત અભિનય – આમાં વૃષભ ને સિંહ તથા ઘોડા અને હાથીની લલિત ગતિનો અભિનય.

ડો. રાઘવન (પૃ. ૫૭૩) જણાવે છે તેમ, ત્રીજી નાટ્યવિધિની જેમ આ પણ પ્રાણીઓને લગતો અભિનય છે. ફેર એટલો કે, અહીં પ્રાણીઓની ગતિ મંદ, મધ્યમ ને દ્રુત એ ત્રણ પ્રકારે વર્ણવી છે.

ના. શા.ના ચોથા અધ્યાયમાં ૧૦૮ કરણ નિરૂપતાં ૬૮મા કરણ તરીકે ગજક્રીડિતક, ૮૯મા કરણરૂપે સિંહવિક્રીડિત તથા ૧૦૪ મા કરણ તરીકે વૃષભક્રીડિતનું નિરૂપણ છે. જો કે, તેમની સાથે આ અભિનય-પ્રકારને મૂકી શકાય કે કેમ? તે વિચારવું રહ્યું.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

એ જ રીતે અધ્યાય-૧૫ માં મત્તેભલલિત (ગજવિલસિત) (૧૫·૯૫), વૃષભચેષ્ટિત (૧૫·૧૦૪), વિલંબિત ગતિ (૧૫·૧૧૪), તથા અશ્વલલિત (૧૫·૧૩૭) વગેરે છંદોનું નિરૂપણ છે, જેમાં શાબ્દિક સામ્યથી વિશેષ કંઈ જ વિચારી શકાય નહીં.

(૧૨) સાગર અને નાગરના આકારોનો અભિનય

(૧૩) નંદા ને ચંપાનો અભિનય

(૧૪) મત્સ્યાંડ, મકરાંડ, જાર અને મારની આકૃતિઓનો અભિનય.

દ્વિતીય નાટ્યવિધિમાં આ આવી જ જાય છે, જેની નોંધ ડો. રાઘવને (પૃ. ૫૭૩) લીધી છે અને જણાવ્યું છે કે, તે બહુ સ્પષ્ટ થતું નથી.

(૧૫) થી (૧૯) અનુક્રમે ક, ચ, ટ, ત ને પ વર્ગના વર્ણોની આકૃતિઓનો અભિનય.

અહીં પચીસ અક્ષરોનો જ ઉલ્લેખ છે, સ્વરોનો કે ય, ર, લ, વ, શ, ષ, સ, હ, ક્ષ ને જ્ઞ ના અભિનયનો નિર્દેશ નથી. આ વિગત પ્રતિ શ્રી કાપડિયાએ[૨૬] પણ ધ્યાન દોર્યું છે.

(૨૦) અશોક, આમ્ર, જાંબૂ, કોશંબના પલ્લવોના અભિનય

(૨૧) પદ્મ, નાગ, અશોક, ચંપક, આમ્ર, વન, વાસંતી, કુંદ, અતિમુક્તક અને શ્યામલતાનો અભિનય.

(૨૨) દ્રુતનાટ્ય,

ના. શા. અધ્યાય ૧૨ માં દ્રુત નામે લય અને દ્રુતા નામની ગતિ યાને ચાલનો ઉલ્લેખ છે.[૨૭]

જેમ કે--

स्थितं मध्यं द्रुतं चैव समवेक्ष्य लयत्रयम् ।
यथाप्रकृतिनाट्यज्ञो गतिमेवं प्रयोजयेत् ॥
(ના. શા. – ૧૨·૧૨)

અર્થાત્, સ્થિર, મધ્ય ને દ્રુત એ ત્રણ પ્રકારના લયને બરાબર જાણીને નાટ્યવિદે પાત્રોને અનુરૂપ ગતિનો પ્રયોગ કરવો જોઇએ.

તથા

द्रुता गतिश्च प्रचुरावमानां ।
लयत्रयं सत्त्ववशेन योज्यम् ॥
–(ના. શા. –૧૨·૧૩)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

અર્થાત્, (ઉત્તમ પાત્રોની ગતિ ધૈર્ય અને સ્થૈર્યવાળી, મધ્યમ પાત્રોની ગતિ મધ્યમ હોય છે) અને અધમસાધારણ પાત્રોની દ્રુતા ગતિ છે. સત્ત્વ પ્રમાણે એટલે કે, પાત્રોની ચિત્તવૃત્તિ પ્રમાણે સ્થિર, મધ્ય ને દ્રુતરૂપ ત્રિવિધ લયનો પ્રયોગ કરવો જોઈએ.

(૨૩) વિલંબિત નાટ્ય.

(૨૪) દ્રુતવિલંબિત નાટ્ય

(૨૫) અંચિત.

ના.શા. અનુસાર ૧૦૮ કરણ પૈકી ૨૩ મું કરણ અંચિત છે. તેમાં પગને સ્વસ્તિક આકારમાં રખાય છે. જમણા હાથને કટિહસ્ત તથા ડાબા હાથને વ્યાવૃત્ત ને પરિવૃત્ત કરી નાક પાસે અંચિત કરવાથી તે મુદ્રા બને છે.[૨૮]

व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ॥
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम् ।

– (ना. शा. –४. ८३ B, ८४ A)

એટલે કે, તે જ હાથ (અર્ધસ્વસ્તિક કરણની અવસ્થામાં કરિહસ્ત મુદ્રાવાળો હાથ) જ્યારે ક્રમશઃ વ્યાવૃત્ત તથા પરિવૃત્ત રાખવામાં આવે ને પછી તેને નાસિકાના અગ્રભાગ તરફ નમાવવામાં આવે, તેને 'અંચિત' કરણ કહે છે.

વળી, ના. શા. – અધ્યાય–૮ માં, મસ્તકના તેર અભિનયો ગણાવતાં, આઠમા અભિનય તરીકે 'અંચિત'નો ઉલ્લેખ છે.[૨૯] (૮. ૧૭) તેનું લક્ષણ છે–

किञ्चित् पार्श्वनतग्रीवं शिरो विज्ञेयमञ्चितम् ।
व्याधिते मूर्च्छिते मत्ते सचिन्ते दुःखिते भवेत् ॥

– (ना. शा. – ८.३०)

અર્થાત્, જેમાં ડોકને બાજુ પર સહેજ નમાવવામાં આવે તે મસ્તક ને 'અંચિત' કહે છે. તેનો અભિનય વ્યાધિયુક્ત, મૂર્છિત, મત્ત અને ચિંતામાં રહેલી વ્યક્તિને લઈને થાય છે.

અહીં, 'सचिन्ते दुःखिते भवेत्' ને સ્થાને 'चिन्तायां हनुधारणम्' એવો પાઠ પણ છે. તદનુસાર, ચિંતાતુર વ્યક્તિ હાથ પર દાઢી ટેકવી માથું નીચું રાખે તે મુદ્રા 'અંચિત' છે.[૩૦]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

તથા, ના.શા.–અધ્યાય–૯ માં, ઉપાંગાભિનયના નિરૂપણપ્રસંગે, પગના છ અભિનયો ગણાવતાં, અંચિતનો ઉલ્લેખ મળે છે.[૩૧] જેમ કે–

પાર્ષ્ણિર્યસ્યાઞ્ચિતા ભૂમૌ પાદમગ્રતલં તથા ।
અઙ્ગુલ્યશ્ચાઞ્ચિતાઃ સર્વાઃ સ પાદસ્ત્વઞ્ચિતઃ સ્મૃતઃ ॥
–(ના. શા. – ૯. ૨૭૬)

એટલે કે, જે પગની એડી ભૂમિ પર રાખી હોય અને તળિયું આગળ ઉઠાવેલું હોય અને બધી આંગળીઓ અંચિત એટલે ફેલાવેલી હોય તે પગ અંચિત કહેવાય છે.

શ્રી કાપડિયા (પૃ. ૬૧) જણાવે છે, તે પ્રમાણે–ના.શા.–અધ્યાય–૮ માં ભવાના એક અભિનયને અંચિત કહ્યો છે જ્યારે અધ્યાય–૯ માં દંડના એક અભિનયનો નિર્દેશ છે.

પરંતુ, આ સંદર્ભોની કડી હાથ લાગી નથી.

(૨૬) રિભિત.

આ બહુ સ્પષ્ટ થતું નથી. પરંતુ શ્રી કાપડિયા (પૃ. ૨૩) ના મતે –અક્ષરો અને ઘોલનાના સ્વરવિશેષમાં સંચરણ કરતો સ્વર જાણે નાચતો હોય તેમ જણાતાં તે રિભિત કહેવાય છે.

(૨૭) અંચિતરિભિત.

અંચિત ને રિભિતનું મિશ્રણ તે અંચિતરિભિત હોવા સંભવ છે.

(૨૮) આરભટ.

શ્રી કાપડિયા (પૃ. ૬૧) તથા ડો. રાઘવન (પૃ. ૫૭૩) અનુસાર, આને મળતી આવતી આરભટી વૃત્તિનો ઉલ્લેખ ના.શા. માં મળે છે.[૩૨]

આપ્ટેની ડિક્ષનરી (પૃ. ૨૨૬)માં આરભટ પદ નીચે અર્થ આપ્યો છે કે,

"માયા, ઈન્દ્રજાળ, સંગ્રામ, ક્રોધ, ઉદ્‌ભ્રાંત વગેરે ચેષ્ટાઓથી યુકત તથા વધબંધન આદિથી ઉદ્ધત નાટ્યવૃત્તિ આરભટી છે."

માયેન્દ્રજાલસંગ્રામક્રોધોદ્‌ભ્રાન્તાદિચેષ્ટિતૈઃ ।
સંયુક્તા વધબન્ધાદ્યૈરુદ્ધતારભટી મતા ॥[૩૩]

(૨૯) ભસોલ કે ભસલ.

ભ્રમરનું પ્રાકૃત 'ભસલ' થાય છે.[૩૪]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ના. શા. માં ભ્રમર[૩૫] એ ૧૪ મું અંગહાર છે. જેમ કે–

कृत्वा नूपुरपादं तु तथाक्षिप्तकमेव च ॥
परिच्छिन्नं च कर्तव्यं सूचीपादं तथैव च ।
नितम्बं करिहस्तं चाप्युरोमण्डलकं तथा ॥
कटिच्छिन्नं ततश्चैव भ्रमरः स तु संज्ञितः ।

—(ना. शा.-४. २०४B – २०६ A)

અર્થાત્, નૂપુરપાદ અને આક્ષિપ્તક કરીને પછી પરિચ્છિન્ન, સૂચીપાદ, નિતંબ, કરિહસ્ત, ઉરોમંડલક અને કટિચ્છિન્ન કરણ કરવાં જોઇએ (આ પ્રક્રિયાથી જે અંગહાર થાય છે) તેને ભ્રમર કહે છે.

ભ્રમરક નામે એક કરણ પણ છે. જેમ કે–

त्रिकस्य वलनाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत् ।

–(ना. शा. – ४-९९)

એટલે કે, ત્રિકને ચારે તરફ (ભમરીના ભ્રમણની જેમ) ઘુમાવવામાં આવે તેને ભ્રમરક કરણ કહે છે.

ભ્રમર એ એક પ્રકારનો હસ્તાભિનય છે.[૩૬] અસંયુત હસ્તના અભિનયપ્રકારોના નિરૂપણ દરમ્યાન તેનો ઉલ્લેખ છે. જેમ કે–

मध्यमाङ्गुष्ठसन्दंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी ।
ऊर्ध्वमन्ये प्रकीर्णे च द्व्यङ्गुल्यौ भ्रमरे करे ॥

–(ना.शा.-९-१०१)

અર્થાત્, જેમાં મધ્યમા આંગળી અંગુઠા સાથે આગળથી જોડાયેલી હોય ને તર્જની વક્ર હોય અને બીજી બે આંગળીઓ અલગ અલગ રીતે ઉપરની બાજુ ઊંચી કરેલી હોય તે 'ભ્રમર' નામે હસ્તાભિનય છે.

વળી, ના.શા. ના ૧૧ મા અધ્યાયમાં ભ્રમર નામે ભૌમ મંડલનો પણ ઉલ્લેખ મળે છે. (૧૧.૪) તેનું લક્ષણ છે–

वामः पृष्ठापसर्पी च द्व्यात् भ्रमरकं तथा ।
स एवास्पन्दितः कार्यस्त्वेतद् भ्रमरमण्डलम् ॥

–(ना. शा.-११.४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

એટલે કે, ડાબા હાથને પૃષ્ઠાપસર્પી[૯] (= પાછલી બાજુ જતો) અને જમણાને ભ્રમરક તથા આરભન્દિત કરવો જોઇએ. આમ કરવાથી તે ભ્રમરક મંડલ બને છે.

'સ્થાનાંગસૂત્ર'[૩૭]માં ચાર પ્રકારનાં નાટ્યોનું વર્ણન છે – અંચિત, રિભિત, આરભટ ને ભિસોલ.[૩૮]

चउव्विहे णट्टे पण्णत्ते तं जहा–

अंचिए, रिभिए, आरभडे, भिसोले[૩૯]

ત્યાં જણાવ્યા પ્રમાણે–[૪૦]

અંચિત એટલે અટકી અટકીને નૃત્ય કરવુ

રિભિત એટલે સંગીત સાથે નૃત્ય કરવું

આરભટ એટલે સંકેતો દ્વારા ભાવાભિવ્યકિત કરીને નૃત્ય કરવું–અને

ભસોલ એટલે ઝૂકીને તથા સૂતાં સૂતાં નૃત્ય કરવું.

(૩૦) આરભટભસોલ.

આરભટ અને ભસોલનું મિશ્રણ તે આરભટભસોલ એમ સમજી શકાય.

(૩૧) ઉત્પાત, નિપાત, સંકુચિત, પ્રસારિત, રયારઇય, ભ્રાંત અને સંભ્રાંત ક્રિયાઓને લગતા અભિનય

(અ) પ્રસારિત

ના. શા. અનુસાર છ શયનકર્મ પૈકી ત્રીજું તે પ્રસારિત છે.

एकं भुजमुपाधाय संप्रसारितजानुकम् ।

स्थानं प्रसारितं नाम सुखसुप्तस्य कारयेत् ।।

–(ના. શા. ૧૨·૨૩૧)

અર્થાત્, જેમાં એક ભુજાનો તકિયાના રૂપમાં ઉપયોગ થાય ચને ઘુંટણ ફેલાવાયેલ હોય, તેને 'પ્રસારિત' કહે છે. નિરાંતે સૂવાના સમયે આનો પ્રયોગ કરવો–કરાવવો.

(બ) રયારઇય ને સ્થાને જંબૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિમાં 'રેચકરેચિત' પાઠ છે એવી નોંધ શ્રી કાપરિયાએ (પૃ. ૬૦) આપી છે.

આરભટી શૈલીથી નાચનાર નટ મંડલાકારરૂપે રેચક અર્થાત્ કમર, હાથ, ગ્રીવાને મરોડ આપી નૃત્ય કરે તે આ પ્રકારની નાટ્યવિધિ છે.[૪૧]

ના. શા. માં 'રેચિત'[૪૨] નામે અંગહારનું વર્ણન છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनस्तेनैव योगेन गात्रमानम्य रेचयेत् ।
रेचितं करणं कार्यमुरोमण्डलमेव च ॥
कटिच्छिन्नं तु कर्तव्यमङ्गहारे तु रेचिते ।
नूपुरं चरणं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥

–(ना. शा. –४.२३४, २३५)

અર્થાત્, હાથને રેચિત કરીને પાર્શ્વને નમાવવું અને પાર્શ્વને આનત કરી હાથને રેચિત કરવો. પછી પૂરા શરીરને ઝુકાવીને હાથને રેચિત કરવો. તે પછી રેચિત ઉરોમંડળ અને કટિચ્છિન્ન કરણો કરવાં. આ રીતે રેચિત અંગહારમાં હાથના રેચિત કરણવિધિથી સંપન્નતા પ્રાપ્ત થાય છે. નૂપુર ચરણ કરીને (હાથને) ત્રિક મધ્યમાં પરિવર્તિત કરવો. (આમ, નૂપુર કરણ અને ભ્રમરક કરણોનું વિધાન બતાવાયું છે.)

વળી, સાત પ્રકારનાં ભ્રૂકર્મવિધાન પૈકી પાંચમું રેચિત છે.

एकस्या एव ललितादुत्क्षेपाद्रेचितं भ्रुवः ।

––(ना. शा. – ८ – १२३ A)

એટલે કે એક જ ભ્રમરનો લલિત ઉત્ક્ષેપ રેચિત કહેવાય છે.

તથા અધ્યાય–૯ માં કહ્યું છે કે––

रेचितौ चापि विज्ञेयौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ॥
प्रसारितोत्तानतलौ रेचितावितिसंज्ञितौ ॥

––(ना. शा. – ९.१९४)

અર્થાત્, ઝડપથી ઘુમાવાતા હંસની પાંખ જેવા (ફેલાયેલા) બે હાથને પણ રેચિત કહે છે. અથવા પ્રસારિત અને છતી હથેલીવાળા વિકૃત હંસપક્ષ હાથને પણ રેચિત કહે છે.

(૩૨) મહાવીરના ચ્યવન, ગર્ભસંહરણ, જન્મ, અભિષેક, બાલક્રીડા યૌવનદશા, કામભોગલીલા, નિષ્ક્રમણ, તપશ્ચરણ, જ્ઞાનપ્રાપ્તિ, તીર્થપ્રવર્તન અને પરિનિર્વાણ સંબંધી ઘટનાઓનો અભિનય.

૩૨ નાટ્યવિધિઓમાં અંતિમ નાટ્યવિધિ હંમેશ જે તે તીર્થંકરના પાંચેય કલ્યાણકો સહિત પૂર્વભવની તથા અંતિમભવની વિશિષ્ટ ઘટનાઓને દર્શાવનાર હોય છે.[૪૩]

9. Seminar on Jain Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

શ્રી કાપડિયા (પૃ. ૬૧) જણાવે છે તેમ, આ ૩૨ પ્રકારના અભિનયો પૈકી કેટલાક સૂર્યોદય જેવા નૈસર્ગિક દૃશ્ય સાથે, કેટલાક પલ્લવ અને લતા સાથે, કેટલાક અશ્વાદિની ગતિ સાથે, કેટલાક મંગલ અને અક્ષરોની આકૃતિ સાથે તો કેટલાક મહાવીર સ્વામીના જીવન સાથે સંબંધ ધરાવે છે.

આ ૩૨ નાટકોમાં તત ઇત્યાદિ ચાર પ્રકારનાં વાદ્યો, ઉત્ક્ષિપ્ત ઇત્યાદિ ચતુર્વિધ ગીત, અંચિતાદિ ચતુર્વિધ નૃત્ય તથા દાર્ષ્ટાન્તિક વગેરે ચાર પ્રકારના અભિનયનો પ્રયોગ થયો હતો, જેની નોંધ શ્રી કાપડિયાએ પણ (પૃ. ૫૯) લીધી છે.

ચતુર્વિધ વાદ્યોમાં તત (ઢોલ–નગારા વગેરે), વિતત (વીણા વગેરે), ઘન (ઝાંઝ વગેરે) અને શુષિર (શંખ, વાંસળી વગેરે) પ્રકારનાં વાદ્યો સમાવિષ્ટ થાય છે

આ અગાઉ શંખ, શૃંગ વગેરે ૪૯ જાતનાં ૧૦૮ વાદ્યો સજ્યાં એવો ઉલ્લેખ છે. પરંતુ તત વગેરેને મૂળ પ્રકાર માનવાથી વિરોધ રહેશે નહીં.

ગીતના ચાર પ્રકાર દર્શાવ્યા છે, તે છે––

ઉત્ક્ષિપ્ત, પાદાંત, મંદ ને રોચિતાવસાન. આ સંબંધમાં મલયગિરિસૂરિએ પત્ર ૫૬ અ માં કહ્યું છે કે, ઉત્ક્ષિપ્ત એટલે પ્રથમથી શરૂ કરાતું, પાદાન્ત એટલે પાદવૃદ્ધ યાને વૃદ્ધાદિ ચોથા ભાગરૂપ પાદથી બદ્ધ, ગીતના મધ્યભાગમાં મૂર્ચ્છના વગેરે ગુણોથી યુકત હોવાથી મંદ એટલે કે ઘોલનાત્મક અને યથોચિત લક્ષણથી યુકત હોવાથી સત્યાપિત અંતવાળું તે રોચિતાવસાન.[૪૪]

અંચિત, રિભિત, આરભટ ને ભસોલ એ ચાર પ્રકારની નૃત્યવિધિ અંગેની નોંધ ૨૯મી નાટ્યવિધિ દરમ્યાન લીધી છે.

ચાર અભિનયોમાં દાર્ષ્ટાન્તિક, પ્રાત્યંતિક, સામાન્યતોવિનિપાતનિક ને અંતર્મધ્યાવસાનિકનો સમાવેશ થાય છે

રાજપ્રશ્નીયસૂત્રના ટીકાકાર શ્રી મલયગિરિએ પોતે તો નાટ્ય ને અભિનયવિધિની વ્યાખ્યા કરી નથી અને તે વિધિઓ નાટ્યવિશારદ દ્વારા જ સમજવા જણાવ્યું છે. જો કે, ના. શા. માં તો આંગિક, વાચિક, સાત્ત્વિક ને આહાર્ય એ ચાર પ્રકારના અભિનયોનું નિરૂપણ પ્રાપ્ત થાય છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

હેમચંદ્રાચાર્યના 'અભિધાનચિંતામણિ' ગ્રંથમાં (કાંડ–૨, શ્લોક ૧૯૩) જણાવ્યા પ્રમાણે–ગીત, નૃત્ય ને વાદ્ય એ ત્રણના સમુદાયને માટે નાટ્ય પદ પ્રયોજાય છે, જ્યારે આ સમુદાય–પ્રેક્ષણ (નાટક) માટે યોજાય ત્યારે તે સંગીત કહેવાય છે અને ભરત વગેરેના નાટ્યશાસ્ત્ર આદિ ગ્રંથોમાં દર્શાવેલા વિધાન અનુસાર જો નાટ્ય હોય તો તેને નાટ્યધર્મિકા કહે છે.[૪૫]

આ દૃષ્ટિએ વિચારીએ તો સૂર્યાભદેવે શ્રી મહાવીર સ્વામી સમક્ષ જે ૩૨ પ્રકારની નાટ્યવિધિની રજૂઆત કરાવડાવી તે પ્રેક્ષણ માટે હોઈ, તેને 'સંગીત' નીચે મૂકી શકાય. પરંતુ અહીં આપણે નાટ્ય એવો મોઘમ ઉલ્લેખ કરીને – તે સઘળી નાટ્યવિધિઓને નાટ્યશાસ્ત્રીય ગ્રંથોની મદદથી યથાશક્ય સ્પષ્ટ કરવાનો પ્રયાસ કર્યો છે. પરંતુ ટીકાકાર જણાવે છે તે પ્રમાણે, 'નાટ્યવિધિપ્રાભૃત' નામે ગ્રંથના અભાવે, તે પ્રત્યેકનું સાચું સ્વરૂપ જાણી શકાતું નથી.

एवं सर्वत्रापि व्युत्पत्तिमात्रं यथायोगं परिभावनीयं, सम्यग भावना तु कर्तुं न शक्यते, यतोऽमीषां नाट्यविधीनां सम्यक्स्वरूपप्रतिपादनं पूर्वान्तर्गते नाट्यविधिप्राभृते, तच्चेदानीं व्यवच्छिन्नमिति ।

આ દિશામાં, પ્રો. હીરાલાલ કાપડિયા, ડો. રાઘવન તથા અન્ય વિદ્વાનોએ જે વિચારો દર્શાવ્યા છે, તેનો આધાર લઈ, જે તે વિગતના મૂળ સુધી પહોંચી આપણે જે તે નાટ્યવિધિને બને તેટલી વિશદતાથી સુસ્પષ્ટ કરવાનો પ્રયાસ અહીં કર્યો છે, તે પણ કેટલે અંશે યોગ્ય છે? કે આ પ્રયત્ન યોગ્ય દિશામાં કરાયો છે કે કેમ?–અથવા તો આ રજૂઆત 'રાજપ્રશ્નીયસૂત્ર'ના કર્તાને પણ અભિપ્રેત હશે કે કેમ? તે તો વિદ્વદ્વર્યોએ જ વિચારવું રહ્યું.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

પાદટીપ :

૧. 'સંગીત, નૃત્ય અને નાટ્ય સંબંધી જૈન ઉલ્લેખો અને ગ્રન્થો' (....જૈન ઉલ્લેખો૦), કાપડિયા, પૃ. ૬૧ ઉપર ઉદ્ધૃત.

૨. .....જૈન ઉલ્લેખો૦ –કાપડિયા, પૃ. ૬૨ ઉપર ઉદ્ધૃત

૩. શ્રી નેમિચંદ્ર વિરચિત સુખબોધા વૃત્તિ

૪. રાજપ્રશ્નીયસૂત્રમ્ (રાજ૦) – પ્રસ્તાવના પૃ. ૨૭ પા.ટી. ૮૫, ૮૬ પર ઉદ્ધૃત.

૫. જુઓ : .....જૈન ઉલ્લેખો૦ – કાપડિયા, પૃ. ૬૧.

૬. .....જૈન ઉલ્લેખો૦, કાપડિયા, પૃ. ૫૬ – તથા, રાજ૦ – પ્રસ્તાવના પૃ. ૨૫, પા. ટી. – ૬૮ ઉપર ઉદ્ધૃત.

૭. મહાભારત – કિંજવાડેકરની આવૃત્તિ, ૭·૮૨·૨૦ તથા સમીક્ષિત આવૃત્તિ – ૭·૫૮·૧૯.

૮. જુઓ : રાજપ્રશ્નીય, સૂ. ૧૪. પૃ. ૨૮.

તેસિ णं तोरणाणं उप्पिं अट्ठमंगलगा पण्णत्ता,

तं जहा—सोत्थियसिरिवच्छणंदियावत्तवद्धमाणगभद्दासणकलसमच्छदप्पणा (जाव पडिरूवा) ।

૯. રાજ૦ પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૫ ઉપર ઉદ્ધૃત

૧૦. રાજ૦ – પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૫, પા.ટી. ૭૦ ઉપર ઉદ્ધૃત

૧૧. ....જૈન ઉલ્લેખો૦, કાપડિયા, પૃ. ૫૭, પા.ટી. ૩ ઉપર ઉદ્ધૃત

૧૨. એજન, પૃ. ૫૭, પા.ટી. ૪, ૫ ઉપર ઉદ્ધૃત

૧૩. જુઓ : ...જૈન ઉલ્લેખો૦, કાપડિયા ઉપોદ્ઘાત, પૃ. ૧૭.

૧૪. ....જૈન ઉલ્લેખો૦, કાપડિયા, પૃ. ૫૭, પા. ટી. ૨ ઉપર ઉદ્ધૃત

૧૫. રાજ૦ –પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૬, પા.ટી. ૭૨ માં આ અંગે નોંધ છે.

૧૬. ....જૈન ઉલ્લેખો૦, કાપડિયા, પૃ. ૫૭ પા.ટી. ૨ ઉપર ઉદ્ધૃત

૧૭. જુઓ : રાજપ્રશ્નીય, સૂ. ૧૪, પૃ. ૨૭ તથા સૂ. ૧૫, પૃ. ૩૫

૧૮. જુઓ : રાજ.–પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૬, પા.ટી. ૭૧ અને ૭૪.

૧૯. રાજ.–પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૬, પા.ટી. ૭૫ ઉપર ઉદ્ધૃત.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

૨૦. જુઓ : 'રાજપ્રશ્નીય' પૃ. ૫૩ અ.
એગતોવક્કં દુહઓ વક્કં (એગતો खुहं दुहओ खुहं)
એગઓ चक्कवालं दुहओ चक्कवालं चक्कद्धचक्कवालं....

૨૧. રાજ.–પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૬, પા.ટી. ૭૬ ઉપર ઉદ્ધૃત.

૨૨. જૈન ઉલ્લેખો૦-કાપડિયા, પૃ. ૬૦ ઉપર આ અંગે મોઘમ ઉલ્લેખ મળે છે.

૨૩. જુઓ : રાજ૦–પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૬, પા.ટી. ૭૭.

૨૪. ...જૈન ઉલ્લેખો૦–કાપડિયા, પૃ. ૬૦ ઉપર પણ ના શા.–અ. ૧૧ માં કરાયેલ ૨૦ મંડલના નિરૂપણનો મોઘમ ઉલ્લેખ છે.

૨૫. જુઓ : રાજ.–પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૬, પા.ટી. ૭૮.

૨૬. જુઓ : ...જૈન ઉલ્લેખો૦, કાપડિયા, પૃ. ૫૮, પા. ટી. ૬

૨૭ એજન – પૃ. ૬૧
ના. શા. માં દ્રુત નામે લયનો ઉલ્લેખ હોવાની નોંધ માત્ર રાજ૦ – પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૭, પા. ટી, ૭૯ ઉપર પણ પ્રાપ્ત થાય છે.

૨૮. રાજ૦. – પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૭, પા. ટી. ૮૦ ઉપર ના. શા. માં અંચિતનો ઉલ્લેખ હોવા અંગેની નોંધ સંદર્ભ વિના પ્રાપ્ત થાય છે પરંતુ પૃ. ૨૮ ઉપર તે અંગેની સમજૂતી – ના. શા. નો હવાલો આપ્યા વિના–મળે છે.

૨૯. જુઓ : ... જૈન ઉલ્લેખો. – કાપડિયા, પૃ. ૬૧

૩૦. રાજ૦ – પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૮ માં આ પ્રકારની સમજૂતી આપી છે.

૩૧. જુઓ : ... જૈન ઉલ્લેખો૦. કાપડિયા પૃ. ૬૧

૩૨. રાજ૦. પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૭, પા. ટી. – ૮૧ ઉપર પણ તેનો ઉલ્લેખ છે.

૩૩. રાજ૦ – પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૮, પા. ટી. ૮૯ ઉપર આ વિગતની નોંધ લેવાઈ છે.

૩૪. જુઓ : ... જૈન ઉલ્લેખો. કાપડિયા, પૃ. ૬૧

૩૫. ના. શા. માં ભ્રમરનો ઉલ્લેખ હોવાની નોંધ કોઈપણ પ્રકારના સંદર્ભ વિના રાજ૦ – પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૭, પા. ટી. ૮૨ ઉપર મળે છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

૩૬. જુઓ :...જૈન ઉલ્લેખો૦ –કાપડિયા પૃ. ૬૧

૩૭. જુઓ : ૪·૩૭૪ ઉપરની વૃત્તિ, પૃ. ૧૯૦

૩૮. જૈન ઉલ્લેખો૦, કાપડિયા, પૃ. ૫૩–૫૪ ઉપર આ વિગતની નોંધ લેવાઈ છે. જેમાં ભિસોલ દ્વારા ભસોલ અભિપ્રેત હોવા અંગેની શંકા વ્યકત થઈ છે.

૩૯. રાજ૦–પ્રસ્તાવના, પૃ.૨૭, પા.ટી. ૮૭માં 'મસોલે' પાઠજ સ્વીકારાયેછે

૪૦. જૂઓ 'સ્થાનાંગસૂત્ર' ૪·૪, ૬૩૩–પૃ. ૪૩૯

૪૧. રાજ૦–પ્રસ્તાવના, પૃ. ૨૭. પા. ટી. ૮૩ ઉપર ઉદ્ધૃત.

૪૨. એજન, ના. શા. માં ' રેચિત ' નો ઉલ્લેખ હોવાની નોંધ મળે છે.

૪૩. જુઓ : જૈન ઉલ્લેખો૦ – કાપડિયાના વ્યાખ્યાન અંગે શ્રી યશોવિજયમુનિના બે બોલ– પૃ. ૫૩.

૪૪. જૈન ઉલ્લેખો૦ ...કાપડિયા. – પૃ. ૩૨ ઉપરથી ઉદ્ધૃત

૪૫. એજન. પૃ. ૪–૫ ઉપર ઉદ્ધૃત.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

સંદર્ભસાહિત્ય :

૧. શ્રીમન્ રાજપ્રશ્નીયસૂત્રમ્ (મલયગિરિની વૃત્તિ સહિત) આગમોદય સમિતિનું પ્રકાશન, ઈ. સ. ૧૯૨૫

૨. રાજપ્રશ્નીયસૂત્રમ્—
સંપાદક–વાણીભૂષણ શ્રી રતનમુનિજી
શ્રી આગમ પ્રકાશન સમિતિ, બ્યાવર (રાજસ્થાન) દ્વારા પ્રકાશિત, ઈ. સ. ૧૯૮૨

૩. સંગીત, નૃત્ય અને નાટ્યસંબંધી જૈન ઉલ્લેખો અને ગ્રંથો.
લે. પ્રો. હીરાલાલ ૨. કાપડિયા
શ્રી મુક્તિ કમલ જૈન મોહનમાલા વડોદરાથી પ્રકાશિત, પ્રથમ આવૃત્તિ, ઈ. સ. ૧૯૭૩

૪. Bhoja's Srngaraprakas'a
Dr. V. Raghavan
વસંતપ્રેસ, થિયોસોફિકલ સોસાયટી, આઘાર, મદ્રાસથી પ્રકાશિત, ઈ. સ. ૧૯૬૩

૫. નાટ્યશાસ્ત્ર (અભિનવ ભારતી સાથે)
G. O. S. Edn.
Vol I (1956), Vol II (1934),
Vol III (1954), Vol IV (1964)

૬. ભાવપ્રકાશનમ્ -- શારદાતનય–
ચૌખંબા સુરભારતી પ્રકાશન– વારાણસી
દ્વિતીય સંસ્કરણ, ઈ. સ. ૧૯૮૩

૭. શ્રી ઉત્તરાધ્યયનાનિ--
(શ્રીનેમિચંદ્રવિરચિત 'સુખબોધા' વૃત્તિ સહિત)
નિર્ણય સાગરનું પ્રકાશન, ઈ. સ. ૧૯૩૭)

૮. શ્રીમજ્જીવાજીવાભિગમોપાઙ્ગમ્—
નિર્ણયસાગર પ્રેસથી પ્રકાશિત
પ્રથમ સંસ્કરણ, ઈ. સ. ૧૯૧૯

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

૯. स्थानाङ्गसूत्र समवायांगसूत्र च—
(અભયદેવસૂરિ–વિરચિત વૃત્તિસહિત)
સંપાદક–જંબૂવિજયમુનિ
મોતીલાલ બનારસીદાસ ઇન્ડોલોજિકલ ટ્રસ્ટ, દિલ્હીથી પ્રકાશિત,
પ્રથમ સંસ્કરણ, ઈ. સ. ૧૯૮૫

૧૦. સ્થાનાઙ્ગસૂત્રમ્—
સંપાદક – યુવાચાર્ય શ્રી મિશ્રીમલજી મહારાજ 'મધુકર'
અનુવાદક – પં. હીરાલાલ શાસ્ત્રી
પ્રકાશક – શ્રી આગમ પ્રકાશન સમિતિ, બ્યાવર (રાજસ્થાન)
ઈ. સ. ૧૯૮૧

૧૧. જૈન સાહિત્યકા બૃહદ્ ઇતિહાસ (ભાગ–૨)—
ડૉ. જગદીશચંદ્ર જૈન અને મોહનલાલ મહેતા
પાર્શ્વનાથ વિદ્યાશ્રમ શોધ સંસ્થાન, વારાણસીથી પ્રકાશિત, ઈ. સ. ૧૯૬૬
[આ પુસ્તકમાં પ્રાપ્ત થતી સામગ્રીનો વિનિયોગ રાજપ્રશ્નીયના સંપાદક શ્રી રતનમુનિજીએ કર્યો છે. તેથી અહીં આ પુસ્તકના સંદર્ભોનો સ્વતંત્ર ઉલ્લેખ કર્યો નથી.]

૧૨. શ્રી મહાભારતમ્ (દ્રૌણપર્વ) (નીલકંઠવિરચિત ભારતભાવદીપા ટીકાસહિત)
સંપાદક – પંડિત રામચંદ્ર શાસ્ત્રી કિંજવડેકર
ઓરિયન્ટલ બુકસ રીપ્રિંટ કોર્પોરેશન, દ્વારા પ્રકાશિત,
દ્વિતીય સંસ્કરણ, ઈ. સ. ૧૯૭૯

૧૩. The Mahābhārata – Vol, 8–
B. O. R. I. Poonanું પ્રકાશન, ઈ. સ. ૧૯૮૫

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति और भागवत में ऋषभचरित ।

प्रा. डा. हरनारायण उ. पण्ड्या, कलोल

जैन आगम साहित्य में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति उपांग है, जिसके चार अधिकार हैं, जिनमें जंबूद्वीप, जंबूद्वीपगत भरतक्षेत्र, भरतक्षेत्रगत काल, ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, हिमवान्निषधादि पर्वत, जिनजन्ममह और मुहूर्त आदि का वर्णन है। यह ग्रंथ इसाकी दूसरी–तीसरी शती का माना जाता है।

ब्राह्मण परंपरा के १८ पुराणों में भागवत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके १२ स्कंध हैं, जिनमे ऋषभदेव और भरत का भी वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ को विद्वान लोग ९ से १२वीं शती के बीच रखते हैं। विन्टरनिट्झ १०वीं शती में रखते हैं ।[१]

यहाँ जं. प्र. और भागवत में वर्णित ऋषभचरित की तुलना अभिप्रेत है। दोनों ग्रन्थों में ऋषभदेव के पिता का नाम नाभि है। माता के नाम में पाठान्तर भी है और भिन्नता भी है, जैसे जं. प्र. में मरुदेवी नाम है, जब कि भागवत में मेरुदेवी हैं, वे मेरु पर्वत की नव पुत्रियों में सबसे बडी हैं।[२] भागवत में इसके अलावा एक दूसरा नाम सुदेवी भी मिलता है।[३]

जं. प्र. और महापुराण (जैन दिगम्बर ग्रन्थ) में ऋषभदेव के पितामह आदि पूर्व पुरुषों का उल्लेख नहीं है, जब कि भागवत में चार पूर्वपुरुषों के नाम मिलते हैं–जैसे स्वायंभुव मनु के दो पुत्र हैं – प्रियव्रत और उत्तानपाद।[४] प्रियव्रत के आग्नीध्र आदि १० पुत्र हैं, जिनमें आग्नीध्र को जंबूद्वीप का शासन सौंप दिया था। आग्नीध्र को नाभि आदि ९ पुत्र थे।[५]

जं. प्र.[६] अनुसार नाभि १४ वाँ कुलकर है।[७] ब्राह्मण परंपरा में जो स्थान मनु का है, वही स्थान जैन परंपरा में कुलकर का हैं। महापुराण[८] में मनु शब्द कुलकर का पर्यायवाचक हैं।[९] भागवत के अनुसार मनुओं की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संख्या १४ है, जबकि जं. प्र. के अनुसार वह संख्या १५ की है। भागवत-अनुसार नाभि मनु नहीं हैं, परंतु मनु के वंशज हैं।

जं. प्र. अनुसार ऋषभदेव १५ वाँ कुलकर और २४ तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हैं।[१०] जबकि भागवतअनुसार वे २२ (२४) अवतारों में ८ वाँ अवतार हैं।[११] इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों परंपराने समाज में उनके अत्यंत सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व का स्वीकार किया है।

भागवत में मात्र ऋषभ नाम है, जबकि जैन परंपरा में दो नाम मिलते हैं —जं. प्र. में ऋषभ नाम है और महापुराण में वृषभ नाम है। ऋषभ नाम रखने के पीछे क्या दृष्टि थी, इसकी स्पष्टता भागवत में है – तेज, बल, शोभा, यश, पराक्रम और शौर्य में श्रेष्ठ होने से ऋषभ नाम रखा गया।[१२] उनके हृदय में धर्म था और अधर्म को दूर रखा था, अतः ऋषभ नाम से वे बुलाये गए।[१३] इस तरह ऋषभ शब्द श्रेष्ठता और धर्म का वाचक है। ऐसा अर्थ-घटन जं. प्र. में नहीं है। ये बातें जं. प्र. की प्राचीनता की सूचक है। महापुराण में वृषभ शब्द के चार अर्थघटन हैं –

(१) वे जगत में ज्येष्ठ है। (वृषभोऽयं जगज्ज्येष्ठो।)

(२) वृष = धर्म, तीर्थंकर धर्म से शोभान्वित दिखते हैं। (वृषो हि भगवान् धर्मः, तेन यद्भाति तीर्थकृत्।)

(३) वे जगत में धर्मामृतरूप हितकी वृष्टि करते हैं। (वर्षिष्यति जगद्धितम्।)

और

(४) मरुदेवी ने स्वप्न में वृषभ (बैल) देखा था अतः उनका नाम वृषभ रखा गया।[१४] इन चार अर्थघटनों में से प्रथम के दो अर्थघटन भागवत के अर्थघटन से साम्य रखते हैं। अमरकोश मोनियर विलियम्स और आप्टे के शब्द-कोश में ऋषभ शब्द धर्मवाचक नहीं है, फिर भी भागवत में उसका सम्बन्ध धर्म से बताया गया है। इसके लिए दो कारणों का अनुमान हो सकता है –

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) अमरकोश में ऋषभ और वृषभ दोनों शब्द शृंगी वनस्पति के और बैल के पर्यायवाचक हैं, और वृष शब्द धर्म का भी वाचक है।

(२) जैन परंपरा में वृषभदेव के नाम का सम्बन्ध धर्म से बताया है। संभव है, इन दोनों में से किसी एक का या दोनों का असर भागवत पर पड़ा हो।

जं. प्र. में ऋषभदेव की पत्नी का नाम नहीं मिलता है। भागवत अनुसार उनको जयन्ती नाम की एक पत्नी है, जब कि महापुराण में उनकी दो पत्नियाँ हैं—यशस्वती और सुनंदा। भागवत और महापुराण दोनों एकमत हैं कि ऋषभदेव के विवाह में इन्द्र का सहयोग मिला था – जैसे कि भागवत के अनुसार ऋषभदेव का विवाह इन्द्र ने दी हुई जयन्ती नाम की कन्या के साथ हुआ था,[१५] जब कि महापुराण के अनुसार राजा नाभि इन्द्र की अनुमति लेकर ऋषभदेव का विवाह यशस्वती और सुनन्दा के साथ करते हैं।[१६]

ज.प्र. और भागवत में इस बात में समानता है कि ऋषभदेव को १०० पुत्र थे।[१७] जब कि महापुराण के अनुसार यशस्वती को १०१ पुत्र एवं एक पुत्री ब्राह्मी और सुनंदा को एक पुत्र बाहुबली एवं एक पुत्री सुन्दरी थी।[१८] जं. प्र. में पुत्रों के नाम नहीं मिलते हैं, जब कि भागवत और महापुराण में थोड़े नाम मिलते हैं, यद्यपि नाम में भिन्नता अवश्य है जैसेकि–भागवत के अनुसार पुत्रों के नाम हैं–भरत, कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ, कीकट, कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन।[१९] जब कि महापुराण के अनुसार भरत, वृषभसेन, अनन्तविजय, अनन्तवीर्य, अच्युत, वीर, वरवीर, बाहुबलि आदि नाम हैं।[२०]

ब्राह्मण और जैन दोनों परंपराएं स्वीकारती हैं कि ऋषभदेवजी दिव्य पुरुष थे। उन्होंने एक आदर्श गृहस्थ का जीवन व्यतीत किया था और बाद में विरक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए थे। जं. प्र. अनुसार उन्होंने अपने राज्य के १०० प्रदेश १०० पुत्रों को बाँट दिये थे।[२१] जबकि भागवत और महापुराण के अनुसार बडे पुत्र भरत को राज्य दिया गया था।[२२] जं. प्र. और भागवत में पुत्रों के बीच हुए युद्ध का उल्लेख नहीं है, जबकि महापुराण में भरत–बाहुबली युद्ध का विस्तृत वर्णन मिलता है।[२३] हालांकि, भरत का युद्ध सहोदर भाइयों के साथ नहीं हुआ था।

जं. प्र. में ऋषभदेव के गृहत्याग बाद के जीवन का विस्तृत वर्णन है, किन्तु गृहस्थ जीवन का अतिसंक्षिप्त वर्णन है, जबकि भागवत और महापुराणमें गृहस्थजीवन का भी उचित वर्णन मिलता है, जिसमें उनके दिव्य सामर्थ्य पर प्रकाश डाला गया है जैसे कि – भागवत के अनुसार एक दफा इन्द्रने ऋषभदेव की स्पर्धा की और वृष्टि नहीं की, अतः ऋषभदेव ने हँस कर अपने देश अजनाभ में वृष्टि की। महापुराण के अनुसार एक दफा प्रजा अन्नवस्त्र की कमी से व्यथित होकर नाभि राजा की आज्ञा से ऋषभदेव के पास गई। उन्होंने इन्द्र का स्मरण किया। इन्द्र वहाँ आया और प्रजा का दुःख दूर किया।[२४]

दोनों परंपरा स्वीकार करती है कि ऋषभदेव विशिष्ट समाजसुधारक थे और उन्होंने उपदेश दिया था। भागवत के अनुसार उन्होंने अपने पुत्रों को मोक्षधर्म का उपदेश दिया था, जब कि जं. प्र. अनुसार जब वे गृहस्थ थे तब गृहस्थ धर्म का (लिपि, कला, शिल्प, महिलागुण आदि) और दीक्षा के बाद मोक्षधर्म का उपदेश दिया था।[२५]

दोनों परंपराएं स्वीकार करती है कि संन्यस्त अवस्था में वे नग्न रहे थे। जं. प्र. के अनुसार उन्होंने एक वर्ष तक वस्त्र पहींने थे, इसके बाद निर्वस्त्र बने थे।[२६] भागवत और महापुराण में संन्यस्त अवस्था में पीली जटा का वर्णन मिलता है।[२७] इससे अनुमान किया जा सकता है कि महापुराण के समय तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयसंबंधित केशलोच अनिवार्य नहीं था । भागवत और महापुराण दोनों में उल्लेख है कि यद्यपि ऋषभदेव मलीन रहते थे, फिर भी उनके शरीर से सुगन्ध नीकलती थी ।[२८] जो यौगिक ऋद्धि का निर्देश करती है ।

भागवत में दीक्षाप्रसंग का वर्णन नहीं है, जब कि जं. प्र. में विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसमें तिथि, नक्षत्र और समय आदि का सूक्ष्म वर्णन है ।[२९] भागवत में शिष्यपरिवार का विस्तृत वर्णन नहीं है ।जब कि जं. प्र. में विशाल शिष्य परिवार का विस्तृत वर्णन है ।[३०] महापुराण के अनुसार उन्होंने काशी, अवन्ती, कुरू, विदर्भ आदि देशों में विहार किया था किन्तु वहाँ स्वागत का उल्लेख है, अपमान का उल्लेख नहीं है, जब कि भागवत के अनुसार परिभ्रमण काल में लोगों ने उनका बहुत अपमान किया था जैसे कि उन पर मलमूत्र फैंके थे आदि ।[३१]

दोनों परंपराएं उनके मृत्यु का भिन्न भिन्न वर्णन करती हैं – भागवत के अनुसार स्वशरीर का त्याग करने के लिए वे कर्णाटक के कोंक, वैंक कुटक प्रदेश में गए, वहाँ दावानल में उनका शरीर जल गया । जब कि जं. प्र. में वे पद्मासन में मुक्त हुए ।[३२] इससे अनुमान कर सकते हैं कि जैन परंपरा के अनुसार उन्होंने योग द्वारा शरीरत्याग किया था ।

भागवत में उनके मृत्यु के बाद की घटना का कोई वर्णन नहीं है, जब कि जं. प्र. में अग्निसंस्कार आदि का विस्तृत वर्णन है । जैसे कि ऋषभदेव के निर्वाण से इन्द्र का आसन डोल ऊठता है । यह इन्द्र अन्य इन्द्रों द्वारा तीन चिता बनवा कर, तीन चैत्यों को रचवा कर, उनके अस्थि रत्नपेटिकाओं में रखकर, पूजा करता है ।[३३]

दोनों परंपराएँ स्वीकार करती है कि अपनी परंपरा से अलग अन्य परंपरा पाखंड है–जैसे कि भागवत में कहा गया है कि ऋषभचरित सुनकर कोंक, वैंक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कुटक का राजा अर्हत् कलियुग में अपने वेदधर्म का त्याग कर पाखंड धर्म चलाएगा, फलतः दुष्टलोग अस्नान, अनाचमन, अशौच, केशोल्लुंचन आदि व्रत रखेंगे और ब्रह्म, ब्राह्मण एवं यज्ञपुरुष की निंदा करेंगे। महापुराण के अनुसार ऋषभदेव के साथ दीक्षित राजाओं में से जो अशक्त थे वे वापस नहीं जा सके अतः वे एकदंडी, त्रिदंडी, जटाधारी आदि पाखंड वेषधारी बने। मरीचिने योग और कापिल सांख्य की रचना की आदि।[३४]

उपर्युक्त इन तीनों ग्रथों में वर्णित ऋषभचरित को देखने पर यह अनुमान कर सकते हैं कि जं. प्र. के काल में ऋषभकथा अल्पांश में विद्यमान थी। आगे चल कर भागवत–महापुराण काल में उस कथा का विस्तृतीकरण हुआ। समाज में जो कथा चलती थी, उसमें दोनों परंपरा ने अपने मत के अनुकूल सुधार किया। महापुराण में ऋषभ के पुत्रों के बीच भरत–बाहुबली युद्ध/संघर्ष की जो बात आई है उसका कोई अन्य मूल है। ऋषभ की कथा में जो भिन्नता दिखाई देती है उसका कारण यह भी हो सकता है कि समाज में ऋषभ की कथा भिन्न भिन्न रूप से प्रचलित थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पादटिप्पण :

(1) History of Indian Literature, Vol. 1
ले. विन्टरनिट्झ Trans. Ketker
प्रकाशन मुन्शीराम मनोहरलाल-दिल्ली-6, p. 556
(2) भा. 5-2-23 भागवत पुराण (मूलमात्र) गीताप्रेस, गोरखपुर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, संवत 1998
(3) भा. 2-7-10
(4) भा. 4-1-9
(5) भा. 5-1-25, 33 ; 5-2-19.
(6) जं. प्र. = जंबुद्दीव - पण्णत्ती । संशोधक-पं न्यास लाभसागरगणि, प्राप्तिस्थान :-जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत, विक्रम संवत 2033. ।
(7) जं. प्र. P. 109
(8) महापुराण-भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीतम्
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम आवृत्ति. ई. स. 1951
(9) महापुराण 3-77; 3-211;
(10) जं. प्र. 109, 111,
(11) भा. 1-3-13
(12) भा. 5-4-2
(13) सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।..... अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥
भा. 5-5-19.
(14) महापुराण 14-160 से 162.
(15) भा. 5-4-8.
(16) महा. 15-69; 71.
(17) पुत्तसयं रज्जसए अभिसिंचति....जं. प. पृ. 112
(18) महा. 16-1 से 7.
(19) भा. 5-4-10; 11.
(20) महा. 16-1 से 3.
(21) जं. प. पृ. 112
(22) भा. 5-5-28, महा. 17-76; 77.
(23) महा. पर्व 35 और 36.
(24) भा. 5-4-3; महा. 16 - 130 से 178.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(25) भा. 5–5; जं. प्र. पृ 111, 121.
(26) जं. प. पृ. 119.
(27) भा. 5–5–31, महा मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूरं प्रसस्रुः पवनोद्धताः....। 18–76.
(28) भा. 5–5–33, महा. 33–121.
(29) जं. प्र. P. 112
(30) जं. प्र. P. 121
(31) महा. 20–15 से 18, भा. 5–5–30.
(32) भा. 5–6–7; 8. जं. प्र. P. 130. महा. 47 – 338 से 350
(33) जं. प्र. P. 131, 132. महा. 47 – 344 से 47.
(34) भा. 5–6–9 से 10; महा. 18–49 से 62.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती आराधना एवं प्रकीर्णकोंमें आराधनाका स्वरूप

–जिनेन्द्रकुमार जैन, उदयपुर

आराधना विषयक ग्रन्थ

अर्धमागधी आगम साहित्य के प्रकीर्णकों एवं शौरसेनी जैन आगम साहित्य में शिवार्यकृत 'भगवती आराधना' का प्रतिपाद्य विषय लगभग समान है। इन दोनों में आराधना एवं संलेखना का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों की अनेक गाथाएं भी एक दूसरे में समान पायी जाती हैं। इन दोनों के आधार पर यहाँ आराधना के स्वरुप का विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किय गया है।

भगवती आराधना का मूल नाम 'आराधना' है[1] किन्तु कर्ता ने अपन कृति को परमआदरभाव व्यक्त करने के लिए आराधना से पहले 'भगवती विशेषण लगाया है। इस ग्रन्थ के टीकाकार श्री अपराजित सूरि (१० वीं शताब्दी)ने भी टीका के अन्त में इसका नाम 'आराधना' दिया है।[2] इसी प्रकार देवसेन ने भी भगवती आराधना के आधार पर एक ग्रन्थ की रचना की थी जिसका नाम उन्होंने 'आराधनासार' दिया है।[3] आचार्य अमितगति ने भी संस्कृत पद्यों में एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम उन्होंने भी 'आराधना' ही दिया है।[4] भगवती आराधना के सम्पादकों एवं अन्य विद्वानों ने इस ग्रन्थ के नामकरण, रचनाकाल आदि पर विशेष प्रकाश डाला है।

भगवती आराधना :

आचार्य शिवार्यकृत भगवती आराधना के नाम से ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में आराधना के भेद–प्रभेद व स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के बाद संभवतः ईसा की दूसरी शताब्दी में रचित इस ग्रन्थ में कुल २१६४ गाथाएं हैं–जिन में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व

---

10. Seminar on Jain Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप इन चार प्रकार की आराधनाओं के साथ साथ ५ मरण, १२ तप, संलेखना एवं श्रावक धर्म आदि का वर्णन किया गया है। चूंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप की आराधना से ही जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है इसलिए ग्रन्थकार ने प्रथम २४ गाथाओं में आराधना के भेद, स्वरूप व इन चारों के सम्बन्ध आदि का वर्णन ग्रन्थ में सबसे पहले किया है।

प्रकीर्णक–साहित्य :

अर्धमागधी आगम साहित्य में प्रकीर्णकों की संख्या २० मानी गयी है।[५] जिनमें आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा तथा मरणसमाधि नामक प्रकीर्णकों में भगवती आराधना की तरह ही आराधना के भेद, स्वरूप व संलेखना द्वारा मरण आदि का वर्णन किया गया है। चतुःशरण नामक प्रकीर्णक में इस संसारको अशान्ति एवं दुःख का प्रतीक मानते हुए अरहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ–प्ररूपित धर्म को शरणमात्र कहा गया है।[६] तन्दुलवैचारिक नामक प्रकीर्णक में मुख्य रूप से गर्भविषयक वर्णन है। जीवनभर में जो श्रेष्ठ व कनिष्ठ कर्म किए गये हैं उनका लेखा लगाकर अन्तिम समय में समस्त दुष्प्रवृत्तियों का परित्याग कर, संयम धारणकर संस्तारक पर आसीन होकर पंडित–मरण को प्राप्त करने वाला श्रमण मुक्ति का वरण करता है। बृहत्कल्प व व्यवहार सूत्रों के आधार पर लिखा गया गच्छाचार प्रकीर्णक श्रमण–श्रमणियों के आचार–सिद्धान्त का निरूपण करता है। गणिविद्या नामक प्रकीर्णक में ज्योतिष सम्बन्धी व देवेन्द्रस्तव में ३२ देवेन्द्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है।

आराधना का स्वरूप :

आराधना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भगवती आराधना में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप के उद्योतन, उद्यमन, निर्वहन, साधन और निस्तरण को आराधना कहते हैं।[७] अर्थात् सम्यग्दर्शन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान, चारित्र व तप के शंका आदि दोषों को दूर करना (उद्योतन), बार–बार आत्मा का सम्यग्दर्शन आदि रूप में परिणत होना (उद्यमत), परीषह, आदि आने पर भी आकुलता के बिना सम्यग्दर्शन आदि धारण करना (निर्वहन) नित्य या दैनिक कार्यों को करने से सम्यग्दर्शन आदि में व्यवधान आने पर उसमें पुनः मन को लगाना (साधन), तथा दूसरे भव में भी सम्यग्दर्शन आदि को साथ ले जाना या आमरण पालन करना (निस्तरण) ही आराधना है। तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, स्व और पर के निर्णय को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। पाप का बन्ध कराने वाली क्रियाओं के त्याग को सम्यक् चारित्र तथा इंद्रिय एवं मन के नियमन को सम्यक् तप कहते हैं।[८]

भगवती आराधना में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप इन चारों आराधनाओं को सम्यग्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र इन दो आराधनाओं में समाविष्ट कर दिया है। दर्शन की आराधना करने पर ज्ञान की आराधना नियम से होती है किन्तु ज्ञान की आराधना करने से दर्शन की आराधना भजनीय है – होती भी है, नहीं भी होती है।[९] तथा संयम या चारित्र की आराधना करने पर तप की आराधना नियम से होती है किन्तु तप की आराधना में चारित्र की आराधना भजनीय है।[१०] ऊपर कहा गया है कि श्रद्धान (दर्शन) की आराधना करने पर सम्यक् ज्ञान की आराधना अवश्य होती है, किन्तु यहां प्रश्न किया जाता है कि दर्शन और चारित्र की आराधना के स्थान पर ज्ञान और चारित्र इस प्रकार भेद क्यों नहीं किए गये। इस के उत्तर में विजयोदया के टीकाकार ने अपनी टीका में कहा है कि–सम्यग्ज्ञान की आराधना करने पर सम्यग्दर्शन की आराधना होती है किन्तु मिथ्याज्ञान की आराधना में दर्शन की आराधना नहीं होती इसलिए मूलग्रन्थकारने 'भयणिज्ज' शब्द के प्रयोग से इसे स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान की आराधना से दर्शन की आराधना भजनीय है (अर्थात् होती भी है और नहीं भी होती)। अतः ज्ञान का प्राधान्य न होने के कारण ज्ञानाराधना नामक भेद नहीं किया गया। इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार चारित्र की आराधना से तप की आराधना अवश्य होती है किन्तु तप की आराधना से चारित्र की आराधना भजनीय है, वह कैसे ? इसका उत्तर देते हुए टीकाकार कहते है कि तप की आराधना करने वाले के द्वारा असंयम का त्याग किया भी जाता है और नहीं भी किया जाता है इसलिए तप की आराधना में चारित्र आराधना भजनीय है। इन चारों आराधनाओं में चारित्र आराधना की महत्ता स्पष्ट करते हुए आचार्य शिवार्य कहते हैं कि – चारित्र की आराधना में ज्ञान, दर्शन, तप सब आराधित होते हैं। ज्ञान, दर्शन और तप में से किसी की आराधना में चारित्र की आराधना भाज्य होती है।[११]

प्रकीर्णकों में आराधन किसका ? एवं आराधक कौन ? इसको स्पष्ट करते हुए आराधना के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। दुष्कृत कार्यों को जानते हुए, शुभ ध्यान करते हुए एवं शुभ मार्ग का अनुसरण करते हुए कीर्ति को प्राप्त करना, तथा अपनी बुराइयों की (गूढ बातों की) निन्दा करना – यह आराधना है।[१२] पांच महाव्रतों का पालक अच्छे चारित्र एवं शील से युक्त श्रमण आराधक होता है। जो स्वयं को एवं अपनी आत्मा को जानता है, वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में स्थित मुनि आराधक होता है।[१३] आराधक के इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि पांच महाव्रत, शील, तप एवं रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) आदि का पालन करना या श्रद्धान करना ही आराधना है।

आराधक का स्वरूप :

आराधक के स्वरूप को लेकर भगवती आराधना में कहा गया है, कि – जो गुरु के सम्मुख अपने दोषों की आलोचना या अपने अपराधों की निन्दा करने का दृढ संकल्प लेकर घर से निकल जाये किन्तु मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो जाये या गुरु की ही मृत्यु हो जाये अथवा उन दोनों में वाक् शक्ति का अभाव हो जाये, फिर भी वह आराधक कहलाता है।[१४] क्योंकि उसने अपने दोषों की आलोचना, या अपराधों की निन्दा करने का दृढ संकल्प लेकर प्रायश्चित्त किया है। जो गुरु के पास सकल भावशल्य को छोडकर शल्यों से रहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर मृत्यु को प्राप्त करता है वह आराधक होता है, किन्तु जो गुरु के पास भावशल्य को बिलकुल नहीं छोड़ता वह न तो समृद्धिशाली होता है और न ही आराधक होता है।[१५] चारों कषायों का त्याग, इन्द्रियों का दमन एवं गौरव को नष्ट करके राग-द्वेष से रहित होकर आराधक अपनी आराधना—शुद्धि करता है।[१६] आचार्यों ने इन दोनों ग्रन्थों में कहा है कि तीन गारव, एवं तीन शल्यों[१७] से रहित होकर, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) का आचरण करनेवाला समस्त दुःखों का क्षय करने वाला होता है।[१८]

भगवती आराधना एवं प्रकीर्णकों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी आराधना का वर्णन मिलता है। आचारांगसूत्र में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप एवं वीर्य ये आचार के ५ भेद बतलाते हुए साधक को इनकी आराधना करने का निर्देश दिया गया है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग में भी सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप इन चारों का साधक को समाधि के लिए (मरणकाल में) आचरण करने का आदेश दिया गया है। समवायांग[१९] नामक अंग आगम में ३ प्रकार की विराधना का वर्णन किया गया है। भगवती सूत्र में[२०] कहा गया है कि ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना ही श्रेयस्कर है। उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक नामक मूल आगम साहित्य में भी आराधना के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उत्तराध्ययन[२१] में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप को मोक्ष का साधन बताते हुए इनका श्रद्धान (आराधना) करने को कहा गया हैं। दशवैकालिक[२२] सूत्र में भी भिक्षु के लक्षण बताते हुए कहा गया हैं कि—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप की आराधना द्वारा पुराने कर्मों को प्रकम्पित (क्षय) करके जो मन, वचन और काय से सुसंवृत है वह भिक्षु है।

शौरसेनी आगम साहित्य के प्रसिद्ध आचार्य वट्टकेर द्वारा रचित 'मूलाचार' नामक ग्रन्थ में आराधना के भेद व स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। मूलाचार के बृहद्प्रत्याख्यान संस्तव अधिकार में कहा गया है कि श्रमण को पापों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्त होकर जीवन के अन्तिम क्षणों में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप इन चार आराधनाओं में स्थित रहकर क्षुधादि परीषहों पर विजय प्राप्त कर निष्कषाय रहने का आदेश दिया गया है।[२३] सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने के बाद जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को आराधना कहा है। जैनेन्द्र सिद्धांत कोश में आराधना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, उनमें परिणति करना, इनको दृढतापूर्वक धारण करना, उनके मंद पड़ जाने पर पुनःपुनः जागृत करना और उनका आमरण पालन करना, सो (निश्चय) आराधना है।[२४] द्रव्यसंग्रह[२५] में भी इन चारों आराधनाओं–सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तपका निवास स्थान आत्मा को माना गया है अर्थात् इन चारों की आराधना करना ही आत्मा में निवास करना है। इसी लिए आत्मा को इन चारों आराधनाओं का शरणभूत बतलाया गया है।

आराधना के भेद–प्रभेद :

आराधना के स्वरूप के साथ साथ उसके भेद–प्रभेद पर भी आचार्यों ने प्रकाश डाला है। भगवती आराधना में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप के भेद से आराधना के चार प्रकार बतलाये गये हैं।[२६] तथा संक्षेप में आराधना के सम्यक्त्व (दर्शन) आराधना एवं चारित्र आराधना ये दो भेद भी किए गए है।[२७]

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप इन चारों आराधनाओं को सम्यग्दर्शन व चारित्र इन दो आराधनाओं में समाहित कर दिया है। क्योंकि सम्यक् दर्शन की आराधना से ज्ञान की, एवं चारित्र की आराधना से तप की आराधना नियम से होती है किन्तु ज्ञान की आराधना करने पर दर्शन की, एवं तपकी आराधना से चारित्र की आराधना भजनीय है (होती भी है, नहीं भी होती)[२८]। प्रकीर्णकों में आराधना के सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र ये तीन भेद बतलाये गये हैं।[२९] तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप के भेद से आराधना चार प्रकार की भी कही गई है।[३०] समन्तभद्रकृत, रत्नकरण्ड–श्रावकाचार एवं पं. आशाधरकृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनगारधर्मामृत में सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र इन तीन आराधनाओं का ही वर्णन मिलता है। इसी प्रकार भगवतीसूत्र (८/१०) में सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र के भेद से आराधना के तीन भेद किए गए हैं। इन तीनों आराधनाओं के उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य के भेद से तीन–तीन भेद भी किए गये हैं[३१]। भगवती आराधना एवं प्रकीर्णकों में भी इन चारों आराधनाओं के उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य के भेद से तीन–तीन भेद किए गये हैं।[३२] जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप का उत्कृष्ट रूप में आराधना करता है वह उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेता हैं। तथा जो इन चारों आराधनाओंकी मध्यम – आराधना करता है वह कर्मरूपी धूलि से छूटकर तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त करता है। जघन्य रूपसे आराधना करके जीव सात आठ भवोंकी पूर्ति पर मोक्ष प्राप्त करता है।[३३] मरणसमाधि प्रकीर्णक में मध्यम आराधक को चोथे भव में मोक्ष प्राप्ति का निर्देश दिया गया है।[३४]

चारों आराधनाओं का स्वरूप :

श्री अपराजितसूरि ने अपनी विजयोदयाटीका में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तत्त्वार्थ–श्रद्धान को सम्यग्-दर्शन कहते हैं। स्व और पर के निर्णय को सम्यग्ज्ञान कहते है। पाप का बन्ध कराने वाली क्रियाओं के त्याग को चारित्र एवं इन्द्रियों तथा मन के नियमन को तप कहते हैं।[३५] मनुष्य ज्ञान से जीवादि पदार्थों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से (कर्मास्रव का) निरोध करता है और तप से क्षय करता है।[३६]

सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि तत्वों के अर्थ को समझना और उनके श्रद्धान को अथवा उनमें विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं[३७] जो उपदिष्ट अर्थात् जिनागम में श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है। किंतु नहीं जानते हुए गुरु के नियोग से असत्य अर्थ का भी श्रद्धान होता है। जो वीर वचनों (जिनागम) का श्रद्धान करते हुए सम्यक्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अनुरक्त रहते हैं और धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल तथा जीव का श्रद्धान करते हैं उनके दर्शन–आराधना होती है।[३९] चारित्र विहीन सम्यग्दृष्टि तो (चारित्र धारण करके) सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित (जीव) सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते।[४०] सम्यग्दर्शन युक्त शास्त्र–ज्ञान, व्यवहार–ज्ञान है और रागादि की निवृत्ति में प्रेरक शुद्धात्मा का ज्ञान, निश्चय सम्यग्ज्ञान हैं।[४१] जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा विशुद्ध होती है उसी को जिन–शासन में ज्ञान कहा गया है।[४२] संसार के कारणभूत कर्मों के बन्ध के लिए जो क्रियाएं हैं उनका निरोध कर शुद्ध आत्म स्वरूप का लाभ करने के लिए जो सम्यग्ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति है उसे सम्यक् चारित्र या संयम कहते हैं।

सम्यक् चारित्र की आवश्यकता को बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्-दर्शन से रहित साधक उत्कृष्ट चारित्र की साधना करने के बावजूद भी कर्मों की उतनी निर्जरा नहीं कर पाता जितनी कि सम्यग्दृष्टि साधक स्वल्प साधना से कर लेता है। इसलिए संसार रूपी भवसमुद्र को पार करने के लिए सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत–महाव्रत रूपी चारित्र की आराधना आवश्यक है। इच्छाओं का निरोध या संयम तप कहलाता है।[४३] जो ८ प्रकार के कर्मों को तपाता हो या भस्मसात् करने में समर्थ हो उसे तप कहते है।[४४] कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन, जिनपूजन तथा अनशन आदि करना तप कहलाता हैं।[४५] अतः इन चारों की आराधना करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा एवं मरणसमाधि इन चारों प्रकीर्णको में एवं भगवती आराधना में आराधना के स्वरूप के साथ–साथ संलेखना द्वारा मरणसमाधि का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। भगवती आराधना में पंडित-पंडित मरण, पंडित मरण, बाल-पंडित मरण, बाल–मरण और बाल–-बाल मरण ये मरण के पाँच भेद किए गए है।[४६] जब कि प्रकीर्णको में बालमरण, बालपंडितमरण एवं पंडितमरण ये तीन भेद ही बताए गये हैं।[४७] बालमरण मरने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला विराधक होता है, उसे बोधि दुर्लभ होती हैं और उसका अनंत संसार बढ जाता है। बालपंडित मरण में श्रावक तीन शल्यों का त्याग करके घरमें ही मरण करता है। तथा पंडित मरण में जीव आहार आदि का त्याग कर, जिनवचन में दृढ श्रद्धा रखते हुए आराधक होकर तीसरे भव में मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

आचार्यों ने संलेखना के २ भेद बताए हैं—आभ्यन्तर एवं बाल। कषायों को कृश करना आभ्यन्तर एवं शरीर को कृश करना बाल संलेखना है।[४८]

भगवती आराधना में आराधना के साथ संलेखना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मरणकाल से भिन्न काल में रत्नत्रय का पालन करने पर भी यदि मरणकाल में उसका आराधन न किया जाये तो मुक्ति कीं प्राप्ति नहीं होती।[४९] मृत्युकाल की आराधना ही यथार्थ आराधना है। मृत्यु काल में विराधना करने पर जीवन भर की आराधना निष्फल हो जाती है। अतः मरते समय जो आराधक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप की यथार्थ आराधना करता है उसी की आराधना वास्तव में सफल होती है। यहां विद्वानोंने प्रश्न किया है कि अन्य काल में चारों आराधनाओं का आराधन न करने पर भी मरणकाल में इनका आराधन करने से यदि मुक्ति की प्राप्ति होती है तो क्या मरण काल में आराधित आराधना ही मोक्ष का कारण हुआ? इसका उत्तर श्री अपराजितसूरि ने अपनी विजयोदयाटीका में देते हुए कहा है कि मरणकाल में रत्नत्रय की जो विराधना है वह संसार को बहुत दीर्घ करती है (सांसारिक—मुक्ति नहीं होती) किन्तु अन्य काल में विराधना होने पर भी मरते समय रत्नत्रय को धारण करने पर संसार का उच्छेद होता ही है, अतः मरणकाल में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तपकी आराधना करना चाहिए।[५०]

इस प्रकार भगवती आराधना एवं प्रकीर्णकों में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप रूप चतुष्टय आराधनाओं को मोक्ष—प्राप्ति का साधन कहा है। जो व्यक्ति वास्तविक रूप से इन चारों की आराधना अपने जीवन में या जीवन के अन्तिम समय में करता है, वह मोक्ष रूपी लक्ष्मी का वरण अवश्य ही करता है। तथा सांसारिक आवागमन के बन्धन से मुक्त हो परमसद्गति को प्राप्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पादटिप्पण

१. भगवती आराधना (शिवार्यकृत) गाथा २१६०
२. श्री अपराजितसूरिविरचित–विजयोदया टीका, संपादक एवं अनुवादक पं. केलाशचंद्र शास्त्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ; शोलापुर, १९७८पृ. ९०८।
३. मा.दि. ग्रन्थमाला, बम्बई वि.सं. १९७३ में प्रथम बार प्रकाशित।
४. शोलापुर संस्करण, १९३५ में मुद्रित।
५. (क) श्री आगम सुधा सिंधु; अष्टम भाग, संपादक पं. श्री जिनेन्द्र-विजयगणी, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखा बावल, शांतिपुरी, १९७५ ई.
(ख) पइण्णयसुत्ताई, संपादक, पुण्य विजय मुनि, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई-१९८४
६. चतुःशरण प्रकीर्णकम्–गाथा नं. ११
७. उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया॥ भगवती आराधना।१।
८. श्री अपराजितसूरि विरचित, विजयोदय टीका, पृ. ९–१०
९. दंसणमाराहंतेण णाणमाराहियं हवे णियमा।
णाणं आराहंतेण दंसणं होई भजणिज्जं॥ हो भगवती आराधना, ।४।
१०. संजममाराहंतेण तवो चाराहिओ हवे णियमा।
आराहते ण तवं चारित्तं होइ भयणिज्जं॥ भगवती आराधना।६।
११. अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं हवइ सव्वं।
आराहणाए सेसाए चारित्ताराहणा भज्जा॥ भगवती आराधना।८।
१२. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णकम्–९५
१३. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णकम्–२७–२८
१४. भगवती–आराधना–गाथा, ४०७–९
१५. मरण–समाधिप्रकीर्णकम्–गाथा २२५–२२६।
१६. मरणसमाधिप्रकीर्णकम्–गाथा ४, ७
१७. शल्य के ३ व २ भेद होते हैं–(क) भगवती आराधना–गाथा ५४०।
(ख) मरणसमाधिप्रकीर्णकम्–गाथा ९६।
१८. (क) भगवती आराधना–गाथा ५४६।
(ख) मरणसमाधिप्रकीर्णकम्–गाथा ५२
१९. समवायांग–त्रिस्थानक, सूत्र १५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०. भगवती सूत्र ८/१०/४५०
२१. उत्तराध्ययन सूत्र २८/२, ३
२२. दशवैकालिक सूत्र–१०/७
२३. मूलाचार–वृहत्प्रत्याख्यान संस्तव अधिकार, गाथा ५७
२४. (क) जैनेन्द्र सिद्धांत कोश पृ. २८४
(ख) द्रव्य संग्रह, ५४/२२१
२५. द्रव्य-संग्रह–५४/२२२
२६. (क) चउव्विहाराहणाफलं..... भगवती आराधना ।१।
(ख) दंशणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया ॥ भगवती आराधना–।२।
२७. दुविहा पुण जिणवयणे मणिया आराहणा समासेण ।
सम्मतम्मि य पढमा बिदिया य हवे चरित्तम्मि ॥ भगवती आराधना–।३।
२८. भगवती आराधना–गाथा ४, ६
२९. मणह य तिविहा भणिया सुविहिय आराहणा जिणिंदेहि ।
सम्मत्तम्मि य पढमा णाणचरित्तेहिं दो अण्णा ॥ मरणसमाधि–प्रकीर्णकम्–।१५।
३०. (क) दंसणनाणचरित्तं तवे य आराहणा चउक्खंधा
–(महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णकम्–।१३७।
(ख) श्रीभक्तपरिज्ञा प्रकीर्णकम् गाथा ७
(ग) श्री मरणसमाधि–प्रकीर्णकम् गाथा ३१७
३२. अभिधान–राजेन्द्र कोश, पृ० ३८३
३२. (क) भगवती आराधना, गाथा ४८
(ख) मरणसमाधि प्रकीर्णकम् , गाथा ३१७
३३. (क) भगवती आराधना, गाथा २१५४–५६
(ख) श्री मरणसमाधिप्रकीर्णकम्, गाथा–३१८–२०
३४. श्री मरणसमाधि प्रकीर्णकम्, गाथा–३१९
३५. विजयोदया टीका, पृ० १०
३६. समणसुत्त, २०९
३७. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम । (तत्त्वार्थ सूत्र १।२)
३८. भगवती आराधना, गाथा ३१
३९. मरणसमाधि प्रकीर्णकम, गाथा–१६, १८
४०. भक्तपरिज्ञाप्रकीर्णकम्, गाथा-६६
४१. समणसुत्तं, २०८।४५, २५०।५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. समणसुत्त, गाथा २५२
४३. पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ । उत्तराध्ययन २९।१२
४४. आवश्यक, मलयगिरि (खण्ड २, अध्ययन १)
४५. समणसुत्तं, ४३९
४६. भगवती आराधना, गाथा २६
४७. आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णकम्, गाथा ३५
४८. (क) भगवती आराधना, गाथा २०८
(ख) मरणसमाधिप्रकीर्णकम्, गाथा १७६
४९. भगवती आराधना, गाथा १५
५०. भगवती आराधना, विजयोदया टीका; पृ० ४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

UTTARĀDHYAYANA-SŪTRA ON BRAHMANISM

V. M. Kulkarni, Bombay

It is indeed difficult to settle questions such as: 'whether Jain *āgama* texts are earlier or later than the Upaniṣads and the Epics, the *Mahābhārata* (including the *Bhagvadgītā*) and the *Rāmāyaṇa*, and the like.[1] Instead of delving into matters relating to chronology the present paper confines itself to investigating into the attitude of *Uttarādhyayana-sūtra*, one of the sacred and valuable texts of the Jain *āgama*, towards Brāhmanism. Of the thirty-six lectures constituting this text only three lectures called *Hariesijjaṁ* (Lecture XII), *Usuyārijjaṁ* (Lecture XIV) and *Jannaijjaṁ* (Lecture XXV) deserve our special attention as they dwell upon some few noteworthy features of Brahmanism.

In the course of his dialogue with his two sons the Purohita, with a view to dissuading them from adopting ascetic life, sets forth before them the Brahmanical ideal:

'Those versed in the Vedas say that there will be no better world for men without sons.

My sons, after you have studied the Vedas, and fed the priests, after you have placed your own sons at the head of your house and after you have enjoyed life together with your wives, then you may depart to the woods as praiseworthy sages' (XIV. 8-9).

The sons spoke to him these words:

"The study of the Vedas will not save you,[2] the feeding of Brāhmaṇas will lead you from darkness to darkness, and birth of sons will not save you. Who will assent to what you said?

Pleasures bring only a moment's happiness but suffering for a very long time...they are an obstacle to the liberation from existence, and are a very mine of evils. While a man...seeks for wealth, he comes to old age and death. We will just now adopt *Dharma*. After adopting it we shall not be born again."

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In short, this lecture (XIV) strongly recommends the ascetic ideal and pooh-poohs (makes light of) the Brahmanic ideal.

Lecture XII (Harikeśa) paints Brāhmaṇa priests in dark colours: They are described as ignoble men (*anārya*), arrogant through pride of birth, slaughterers or killers of animals, men who did not subdue their senses, the unchaste/incelibate fools...those who are full of anger and pride, who kill, lie, steal, and own property, are Brāhmaṇas without pure birth and knowledge; they are very bad fields, (on which gifts sown do not grow up as merit): they are only the bearer of words, they do not understand their meaning although they have learnt the Vedas.

In the Lecture about the true sacrifice (XXV. 18-19) too the Brāhmaṇas are criticised in these words: The ignorant priests pretend to know the sacrifice; their (so-called) Brahmanical excellence consists in (false) lore; they, resembling fire covered by ashes, shroud themselves in study and penance. He who is called by people a Brāhmaṇa and is worshipped like fire is no true Brāhmaṇa. Verses 19-29 from this Lecture portray an ideal (Jain) ascetic and call him alone a true Brāhmaṇa; and verses 31-34 from this very Lecture explain the true nature of a *śramaṇa*, a *brāhmaṇa*, a *muni* and a *tāpasa* and the four *varṇas* as follows:

"One does not become a *śramaṇa* by the tonsure, nor a *brāhmaṇa* by the sacred syllable *Om*, nor a *muni* by living in the woods, nor a *tāpasa* by wearing (clothes of) kuśa grass and bark.

One becomes a *śramaṇa* by equanimity, a *brāhmaṇa* by celibacy, a *muni* by knowledge, and a *tāpasa* by penance.

By one's actions one becomes a *brāhmaṇa*, by one's actions one becomes a *kṣatriya*, by one's actions one becomes a *vāiśya* or by one's actions one becomes a *śūdra*."[3]

Harikeśa, the son of a *śvapāka* (=*Cāṇḍāla*), who has adopted asceticism, criticises the Brāhmaṇas for tending the fire, seeking external purity by water, using *Kuśa*-grass, sacrificial poles, straw and wood, touching water in the evening and morning (on the occasion of saying prayers) thereby injuring living beings and com-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

mitting sins. He indirectly criticises also bathing in a holy bathing-place (like Prayāga, a celebrated place of pilgrimage at the confluence of Gaṅgā and Yamunā) with a view to washing away sins when he declares :

The *dharma* is my pond, celibacy my holy bathing-place... there I bathe...and get rid of my impurities of sins[4] (also hatred). (XII. 46).

He lays stress on the great value of penance and makes light of birth in a high or exalted family. In fact, Harikeśa as well as Citra-Sambhūta legends illustrate how a *śvapāka*, detested by all people for being born in the lowest caste, by taking to asceticism reaches the highest place of perfection. These legends bear testimony to the fact that the Jain *dharma* does not believe in untouchability nor in caste-superiority.

Finally, the Jain criticism of Vedic (animal) sacrifices : Jainism prescribes *ahiṁsā* (non-violence or non-injury to living beings) as the first and foremost of its five fundamental or basic *vratas* (vows). Every follower of Jainism must observe this *vrata* by abstaining from violence or injury to living beings, in thought, word or deed, together with its causal and permissive variations. With such a great emphasis on *ahiṁsā*, the attitude of Jainism towards sacrifices involving slaughter of animal is bound to be one of uncompromising dissent and bitter hostility. The *Uttarādhyayana*, the first *mūla-sūtra* which is one of the most valuable portions of the Jain *āgama*, on one occasion declares :

The binding of animals (to the sacrificial pole), all the Vedas, and sacrifices, being the causes of sin, cannot save the sinner; for his *karmans* are very powerful (XXV. 30).

In the Lecture on Harikeśa there is a passage interpreting a sacrifice spiritually which deserves special attention :

"He who is well fortified by the five *saṁvaras* (preventing by means of the *samitis* and *guptis* the *āsrava*, the flowing in of the karman upon the soul), is not attached to this life, abandons his bod . (in the *kāyotsarga* posture), who is pure and does not care

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

for his body, in fact offers the best of sacrifices and as such wins the great victory.

Where is your fire, your fire-place, your sacrificial ladle? Where the dried cow-dung (used as fuel)? Without these things, what kind of priests can the monks be?

Penance is my fire; life my fire-place; right exertion is my sacrificial ladle; the body the dried cow-dung; *karman* is my fuel; self-control, right exertion and tranquility are the oblations, praised by the sages, which I offer (XII. 42-44)."[5] Taking a clue from these passages, many later Jain works dealing with *dharma*, mythology, philosophy and *dharma-kathās* denounce bloody Vedic sacrifices at length using cogent arguments. Among such works Malliṣeṇa's *Syādvādamañjarī* is particularly noteworthy. Its discussion, however, lies outside the scope of the present paper. Some of these works including *Syādvādamañjarī* cite passages from *śruti*, *smṛti*, the *Mahābhārata*, the *Purāṇas*, as well as the views of the Sāmkhyas, etc., in the course of their criticism of *hiṁsā* with approval. These passages leave no doubt that there was a strong body of opinion even in Brahmanism which revolted against *hiṁsā*, even *vaidha hiṁsā* (i.e. *hiṁsā* prescribed in *śāstras*, such as animal-slaughter in a sacrifice). A.B. Dhruva maintains that "this trend of thought seems to have come down from times earlier than the rise of Jainism and Buddhism, mainly in the *Bhārkti* and *Jñāna* schools as distinguished from the ritualistic school of Brahmanism."

The trend of thought against *vaidha hiṁsā* may have been present in the period preceding the times of Mahāvīra and Buddha. One may however add, without any fear of contradiction, that the strong criticism of the *Yajñīya hiṁsā* by the powerful advocates of ahiṁsā from the Jain and Buddhist circles must have exercised considerable influence and strengthened the trend of thought that was already there and contributed to some extent to the decline of the *Yajñīya hiṁsā*.

The *Uttarādhyayana-sūtra* criticises the following aspects of Brahmanism :

(i) The ritualism or formalism or ceremonialism as against the self-control and the virtuous life of the ascetics, and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

its advocates, the priests
(ii) The animal sacrifice prescribed by the Vedas
(iii) Caste-system based on birth.
(iv) Untouchability and
(v) Brahmanic belief that bathing at a holy bathing-place washes away one's sins.

In conclusion may I say: Although Jainism and Buddhism assail Brahmanism for enjoining bloody animal sacrifices, for creating the evil caste-system, for recognising untouchability, for entertaining superstitious beliefs like 'bathing in the river Gaṅgā washes away sins, 'food offered to Brāhmaṇas (on the anniversary of the death of a relative in whose honour *śrāddha* is performed), reaches the particular dead relative (in heaven), 'the birth of a son saves you from hell', etc., we must never lose sight of the most important fact that like Brahmanism and Hinduism, Jainism and Buddhism *are* and *remain* genuine products of the Indian mind and that they have considerably influenced Indian spiritual life. It is an indisputable fact that although Indian religions and their *darśanas* present a diversity of views, we can easily discern in them the common stamp of an Indian culture-the unity of moral and spiritual outlook. When we compare and contrast these Indian religions with the foreign religions like Islam and Christianity, we at once realise how closely allied these Indian religions are. Every Darśana is moved to speculation by a sense of discomfort and disquiet at the existing order of things. These *darśanas* agree implicitly on the four *āryasatyas* (noble truths) discovered by Buddha: 1. There is suffering. 2. There is a cause of suffering. 3. There is cessation of suffering. 4. There is a way to attain it. These *darśanas* also accept the law of *Karman* which implies optimism and makes man the master of his own destiny. They also hold in common the view that ignorance of reality is the cause of our bondage and sufferings and liberation from these can be achieved only through knowledge of reality, continued meditation on the highest principle and a life of self-control (*yoga* and *saṁyama*); further, these *darśanas* accept the idea of liberation (*mokṣa, mukti, nirvāṇa*) as the highest goal or aim of life. Brahmanism, Jainism and Buddhism are the major

11. Seminar on Jain Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

constituents of *Bhāratiya-dharma* and *Bhāratiya-saṁskṛti* and every Bharatiya ought to be proud of this glorious heritage.

As researchers or investigators into truth we must take note of the attacks on the Vedas, the Brāhmaṇas, their ceremonialism or ritualism and their institutes of *varṇa* and *jāti*, the recognition of degrading untouchability, their superstitious beliefs, etc. and learn from their perceptive criticism, ignoring polemics but we must always and ever keep at the back of our mind the common thread of cultural unity and spiritualism that runs through these three great religions of Indian origin.

---

1. According to some modern scholars Jainism and Buddhism represent a revolt against the older religion of Brahmanism; the orthodox Jains themselves however assert that their religion is the oldest of all religions, and the religion of the Brāhmaṇas is merely a degenerate form of it.
2. Cf. Traiguṇyaviṣayā vedā nistraiguṇyo bhavārjuna /
-Bhagavadgītā-II-45.
3. Cf. Cāturvarṇyaṁ mayā sṛṣṭaṁ guṇakarmavibhāgaśaḥ /
-Bhagavadgītā-IV-13
And, also Bhagavadgitā-XVIII-41.
4. Cf. The author of *Sūyagaḍaṁga* assails Brahmanical ritual thus: "If it were true that perfection or liberation can be attained by ablutions with cold water, then fishes, tortoises and snakes would attain the highest perfection; and if water really washed away the evil deed, then it must needs wash away the good deed also. Brāhmaṇas assert that perfection or liberation is to be attained by the daily lighting of the fire; if this were true, smiths and artisans of a similar nature would attain the highest sanctity.
-Sūyagaḍa VII-14-16, 18.
5. Cf. "Superior is wisdom-sacrifice (*jñāna-Yajña*) to the sacrifice with objects (*dravya yajña*), O harasser of thy foes. All action (Karma) without exception, O son of pṛthā, is comprehended (or culminates) in wisdom (jñāna). -Bhagavadgītā-IV. 33.
And, "Of offerings I am the offering of *Japa*". (Yajñānāṁ japa-yajño'smi') -Bhagavadgītā-X. 25.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययनसूत्र तथा धम्मपद की उक्तियों में प्राप्त साम्य

—प्रज्ञा ठाकर, अहमदाबाद.

अति प्राचीन काल से राष्ट्रीय जीवनमूल्यों का बोध प्राप्त कराने के लिए सरल बोधात्मक कथानकों व सुभाषितों का प्रयोग होता रहा है। एक ही प्रकार के ऐसे सुभाषितात्मक अंश प्रायः सभी संप्रदायों के साहित्य में उपलब्ध हैं और इन सूक्तियों का त्रिकालाबाधित मूल्य है। जैनागमों में उत्तराध्ययनसूत्र तथा बौद्ध आगमों में धम्मपद प्रायः इसी कारण अधिक लोकप्रिय है। आगम का सर्वसाधारण अर्थ है—ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ, प्राप्त ज्ञान का मूल स्रोत कौन सा है यह प्रगट करनेवाली गुरु—शिष्य परंपरा। अर्थात् मोक्षप्राप्ति के विभिन्न मार्ग जतानेवाले अनेकानेक संप्रदायों में भी सद्विचार की समानता का सूत्र हमेशां दृष्टिगोचर होता रहा है।

उत्तराध्ययनसूत्र [उ.सू.] जैन आगम साहित्य के प्राचीनतम लोकप्रिय ग्रंथों में से एक है।

उ.सू. के रचनाकार तथा रचना काल के बारे में सर्वसंमत अभिप्राय नहीं है। किन्तु उ.सू. भगवान महावीर के निर्वाण के प्रायः १००० वर्ष के सुदीर्घ कालखण्ड में भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा संकलित ग्रंथ है। किसी एक व्यक्ति द्वारा लिखित किसी काल विशेष का यह ग्रन्थ नहीं है। इस मत से अधिकांश विद्वान सहमत है। उनका प्राचीनतम अंश श्रमणों को सम्बोधित उपदेशवचनों, दृष्टांत कथाओ, इतिहास संवादों और प्राचीन आख्यायिकाओं से सम्बन्धित अध्-ययन है। बाद के कुछ अध्ययनों को छोड कर अन्य सभी भाषा, छंदरचना, तथा विषयनिरूपण की दृष्टि से आगम साहित्य के प्राचीनतम स्तर में स्थान प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे ज्ञान के स्रोतरूप उ.सू. में आत्मा–परमात्मा, जीव, काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा, मृत्यु, श्रमण, भिक्षु आदि अनेक विषयों की अत्यंत गहराई से चर्चा की गई है।

धम्मपद बौद्ध आगम है और सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय नामक अंतिम निकाय के पन्द्रह ग्रन्थों में उसका द्वितीय स्थान है। बौद्धागमों में सर्वाधिक लोकप्रियता उसे प्राप्त होने के कारण ही प्रायः उसे बौद्धों की गीता भी कहा गया है।

चीनी तुर्किस्तान में खोरान के नज़दीक के क्षेत्र से एक खण्डित हस्त-लिखित पुस्तक प्राप्त हुई है। यह खरोष्टि लिपी में है। इस ग्रंथ के अध्ययन के बाद कुछ विद्वानों का मत है कि वह ईसा के २६९ वें वर्ष में लिखा गया होगा। इसके उपरांत चीनी भाषा में धम्मपद के तीन भिन्न भिन्न संस्करण प्राप्त होते है। अतः कहा जा सकता है कि पालि भाषा का धम्मपद अति प्राचीन है।

धम्मपद की इन धार्मिक गाथाओं में भगवान तथागत के अनुयायी बौद्ध श्रमणों की गाथाएँ ही नहीं अपितु अन्य पंथोपपंथ के श्रमण व ब्राह्मणों द्वारा कही गई गाथाओं का भी समावेश है। इस से फलित होता है कि उस युग में पंथद्वेष नहीं था और सुविचारों का आदानप्रदान सुचारुरूप से चलता रहता था।

उ.सू. व धम्मपद में अध्यात्म, धर्म, नीति, कर्तव्य, साधना, समभाव, वीतराग आदि विषयों के निरूपण में भाषा की महत्ता, प्रौढता व गांभीर्य का कहीं कहीं तो अक्षरशः साम्य दिखता है।

उ.सू. और धम्मपद में प्राप्त ऐसी कुछ समान सूक्तियों पर हम दृष्टिपात करेंगे।

सुसुखं बत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा॥ –धम्मपद–२००–४

(अकिञ्चन ऐसे हम यहीं अच्छी तरह सुखरूप जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जिस प्रकार देव आभास्वर हैं, उसी प्रकार हम भी प्रीति–भक्षी होंगे।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार के निस्पृहत्व की कल्पना महाभारत की अनुगीता के अन्तर्गत ब्रह्मगीता में (१२–२६८–८) जनक–ब्राह्मणसंवाद में भी प्राप्त होती है।

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ। –उ.सू. ९–३४

दशलक्ष योद्धाओं पर युद्ध में विजय प्राप्त करने से अपने आप पर विजय प्राप्त करना उत्तम जयश्री है।

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गाममुत्तमो॥ –धम्मपद–१०३।४

(संग्राम में सहस्र के सहस्र (दश लक्ष) व्यक्तियों को जीतने से तो एक आत्मा को जीतनेवाला संग्रामे उत्तम है।)

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥ उ.-सू. ९–३५

(स्वयं से युद्ध कर, बाहरी शत्रु से लडने से क्या? अपने आप पर स्वयं विजय प्राप्त करनेवाला मनुष्य ही सुख पाता है।)

पञ्चिन्दियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं॥ उ.सू. ९–३६

(पञ्चेन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और दुर्जय 'स्व' अर्थात् अपने आप को भी आत्मा की विजय द्वारा ही जीता जा सकता है।)

अत्ता हवे जितं सेय्यो न चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स निच्चं संयतचारिनो॥ धम्मपद–१०४–५

नेव देव न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो॥ धम्मपद–१०५–६

(इन अन्य प्रजाओं को जीतने के बजाय अपने आपको जीतना ही श्रेयस्कर है। आत्मदमन करनेवाले तथा सदा संयम से चलनेवाले जन्तु को ब्रह्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहित देव, गंधर्व और मार जैसे भी अ-जित (उनके विजय को मिथ्या करना) नहीं कर सकते।)

(ब) नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं नियस्स बन्धो संसारहेउं च वयन्ति बन्धं॥ उ.सू.१४-१९

[(आत्मा) अमूर्त होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अमूर्त होने से ही वह नित्य है। अपने सांसारिक बंधन का हेतु आत्मा में निहित है। इसी बंधन को संसार का हेतु माना गया है।]

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्ता हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥ धम्मपद–१६०-४

[आत्मा ही आत्मा का नाथ है, अन्य कौन उसका नाथ हो सकता है? अतः उदात्त (सुदन्त) आत्म द्वारा ही दुर्लभ नाथ प्राप्त होता है]

अत्तना व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं अत्तना व विसुज्झति।
सुद्धी असुद्धी पच्चत्तं नाञ्ञो कञ्ञं वि सोधये॥ –धम्मपद-१६५-९

[आत्मा द्वारा किये गये पाप से आत्मा को ही क्लेश होता है। निष्पाप आत्मा से आत्मा शुद्ध होती है। प्रत्यात्मा की–प्रत्येक व्यक्ति की शुद्धि या अशुद्धि अन्य कोई नहीं कर सकता।]

'अत्तना चोदयत्तानं पटिमासे अत्तमत्तना।' –धम्मपद–३७९-२०

(आत्मा के द्वारा ही आत्मा की खोज करें, आत्मा द्वारा आत्मा का परीक्षण करें।)

'उद्धरेदात्मनात्मानम्.....। गीता–६-५ और ५-३४-६२ में आत्मा से आत्मा की खोज करो। आत्मा ही आत्मा का बंधु है और आत्मा ही आत्मा का रिपु है। ऐसी महाभारत की उक्ति के साथ इस गाथा की तुलना की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुञ्जए ।
न सो सक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥

[कोई मूर्ख प्रति मास केवल कुशाग्र भाग जितना ही भोजन करे तब भी वह सुआख्यात धर्म की सोलहवीं कला तक नहीं पहूँचता ।]

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं ।
न सो सङ्खतधम्मानं कलं अग्घति सोळसिं ॥ –धम्मपद–७८-११

[मूर्ख यदि प्रतिमास दर्भ की नोक जितना ही भोजन करता रहे तब भी धर्म को जाननेवाले लोगों की सोलहवीं कला के लायक भी वह नहीं होता ।]

पडन्ति नरए घोरे जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति चरित्ता धम्ममारियं ॥ –उ.सू. १८/२५

(जो पुरुष पापाचरण करता है वह घोर नरक का भोगी बनता हैं, आर्य-धर्म का आचरण कर के दिव्य गति को प्राप्त करता है ।)

कासावकण्ठा बहवो पापधम्मा असंयता ।
पापा पापेहि कम्मेहि निरयं ते उपपज्जरे ॥ –धम्मपद–३०७-२

(कषाय वस्त्र धारण करनेवाले, पापधर्मी, असंयमी असंख्य पापी पुरुष पापकर्मों से नरक में वास करते हैं)

तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेणं तं वयं बूम माहणं ॥ –उ.सू. २५-२३

(जो त्रस अर्थात् जंगम और स्थावर प्राणियों को ठीक से समजकर तीनों प्रकार (मन, वचन, काया) से उनकी हिंसा नहीं करता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।)

यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं ।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ धम्मपद–३९१-९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(काया, वाणी तथा मन से जिसने कोई दुष्कृत नहीं किया, तीनों प्रकार से संवृत्त हैं उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।)

कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं॥ उ. सू. २५-२४

(क्रोध, हास्य, लोभ या भय से जो असत्य नहीं बोलता उसे ब्राह्मण कहते है।)

न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥ धम्मपद २९३-११

(जटा, गोत्र या जन्म से ब्राह्मण नहीं होता, जिस में सत्य और धर्म है वही शुची अर्थात् पवित्र है, वही ब्राह्मण है।)

चित्तमन्तमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हाइ अदत्तं तं वयं बूम माहणं॥ उ.सू. २५-२५

(जो अदत्त है अर्थात् किसी के द्वारा (दान में स्वयं देना) दिये बिना सचित्त (अर्थात् दास, पशु आदि) अथवा अचित्त (अर्थात् सुवर्ण आदि) जरा भी नहीं लेता (अर्थात् जो कुछ मांगता नहीं) उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।)

अकिञ्चनं अनादानं तमहं बूमि ब्राह्मणं॥ धम्मपद–३९६-१४

(जो अकिञ्चन है, अपरिग्रही (कुछ लेने की इच्छा रहित है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।)

जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥ उ० सू० २५-२७

(जल में उत्पन्न कमल पुष्प जिस प्रकार जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार जो कामभोगों से अलिप्त रहता है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।)

वारि पोक्खरपत्ते व आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु तमहं बूमि ब्राह्मणं॥ धम्मपद–४०१–१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[कमलपत्र पर पडे जल की तरह और तकली (सूत कांतने की) की आर की नोक पर रखे सरसों के कण की तरह जो 'काम' से लिप्त नहीं होता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ !]

जहित्ता पुव्वसंजोगं नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ एएहिं त वयं बूम माहणं ।। उ.सू. २५–२९

(पूर्व सम्बन्ध, सम्बन्धी वर्ग तथा बान्धवों का त्याग कर के जो भोगों में आसक्त नहीं होता उसे ब्राह्मण कहते हैं ।)

सब्बसंयोजनं छेत्त्वा यो वे न परितस्सति ।
सङ्गातिगं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। धम्मपद-३९७-१५

[सर्व संयोजनों को (सम्बन्धों को) छेद कर भी त्रस्त नहीं होता, जो आसक्ति से परे है, अविषक्त (अनासक्त) है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।)

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण तावसो ।। उ.सू. २५–३१

[मुण्डन करवाने से श्रमण नहीं होता, ॐकार (रटण) से ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करने से कोई मुनि नहीं होता तथा कुश–वस्त्र (वल्कल) धारण करने से तापस नहीं होता ।]

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं ।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ।। धम्मपद–२६४–९

(मुण्डी होने से श्रमण नहीं हुआ जाता, नियमों का पालन न करनेवाला, असत्यवादी, इच्छाओं से तथा लोभ से आसक्त किस प्रकार श्रमण होगा ?)

समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण च मुणी होइ तवेण होइ तावसो ।। –उ.सू. २५–३२

(समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा तप से तापस होते है) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहितपापो ति ब्रह्मणो

समचरिया समणो ति वुच्चति ॥ धम्मपद–३८८–६

(पापो को बहिर्गत करने से ब्राह्मण कहलाता है। समचर्या द्वारा श्रमण (समण) कहलाता है।)

धम्मपद के 'ब्रह्मणवग्गो' की अनेक गाथाओं तथा सुत्तनिपात के 'बसेट्ठ-सुत्त' (वसिष्ठसूत्र) की २७ से ५४ तक की गाथाओं में लगभग शब्दशः समानता मिलती है।

महाभारत और उ० सू० की तरह धम्मपद की गाथाओं में भी स्थान स्थान पर 'तमहं बूमि ब्राह्मणं' जैसी पंक्तियाँ हैं।

प्राकृत के 'समत्व' से 'समण' और पालिभाषा में समचर्या से 'समण' या श्रमण हुआ। वैसे ही वैदिक अनुगमों में ब्रह्म के साथ समत्व की कल्पना करके ब्राह्मण शब्द आया।

प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता हैं कि उ० सू० तथा धम्मपद के विषयवस्तु का स्रोत एक ही है। वैदिक साहित्य में भी इन्हीं गुण–विशेषों का विवरण प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है। मोक्षप्राप्ति के मार्ग, आचार, विचार, उपासनापद्धतियाँ तो यहाँ अनेक पनपी है। किन्तु सामंजस्य के सूत्र, विचारों का आदान–प्रदान भी चलता रहा। जैन, बौद्ध व वेद–उपनिषद का इस समान तत्त्व का बोध आज के संक्रान्ति काल में राष्ट्र की एकात्मकता और अखण्डितता को दृढमूल बनाने में उपकारक हो सकता है। अतः विभिन्नताओं की खोज के बजाय विभिन्न पंथ–सम्प्रदायों में समाविष्ट एकत्व के सूत्रों की खोज आवश्यक हो गयी है। ऐसा सादर सूचन करने का लोभ संवरण नहीं कर सकती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भग्रन्थ-सूचि

(१) उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन
वाचना प्रमुख–आचार्य तुलसी, विवेचक और संपादक – मुनि नथमलजी, प्रका० जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, आगमसाहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता–१, प्रथम–आवृत्ति, १९६७.

(२) ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર અને મહાભારત – એક તુલનાત્મક અધ્યયન, લે. ઉપેન્દ્ર સાંડેસરા.

(३) धम्मपद – धर्मना पदो (ગુજરાતી સરળ અનુવાદ સહિત) સંપા૦ પંડિત બેચરદાશ દોશી, પ્રકા૦ ત્રિભુવનદાસ ક. ઠક્કર, સસ્તુ સાહિત્યવર્ધક કાર્યાલય, રાયખડ, અમદાવાદ. સં૦ ૨૦૦૨.

(४) महाभारतम् – श्रीमन्नीलकण्ठविरचितभारतभावदीपाख्यटीकया समेतम्– आवृत्ति–६ ग्रंथोंमें, प्रका० ओरियण्टल बुक्स रीप्रिंट कोर्पोरेशन, दिल्ही, संपा० पं० रामचन्द्र शास्त्री किंजवाडेकर, द्वितीय आवृत्ति–१९७९

(५) ભારતરત્ન (મહાભારતના સૂક્તિ રત્નોનું સમાલોચન) લે૦ ઉપેન્દ્ર સાંડેસરા, પ્રકા૦ ડો૦ ભોગીલાલ જ. સાંડેસરા, અધ્યાપક નિવાસ, પ્રતાપગંજ, વડોદરા–૨, પ્રથમ આવૃત્તિ, ફેબ્રુઆરી–૧૯૬૩.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन तथा मनुस्मृति में वर्णित साधु-आचार

डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र, पटना

ब्राह्मण आचार का प्रस्थान बिन्दु वर्णाश्रम धर्म है जो स्मृतियों में निरूपित है और श्रमण आचार का प्रस्थान बिन्दु वैराग्य है जो उसके आगम ग्रन्थों में निरूपित हैं। स्मृतियों में मनुस्मृति तथा जैन आगम ग्रन्थों में उत्तराध्ययन में आचार–व्यवस्था का पूर्ण विवेचन उपलब्ध है। अतः प्रस्तुत लेख इन्हीं सीमाओं में है। मनुस्मृति के अनुसार संन्यासोन्मुख प्राणी अपने सभी उत्तरदायित्वों से निवृत्त होने पर ही संन्यास में प्रविष्ट हो सकता है। अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था की पूर्णता के साथ ही संन्यासी होना चाहिए। क्रमशः विनय-पूर्वक ब्रह्मचर्य आश्रम में ज्ञानार्जन करना चाहिए। तत्पश्चात् धर्मपूर्वक निष्ठा और कर्मठता से धनार्जन करके गृहस्थाश्रम के नियमों का पालन करना चाहिए सन्तानोत्पत्ति करके पितृऋण से मुक्त हो वानप्रस्थ में यज्ञादि करनेके बाद व्यक्ति संन्यास का अधिकारी होता है। ऋणशोधन किये बिना मोक्षार्थी नरकगामी होता है, दृष्टव्य है :–

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत १।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥

इस प्रकार आश्रम की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। मनुस्मृतिकार ब्राह्मणों या द्विजों को ही संन्यास की आज्ञा देता है शेष वर्णों क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्य–पालन में ही उनके मोक्ष की सिद्धि या पूर्णता मान लेता है। क्षत्रियों के लिए वानप्रस्थ का विधान हैं–वार्धक्य में मुनिवृत्ति को कालिदास द्वारा रघु-वंशियों का जीवनादर्श माना गया है किन्तु इनके लिए रणक्षेत्र में प्राणत्याग करना भी संन्यास–साधन के समतुल्य है। मनस्मृति का विधान है कि क्षत्रिय चाहे तो तृतीय आश्रम में जाये या धर्मयुद्ध में प्राणों का परित्याग करे।[१] वैश्यों के लिए वानप्रस्थ और संन्यास की अनिवार्यता नहीं बतायी गई है और शूद्रों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए तो स्पष्ट कहा गया है कि सेवा ही उनके लिए संन्यास के समतुल्य फल-दायक है ।[2] शूद्र के लिए संन्यास का वर्जन है तभी तो तपलीनशम्बूक शुद्र का सिर राजा राम के द्वारा छिन्न कर दिया गया था । मनुस्मृति में बार–बार सभी आश्रमों में जाने का उल्लेख मिलता है यथा –

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ।।[3]

अर्थात् जो द्विज वेदों को न पढ़कर तथा पुत्रों की उत्पत्ति और यज्ञों का अनुष्ठान न कर (अथवा ऋषिऋण, पितृऋण, और देवऋण से उत्तीर्ण हुए बिना) संन्यास धारण करनेकी इच्छा करता है वह नीच नरक गति को प्राप्त होता है । मनुस्मृति के अनुसार द्विजों के लिए तीनों ऋणों के अपाकरण के बाद ही संन्यास का विधान है । जबकि जैन आगम ऐसा नहीं कहते । क्षत्रिय राजा नमि की प्रव्रज्या, दो युवा ब्राह्मणो का श्रमण बन जाना, हरिकेशी चाण्डाल की तपस्या आदि वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था के विपरीत हैं । जिसमें जब भी वैराग्य भाव हो वही श्रमण हो सकता है ।

इस प्रकार जैन श्रमणों के लिए जाति या आश्रम की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है । निवृत्ति पर ही इनका सिद्धान्त निर्भर है । जैन आगमों में साधुओं के लिए पूर्ण अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों का विधान किया गया है । इनका विस्तृत विवेचन उत्तराध्ययन में उपलब्ध है ।

श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति श्रम से मानी गयी है जिसके अनुसार श्रमण शब्द का मूलाचार, कायक्लेश अथवा तपस्या है[4] जिसकी पूर्णता २२ परीषहों के सहन करने में होती है ।[5] ये बाईस परीषह साधु–जीवन की कसोटी हैं । इनके विस्तृत विवेचन हेतु शोध–प्रबंध अपेक्षित है । अतः यहाँ पर मात्र उनके नाम प्रस्तुत हैं क्षुधापरीषह, तृषापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमषकपरीषह अवस्त्रपरीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, चर्यापरीषह, वधापरीषह, याचनापरीषह अलाभपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, प्रस्वेदपरीषह, सत्कारपुरस्कारपरीषह प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह, तथा दर्शनपरीषह ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्यागप्रधान साधुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को इन परीषहों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। साधुचर्या में ये उक्त क्रम से ही उत्पन्न होते हैं। उत्तराध्ययन के द्वितीय अध्याय में इनका विवेचन प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त साधु के सामान्य क्रिया कलापों की भी नियम–व्यवस्था दी गयी है। भिक्षा की विधियाँ निश्चित की गयी है। साधु को चाहिए की गृहस्थ का दिया हुआ एषणीय शुद्ध आहार ही ग्रहण करें।[६] यदि पहले घर में किसी अन्य भिक्षु ने प्रवेश किया हो तो साधु न तो उस भिक्षु के अति दूर न अति समीप में तथा न नेत्रों के सामने खड़ा हो और न उसका उल्लंघन कर घर में आवे।[७] इसी प्रकार लगभग सभी आचारों के लिए कठोर नियमों की व्यवस्था वर्णित है। कवचयुक्त सुशिक्षित घोडे की तरह इच्छाओं का निरोध करने वाला मुनि मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[८] साधु-आचार में श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र का विशेष ध्यान रखा गया है।

मनुस्मृति के षष्ठ अध्याय में साधु–आचार का विस्तृत विवरण मिलता है। अपने पूर्व दायित्वों का पालन करने के लिए दण्ड और कमण्डलु साथ में लेकर मोक्षसिद्धि के लिए अकेले ही भ्रमण करने का विधान है। आचरण सम्बन्धी एक श्लोक प्रस्तुत है :–

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतं वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥[९]

अर्थात् आंख से जमीन को देख कर पैर रखे, वस्त्र से छानकर जल पिये, सत्य वचन बोले और पवित्र मन से कार्य करे। कोई वाद-विवाद करे तो सहले, किसी का अपमान न करे। क्रोध से भरे हुए मनुष्य का जवाब क्रोधित होकर न दे, कोई निन्दा करे तो भद्र वचन ही कहे। सात द्वारों (पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा तथा मन और बुद्धि) से ग्रहण किये जाने वाले विषयों की चर्चा न करे।[१०] भिक्षा एक ही बार मांगनी चाहिए। भिक्षा न मिलने पर विषाद न करे और मिलने पर हर्ष न करे। प्राणयात्रारक्षार्थ भिक्षान्न से जीवन निर्वाह करे। दण्ड और कमण्डलु में भी आसक्ति न रखें। अल्पाहम् और एकान्त निवास इन दो उपायों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से, विषयों द्वारा खींची जाने वाली इन्द्रियों को वश में करे। इन्द्रियों के नियंत्रण से और राग द्वेष के त्याग तथा प्राणियों की अहिंसा से संन्यासी मोक्ष पाता है।[११] मनुस्मृति में व्याहृति और प्रणव सहित यथाविधि तीन प्राणायामों की व्यवस्था भी बतायी गयी है क्योंकि आग में तपाने से जैसे धातुओं का मैल जल जाता है वैसे ही प्राणवायु के निग्रह से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं। साधक अहिंसा, इन्द्रियसंयम, वैदिक कर्मों के अनुष्ठान और कठिन तपश्चर्या से ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं।[१२] जैन आगमों में भी लगभग इसी प्रकार के नियमों का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन में आक्रोशपरीषह के अन्तर्गत कहा गया है कि :—

अवकोसेज्जा परे भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥[१३]

अर्थात् कोई पुरूष साधु की निन्दा करे तो साधु उसके ऊपर क्रोध न करें क्योंकि वह मुर्खों के समान हो जाता है। इसलिए अपने को कोसने वाले पर भी साधु कोप न करें। दूसरों की दारूण और कंटक के समान चुभने वाली अति कठोर भाषा को सुनकर भी साधु मौन ही रहे किन्तु उन कठोर शब्दों को बोलनेवालों पर वचन से तो क्या मन से भी द्वेष न करें।[१४] उत्तराध्ययन में त्याग व चरित्र पर बार बार बल दिया गया है। उसके अनुसार बुद्धि को मन्द करने वाले और लुभाने वाले ऐसे स्पर्शों में साधु अपने मन को न लगावे। एवं क्रोध न करे, मान में न आवे, माया कपट का सेवन न करें और लोभ को भी त्याग दें।[१५] तभी आचार में रमता हुआ मोक्ष तक पहूँच सकेगा।

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति और उत्तराध्ययन में वर्णित साधु—आचार यत्किंचित् अन्तर होते हुए भी बहुत कुछ साम्य रखते हैं। आचार की यह कठोरता सम्भवतः साधना के उस स्तर पर इतनी अनुभूत नहीं होती होगी जितनी कि पाठक को। धैर्य और अहिंसा की आधार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिला पर निर्मित ये आचार संहिताएं वर्तमान हिंसात्मक परिवेश में अधिक उपयोगी हो गयी हैं । आज उनके चिन्तन, मनन व आचरण की अनिवार्यता होती जा रही है ।

इस तरह से ब्राह्मण और श्रमण व्यवस्थाओं के अन्तर्गत साधु–आचार में समानता होने के साथ ही एक मौलिक भेद भी है । स्मृति की व्यवस्था मे यद्यपि संन्यास मोक्षप्रद है तथापि गार्हस्थ्य की उपेक्षा कर यह सेवनीय नहीं है। गार्हस्थ्य की प्रधानता सिद्ध करने के लिए स्मृतिकार ने कहा हैं कि वायु का आश्रय प्राप्त कर के ही सभी आश्रमी (अन्य तीनों आश्रमी) जीते हैं । सभी आश्रमों में वेद और स्मृति की विधि के अनुसार चलनेवाला गृहस्थ श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि वह अन्य आश्रमों की रक्षा करता हैं ।[१६] जैसे सभी नदी–नद समुद्र में ही आश्रय पाते हैं । वैसे ही सभी आश्रमी गृहस्थाश्रम से ही सहारा पाते हैं ।[१७] श्रमण व्यवस्था में भी गार्हस्थ्य या श्रावक धर्म का निरूपण है किन्तु श्रावक की सिद्धि इसी में है कि वह यथाशीघ्र साधु अनगार धर्म में प्रविष्ट हो जायें । इसके लिए ११ प्रतिमाओं का विधान है जिनके माध्यम से सीढ़ी–दर सीढ़ी चढ़ता हुआ श्रावक मुनिधर्म की भूमिका में पहुँच जाता है । कृषि कर्म की ही नहीं परंतु पाचन क्रिया की भी गर्हा, गृहस्थ जीव के प्रति एक कठोर दृष्टि का सूचक है और अपनी आत्यन्तिकता में जिस डाल पर बैठे हैं उसी के उच्छेद के समान प्रतीत होता है । चिन्तकों के द्वारा बहुधा ऐसी आशंका भी व्यक्त की गई हैं कि गृहस्थ जीवन की ऐसी आत्यन्तिक उपेक्षा सामाजिक जीवन और मानव जाति की सन्तति (Continuity) पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है किन्तु हमें तब तक ऐसी आशंकाओ पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं[१८] है जब तक संसार में राग का पलडा विराग से भारी है, प्रवृत्ति निवृत्ति से गरीयसी हैं । जब तक ऐसी स्थिति नहीं आती विराग दृष्टि को कठोरतर करने की आवश्यकता बनी रहेगी क्योंकि मानवता को खतरा निरपेक्ष वैराग्य से नहीं अपितु उद्दाम राग से ही है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणी

१. मनुस्मृति : ६–३५
२. मनुस्मृति : ६–७
३. मनुस्मृति : ६–९
४. मनुस्मृति : ६–३७
५. वैशाली इन्स्टिट्यूट रिसर्च बुलेटिन नं.–४ पृ. १५३
६. देखो उत्तराध्ययन का द्वितीय परिषहाध्ययन ।
७. उत्तराध्ययन : १/३२
८. उत्तराध्ययन : १/३३
९. उत्तराध्ययन : ४/८
१०. मनुस्मृति : ६/४६
११. मनुस्मृति : ६/४८
१२. इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥६/६०॥
१३. मनुस्मृति : ६/७५
१४. उत्तराध्ययन : २/२६
१५. उत्तराध्ययन : २/२७
१६. उत्तराध्ययन : ४/१२
१७. मनुस्मृति : ६/८९
१८. मनुस्मृति : ६/९०

---

12. Seminar on Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययनसूत्र में काव्यतत्त्व

डा० बिहारीलाल जैन, उदयपुर

उत्तराध्ययन सूत्र अर्धमागधी प्राकृत-भाषामें रचित एक महत्त्वपूर्ण जैन आगम ग्रंथ है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भगवान महावीर ने जो उपदेश दिये थे उन्हें उनके शिष्यों ने सूत्रग्रंथों के रूप में लिपिबद्ध कर लिया। वे ही ग्रंथ 'आगम' या 'श्रुत' कहलाते हैं। प्रस्तुत आगम या श्रुत-ग्रंथमें भगवान महावीरने नव-दीक्षित साधुओं के लिए जिस आचार-संहिता का उपदेश दिया था उसका सार संगृहीत है। इस के छत्तीस अध्ययनों में साधुओं के आचार एवं तत्त्वज्ञान का सुन्दर निरूपण किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र की भाषा सरल, सरस एवं साहित्यिक गुणों से भी समृद्ध है। यद्यपि सैद्धान्तिक विवेचन के स्थल निरस एवं शुष्क हैं और पुनरुक्तियों से भी भरे हुए हैं तथापि समग्र दृष्टि से इस ग्रंथकी भाषाशैली साहित्यिक, उपदेशात्मक, दृष्टान्त-अलंकार-बहुल और सुभाषितात्मक है। इसमें प्रयुक्त अनेक आख्यान और संवाद बहुत रोचक बन पड़े हैं।

कोई भी धर्मोपदेष्टा, चिन्तक या दार्शनिक मूलतः सहृदय होता है और अपनी विशुद्ध वृत्ति से समिष्ट के कल्याण के लिए जो कुछ भी कहता है या लिखता है उसका चिरन्तन महत्त्व होता है। उत्तराध्ययनकी आध्यात्मिकता का जो महत्त्व श्रमण परम्परा में है वही महत्त्व साहित्यिक-परम्परा में भी अक्षुण्ण है क्योंकि कोई भी काव्यात्मक उक्ति आत्मानंद भी प्रदान करती है। अन्तर केवल बाह्य परिधान का होता है। काव्य का गणवेश सुन्दर होता है और अध्यात्म की भाषा केवल भाषा होती है। ग्रंथ में दोनों ही प्रकार के रूप दिखाई देते हैं। सैद्धान्तिक अध्ययनों में दार्शनिक तत्त्वों का जो सूक्ष्म एवं रुक्ष वर्णन है उससे इस ग्रंथ को दर्शनशास्त्र कहा जा सकता है और जहां अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रस आदि काव्यतत्त्वों का सन्निवेश हुआ है वे अध्ययन धार्मिक काव्य के रूप में आस्वाद्य बन पड़े हैं।

काव्य का प्रधान तत्त्व अलंकार है। यद्यपि ध्वनि अथवा रस को काव्यात्मा मानकर अंगीरुप में होने से ध्वनि-काव्य को उत्तम-काव्य कहा जाता है तथापि काव्य की पहचान अलंकारों से होती है। [1]काव्य का बाह्य स्वरूप अलंकारमय होता है। शब्द और अर्थ की चारुता अलंकारों के कारण ही उन्मिषित होती है। अलंकारों का वासन्ती वैभव शब्दार्थ के उद्यान (काव्य) को महका देता है। उत्तराध्ययन-सूत्र में प्रयुक्त अलंकारों की छटा भी सहृदयों को मंत्रमुग्ध कर देती है। उपमा अलंकार के प्रयोग से यहां न केवल औपम्य का निर्वाह किया गया है अपितु एक विस्तृत शब्दचित्र ही उपस्थित कर दिया गया है:—

"दीवणट्ठे व अणन्तमोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥"

अर्थात् अंधेरे में जिसका दीप बुझ गया हो उसको प्रकाश में देखा गया मार्ग भी दिखाइ नहीं पडता है। जैसे कि मोह में पडकर प्रमत्त बना हुआ व्यक्ति विवेक नष्ट हो जाने से दृष्ट मोक्ष—मार्ग को भी नहीं देखता है। यहां मोह को अन्धकार, विवेक को प्रकाश तथा मुक्तिपथ को गन्तव्य मार्ग से उपमित कर कान्तासम्मित उपदेश की रमणीयता उपस्थित कर दी गयी है। किन्तु संस्कृत-काव्यों की भांति इस सूत्र ग्रंथ का प्रधानरस शृंगार नहीं है। अतः यहाँ रसिकप्रियता का अन्वेषण करना निरर्थक है। यहां तो समस्त शृंगारों का अवसान होने के पश्चात् जीवन की जो रसधारा प्रवाहित होनी चाहिये उसका ही उपदेश दिया गया है। इसीलिए कहा गया है कि संयम और तप ही साधु—जीवन का सर्वस्व है। संयम बालू रेत के कवल—ग्रास की तरह स्वाद—रहित है और तपका आचरण तलवार की धार पर चलने जैसा दुष्कर है।[2]

संसार की संरचना के बारे में शांकर अद्वैत—वेदान्त में 'मिथ्या' या माया शब्द का प्रयोग किया गया है। संसार की असारता का प्रतिपादन जैन—परम्परा में भी अनेक प्रकार से किया गया है। इसी सन्दर्भ में उ० सू० में सांसा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि कामभोगों को शल्य, विष और सर्प के उपमानों से उपमित किया है :—

सल्लं कामा विसं कामा आसीविसोवमा । उ० सू० नमिप्रव्रज्या गा० ५३

इस मालोपमा अलंकार के प्रयोग से काम-भोगों की परिणति का भयावह एवं यथार्थ रूप उपस्थित कर दिया गया है । वस्तुतः भोग कभी भुक्त नहीं होते, अपितु हम ही भोगों के बलि चढ़ जाते हैं ।

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ।' अतः आत्मा का ब्रह्मके साथ साक्षात्कार से ही इन मिथ्या या असार सांसारिक भोगों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो सकती है । आत्म–ज्ञान के इसी महत्त्व को बताते हुए मालोपमालंकार के द्वारा आत्मा की अनन्त शक्ति को निम्न गाथा में ध्वनित किया गया है ।

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

उ० सू०, महानियण्ठिज्जं, गा० ३६

(आत्मा ही वैतरणी है, कूटशाल्मली वृक्ष है, कामदुघाधेनु है और नन्दन-वन है ।)

किसी विषय को हृदयंगम बनाने के लिए प्रचलित दृष्टान्तों का प्रयोग किया जाता है यहाँ पर ऐसे अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग हुआ है जिनसे विषय बोध–गम्य हो गया है । जैसे श्रमण–परंपरा में गुरू–शिष्य संबंध ओपचारिक मात्र नहीं होते है । वहाँ गुरु अपने शिष्य को बहुज्ञ बनाने का सरसक प्रयास करते हैं । किसी मेधावी शिष्य को पाकर आचार्य उसे शिक्षित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति करते हैं । परन्तु कुछ मन्द–बुद्धि शिष्य उनकी शिक्षा को हृदयंगम न कर पाने के कारण खिन्न होते हैं । उनकी इस प्रीति एवं खीझ को स्पष्ट करने के लिए ग्रंथकारने अश्वशिक्षा का दृष्टान्त निम्न गाथा में प्रस्तुत किया है :—

रमए पण्डिए सासं हयं भद्दं व वाहए ।
बालं सम्मई सासन्तो गलियस्सं व वाहए ॥

उ० सू० विनयश्रुत, गा० ३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि का साधना-मार्ग अत्यन्त कंटकाकीर्ण होता है। उन्हें डांस तथा मच्छर काटते रहते हैं किन्तु वे उस समय आत्मलीन होकर उस परीषह को सहन करते हुए अपने अन्तरंग शत्रुओं—रागद्वेष, मोह—माया, आदि का हनन करते रहते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए युद्धरत मदोन्मत्त हाथी का दृष्टान्त दिया गया है। अनेक बाण हाथी के शरीर में घुसकर भी उसे शत्रु—विनाश के कार्य से रोक नहीं सकते हैं।[3]

इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि हाथी की भांति अपरिमित आत्मशक्ति से संपन्न होकर मुनि इस भवसागर का सन्तरण कर सकता है। जो व्यक्ति ऐसे महामुनियों को अपमानित अथवा प्रताडित करता हैं वह अपने नखों से पर्वत खोदता हैं, दांतों से लोहा चबाता है और पैरों से अग्नि को कुचलता है।[4]

वस्तुतः अज्ञानवश मानव मर्त्य—लोक में अनेक दुराचार करता है। किन्तु मृत्यु के समीप आने पर वह परलोक के भय से संत्रस्त होता है। अज्ञानी जीव के इस सामान्य व्यवहार का जुआरी के दृष्टान्त से समर्थन किया गया है। दांव में सब कुछ हार जाने वाले जुआरी की तरह अज्ञानी की मृत्यु अत्यन्त भयावह होती है।[5]

कारणमाला[6] अलंकार के द्वारा ग्रंथकार ने भव्य—जीव में उत्पन्न होने वाले गुणों का आलंकारिक वर्णन कर के काव्य—धर्मिता का अच्छा प्रदर्शन किया है। गाथा इस प्रकार है :—

सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्य चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाई घय—सित्त व पावए॥

अर्थात् जो सरल होता है, उसे शुद्धि प्राप्त होती है। जो शुद्ध होता है, उस में धर्म रहता है जिसमें धर्म रहता है वह घृत—सिक्त अग्नि की तरह परम निर्वाण को प्राप्त होता है। ऐसे ही मुनियों को ग्रन्थकार ने धर्म—रथ का सारथि एवं धर्मरूपी आराम (उद्यान) में विचरण करने वाला बताया है।[7] वह रूपक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी साधक की अन्तरंग भाव–भूमि को पूर्णतः प्रकट कर देता है। उसके ब्रह्मचर्य एवं ज्ञानतप की पराकाष्ठा को प्रस्तुत करने के लिए यह रूपक उपयुक्त बन पडा है। धर्माराधन करने वाले का ही समय अच्छे कार्य में व्यतीत होता है। इसी बात को एक सुन्दर सूक्ति के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :–

जा जा बच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ ॥[७]

जो जो रात्रि जा रही है, वह फिर कभी लौटकर नहीं आती है। धर्म करने वाले की रात्रियां ही सफल होती हैं। इसी प्रकार अनेक सुभाषित वाक्य इन्द्रनमि के संवाद, केशि–गौतम आदि के संवादों में प्रयुक्त हुए है। इसीलिए विंटरनित्स जैसे पाश्चात्य विद्वान् भी उत्तराध्ययन को श्रमण धार्मिक काव्य स्वीकार करते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक सुन्दर आख्यान दिये गये हैं। इन आख्यानों में काव्य के माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का पुट दिखाई देता है। आह्लाद-कता और चित्र की द्युति माधुर्य गुण की प्रमुख विशेषताएँ हैं।[८] कोई भी कथन इस प्रकार उपस्थित किया जाय कि उसकी चर्वणा भी हो और चित्त पर अमिट प्रभाव भी पड़े तो उसकी मधुरता या आह्लादकता की अनुभूति सहृदयों को अवश्य होती है। उसी प्रकार चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज–गुण कहलाती है।[९] किन्तु प्रसाद–गुण शब्दार्थ की प्रसन्नता में प्रायः सर्वत्र विद्यमान होता है। यही कथन उत्तराध्ययन सूत्र के संबंध में भी सत्य है कि इसकी प्रसाद –गुणात्मकता में कोई न्यूनता नहीं है। प्रसाद की छटा सर्वत्र दृष्टिगत होती है।[१०] माधुर्य–गुणात्मक उक्तियाँ भी इस सूत्र में उपलब्ध होती हैं।[११] जैसे उदाहरण के लिए निम्न गाथाएँ दृष्टव्य है।

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयाए समणो होई बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होई तवेण होइ तावसो ॥

—उ० सू०, यज्ञीय, गा० २०, ३०

अर्थात् केवल सिर मुण्डन से कोई श्रमण नहीं होता ओम् का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने मात्र से ही कोई मुनि नहीं होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से ही कोई तपस्वी नहीं होता अपितु समभाव से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है। यहाँ श्रमण, ब्राह्मण मुनि और तपस्वी का तुलनात्मक चरित उपस्थित किया गया है। उनकी भिन्नताद्योतक उपाधियाँ ही परस्पर भिन्न प्रतीत होती हैं, अन्यथा समभाव, ब्रह्मचर्य, ज्ञान और तप सभी में पारस्परिक साम्य और एकत्व स्पष्ट है।

ओज गुण की अभिव्यक्ति दीर्घ समास रचना से होती है किन्तु कभी—कभी ओज का प्रकाशक वह अर्थ भी होता है जो दीर्घ समास—रचना से रहित प्रसाद-गुणयुक्त पदों से अभिव्यक्त होता है।[१२]

उत्तराध्ययन में इसी प्रकार के उपदेशात्मक अर्थ से ओज गुण की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे :—

असंख्यं जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते किण्णु विहिंसा अजया गहिन्ति ॥
जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा समाययन्ती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥

उ० सू० असंस्कृत, गा० १, २.

अर्थात् टूटा जीवन सीधा नहीं किया जा सकता है। अतः प्रमाद करना उचित नहीं होता हैं। क्योंकि बुढापा आने पर कोई शरण नहीं है। प्रमादी, हिंसक और असंयमी मनुष्य समय पर किसकी शरण लेंगे यह विचारणीय है। जो भी मनुष्य अज्ञानवश पाप कार्यों से धनोपार्जन करते हैं और वासना के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाल में फंसकर वैरानुबन्धि कर्मों से बंधे हुए होते हैं। वे मरकर नरक में ही जाते हैं। वहां उपदेश की यथार्थ बातों से चित्त-दीप्ति रूप ओज की अभिव्यक्ति हो रही है।

उत्तराध्ययन सूत्र मोक्ष–मार्ग के साधकों का पाथेय है। अतः इसकी रचना सुन्दर एवं माधुर्य व्यंजक वर्णों अथवा शब्दों के रूप में हुई है। सहज, सरल एवं प्रचलित शब्द–गुम्फनात्मक शैली में साधु–संस्था के नियमों का उपदेश होने से भाषा में सामासिकता का प्रायः अभाव है। अतः इस ग्रंथ की शैली वैदर्भी कहा जा सकता है।

यह ग्रंथ ध्वनि तत्त्व की दृष्टि से उत्तम काव्य कहा जा सकता है। ध्वनि काव्य की आत्मा है।[13] क्योंकि कवि लोग किसी विशेष अर्थ की रस–पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए प्रतीयमानता का काव्य में समुचित सन्निवेश करते हैं। महाकवियों की वाणी में तो प्रतीयमान अर्थ ही अंगनाओं में लावण्य की तरह पृथक् रूप से आलोकित होता है।[14] उत्तराध्ययन सूत्र उपदेशात्मक काव्य है। उपदेश में मुख्य–मुख्य विषयों का उल्लेख कर उन्हें व्यवहार एवं आचरण में लाने के लिए उचित निर्देश दिये हुए होते है। यहाँ पर भी आचार्य अपने शिष्यों को जीवन-निर्माण का उपदेश दे रहे हैं। आचार्य का कथन है कि टूटा जीवन पुनः साधा नहीं जा सकता 'असंखयं जीविय मा पमायए' (असंस्कृत, गा० १)। जीवन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो टूट सकती है। अतः इस कथन का लाक्षणिक अर्थ होगा–जीवन का अधःपतन। इस अर्थ से यह ध्वनित होता है कि इस जीवन में यदि बुरे कार्य किये तो फिर कभी भी ऐसा अवसर नहीं आयेगा कि पतित जीवन का उद्धार हो सके। अतः जीवन–निर्माण के लिए ज्ञान, चरित्र और तप की साधना करनी चाहिये।

इस भौतिक–युग में प्रत्येक प्राणी धन की लालसा से संत्रस्त हो रहा है। वह चाहे कितना ही धन अर्जित कर लेता है परन्तु उसे उससे तृप्ति नहीं होती है। संसारी जीवन की इस वित्तैषणा का कोई अन्त नहीं है। अतः ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति का मोहान्धकार घना हो जाता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। उसकी दशा उस व्यक्ति की तरह हो जाती है जो अंधेरे में दीप को लेकर चला था किन्तु लौटते समय दीपक बुझ जाने से उसे दृष्ट मार्ग नहीं दिखाई पडता है और वह रास्ते में भटक कर नष्ट हो जाता है :—

दीव—प्पणट्ठे व अणन्तमोहे ।
नेयाउयं दट्ठमदट्ठुमेव ॥ उ० सू०, असंस्कृत, गा० ५.

इस गाथा मे बताया गया है कि मानव—जीवन ज्ञान का दीप है जिसे प्रत्येक प्राणी लेकर संसार में आता है। मनुष्य—जीवन में ही व्यक्ति अपने विवेक से धर्माचरण में प्रवृत्त होकर मोक्ष-मार्ग में प्रयाण कर मुक्ति—लाभ प्राप्त कर सकता है। किन्तु अपने लक्ष्य से भटक जाने पर वही व्यक्ति एक मात्र धन—लिप्सा से प्रमत्त हो जाता है। किन्तु धन से वह न तो इस लोक में और न पर लोक में अपना त्राण—संरक्षण कर सकता है।

भगवद्गीता में संयमी और संसारी प्राणी का अन्तर बताते हुए श्री कृष्ण ने अर्जुन को कहा था :—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ गीता, अध्याय २, श्लोक ३६

वही बात यहाँ ग्रंथकारने कही है :—

सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध—जीवी।
न वीससे पण्डिए आसु—पन्ने ॥ असंस्कृत, गा० ६.

अर्थात् आशुप्रज्ञालनी साधक सोए हुए लोगों में भी प्रतिक्षण जागता रहता है। स्पष्टतः यहाँ सोने और जागने की क्रिया का अभिप्राय भिन्न है। शयन अर्थात् सांसारिक भोगों में आसक्त अज्ञानी प्राणी तथा जागरण अर्थात् भोगों में अनासक्त होकर मोक्षप्राप्ति की साधना में सदैव सावधान रहने वाला। वस्तुतः धन, परिजन, भोग आदि के प्रलोभन व्यक्ति को सन्मार्ग से विचलित कर देते हैं। उनके व्यामोह में पडकर मानव अपने हिताहित का विवेक छोड देते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः इन सब प्रलोभनों के बीच रहकर भी जो इनमें लिप्त नहीं होता है वही जागता है।

उपदेश में आचार्य शिष्यों पर शासन करता है। किन्तु उपदेष्टा ही उपदिष्ट मार्ग से उपरत हो तो ऐसे आचार्य को आड़े हाथों लेते हुए ग्रंथकार कहता है :

भणन्ता अकरेन्ता य बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वाया–विरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं॥

उ० सू० क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय, गा० ९.

जो आचार्य बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तों की व्याख्या में कहते तो बहुत कुछ हैं परन्तु स्वयं आचरण में नहीं लाते वे ज्ञान–वाद में रत होकर केवल वाग्वीर्य से अपने को आश्वस्त करते हैं। अर्थात् ऐसे आचार्य स्वयं बन्धन में पड़कर मुक्ति–लाभ से वंचित हो जाते हैं और उनकी साधना निरर्थक हो जाती है। फलतः उनके उपदेश का प्रभाव भी निष्फल होता है।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थलों पर गूढ–रहस्यों की ध्वनि कर के ग्रंथकार ने वस्तुतः गागर में सागर ही भर दिया है। इस में न केवल श्रमणसंघ के शिष्टाचार का वर्णन है अपितु उस माध्यम से उत्सुक प्राणी को अपना कर्तव्य निश्चित करने की प्रेरणा दी गयी है। साहित्य, धर्म और दर्शन की त्रिवेणी इस ग्रंथ में शांतरस की सलिला का प्रवाह अध्यात्म के तटों से प्रवाहित हो रहा है जो इस कलि–युग की घोर अशांति को बहा ले जाने में सुतरां समर्थ है। आवश्यकता है इसके रस–पान करने की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन, १—१—१.
२. द्रष्टव्य, उ० सू०, मृगापुत्रीय, गा० ३८.
३. द्रष्टव्य, उ० सू०, परीषह प्रविभक्ति, गा० १०.
४. वही, हरिकेशीय, गा० २६.
५. वही, अकाममरणीय, गा० १६.
६. 'परं पर०' यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता, तदा कारणमाला स्यात्। साहित्यदर्पण, परि० १० का० ७६.
७. द्रष्टव्य, उ० सू० ब्रह्मचर्य समाधि—स्थान, गाथा, १५.
८. द्रष्टव्य, वही, ऊसुकारीय, गा० २४.
९. आह्लादकत्वं माधुर्यं चित्तस्य द्रुतिकारणम्। काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, सूत्र ८६.
१०. दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररससंस्थितिः. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, सूत्र ९१.
११. द्रष्टव्य, उ० सू०, विनयश्रुत, गा० २०, २३, २६, ३१; परीषह—प्रविभक्ति. गा० ४०, ४१, ४२, नमिपव्रज्या, गा० ४४, ४८, ५३ इत्यादि।
१२. तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः। ध्वन्यालोक, द्वि० उ० पृ० ९८.
१३. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० १.
१४. द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० ४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनागम एवं उपनिषद् : कुछ समानताएँ

डा० वशिष्ठ नारायण सिन्हा, वाराणसी

जैनागम श्रमण परम्परा (जैन) के आधार ग्रन्थ हैं तथा उपनिषद् वैदिक परम्परा के। इसलिए दोनों के बीच असमानताओं का पाया जाना स्वाभाविक और सहज है। किन्तु श्रमण तथा वैदिक दोनों ही परम्पराएँ भारतीय संस्कृति की दो शाखाएं हैं ; दोनों का उद्गम एवं विकास भारत में ही हुआ है। काल में अन्तर हो सकता है परन्तु देश तो एक ही रहा है। दोनों में अन्त:-सलिला के रूप में भारतीयता ही प्रवाहित होती है। जो समस्याएँ और उसके समाधान श्रमण परम्परा के हैं वही वैदिक परम्परा के भी हैं। ऐसी स्थिति में जैनागम और उपनिषद् के बीच समानताओं का पाया जाना असंभव नहीं है। हाँ, इतना ध्यान में अवश्य रखना होगा कि जो शब्द और वाक्य जैनागम में हो वही उपनिषद् में भी हो अथवा जो बातें उपनिषद् में कही गयी हों वही अक्षरश: जैनागम में भी हों। समानताएँ देखने के लिए हमें सिद्धान्तों का विश्लेषण करना होगा।

जैनागम तथा उपनिषद् निवृत्तिमार्ग को महत्त्व देते हैं। जैनागमने तो यज्ञादि का विरोध किया ही है। उपनिषद्ने भी वेदों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड का विरोध किया है। मुण्डक उपनिषद्[1] में बल देकर कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से शुद्धि प्राप्त करने पर हो सकती है न कि दृष्टिवाणी, तप, कर्म आदि से। ज्ञान को महत्त्व देने के कारण ही इसे "ज्ञान काण्ड" कहा गया है।

जैनागम तथा उन पर आधारित ग्रन्थों में जीव के प्रधानत: दो प्रकार बताये गये हैं – संसारी और मुक्त। जो संसार के बन्धन में फँसा हुआ है उसे संसारी कहते हैं तथा जो जन्म–मरण के बन्धन से निकल चुका है उसे मुक्त कहते हैं। उपनिषदों तथा उपनिषद्–आधारित ग्रन्थों में दो शब्द मिलते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव तथा आत्मा। जीव वह है जो बन्धन में है तथा आत्मा वह है जो स्वतन्त्र है। आत्मा को परमात्मा भी कहते हैं। आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं होता है।

जीव चैतन्य होता है यह सर्वविदित एवं सर्वमान्य है। इस सम्बन्ध में जैनागम एवं उपनिषद् अपवाद नहीं हो सकते। ये दोनों मानते हैं कि जीव में चेतना होती है। भगवतीसूत्र में यह कहा गया है कि जो जीव होता है वह निश्चित रूप से चैतन्य होता है तथा जो चैतन्य होता है वह निश्चित रूप से जीव होता है।[2] उमास्वाति ने भी कहा है कि जीव का लक्षण उपयोग है।[3] अर्थात् जीव में चेतना होती है। जीव स्वप्रकाशित तथा स्वप्रमाणित होता है। अपने लिए उसे किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसे ही अपने को प्रमाणित करने के लिए उसे किसी दूसरे प्रमाण की जरूरत नहीं होती है। उपनिषद् का आत्मा भी विशुद्ध चेतना वाला होता है। वह स्वप्रकाशित तथा स्वप्रमाणित होता है।[4] इतना ही नहीं बल्कि जैनागम तथा उपनिषद् के जीव स्वभावतः पर-प्रकाशक भी होते हैं।

जीव में पाई जाने वाली चेतना हमेशा एक जैसी नहीं रहती है। उसमें ह्रास और विकास देखे जाते हैं जिनके कारण जीव के विभिन्न प्रकार या स्तर बनते हैं। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि जब हम आत्मजागरण पर विचार करते हैं तो नारकी जीवों को सुप्त स्थिति में पाते हैं, जागने की स्थिति में नहीं।[5] सोने और जागने में तो निश्चित ही चेतना के स्तर बदल जाते हैं। इसके अतिरिक्त जब हम जीव के पाँच भावों पर विचार करते हैं[6] तो वहाँ भी चेतना के परिवर्तनशील अस्तित्व का बोध होता है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक। औदयिक चेतना के ह्रास की स्थिति है तथा औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक आदि क्रमशः विकास की स्थितियाँ हैं। माण्डूक्य उपनिषद्[7] में आत्मा की चार अवस्थाएँ बताई गयी हैं जिनसे चेतना का विकास जाना जाता है। वे हैं :— जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। जाग्रत अवस्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में जीव को बाह्य जगत का बोध होता है। स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान होता है। सुषुप्ति आनन्दमय स्थिति है। तुरीय अवस्था आत्मा की पूर्णावस्था है जो पहले की तीन अवस्थाओं का आधार है। भगवतीसूत्र में जीव की दो स्थितियों को बताते हुये सुषुप्ति तथा जाग्रत की चर्चा हुयी है किन्तु यहाँ पर जैनागम और उपनिषद् के द्वारा प्रतिपादित विकासक्रमों में अन्तर जान पड़ता है। नारकी को हमेशा सोने की स्थिति में बताकर जाग्रत से सुषुप्ति को कम विकसित बताया गया है लेकिन उपनिषद् के अनुसार जाग्रत से सुषुप्ति की अवस्था अधिक विकसित है क्योंकि वह आनन्दमय है। किन्तु समानता तो दोनों में है ही कि चेतना की स्थिति परिवर्तनशील है।

जैन दर्शनानुसार[८] एक, दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले जीव होते हैं, जिनमें चेतना का क्रमिक विकास देखा जाता है। पाँच इन्द्रिय वाले जीवों में भी समनस्क अमनस्क से अधिक विकसित होता है क्योंकि उसके पास मन होता है। सबसे अधिक विकसित मुक्त जीव होते हैं। इस तरह विकास क्रम में एक इन्द्रिय वाला जीव सबसे कम तथा मुक्त जीव सबसे अधिक विकसित देखा जाता है। उपनिषद् में कोशों के विवेचन मिलते हैं जिनमें भौतिक तत्त्व से लेकर आनन्दमय विशुद्ध आत्मा का विकास दिखाया गया है। कोश पाँच हैं: अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश।[९] इनमें अन्नमय कोश तो अजीव तत्त्व हैं किन्तु प्राणमय कोश में वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पशुपक्षी तक आ जाते हैं। मनोमय कोश में प्रधान तौर से मनुष्य और कुछ पाँच इन्द्रिय वाले पशु भी आते हैं किन्तु इससे विकसित विज्ञानमय कोश होता है जिसमें सिर्फ मनुष्य आते हैं क्योंकि यहाँ चेतन मात्र चेतन ही नहीं रहता है बल्कि स्वचेतन हो जाता है। यहाँ पर मनुष्य पशु से बिल्कुल अलग हो जाता है। सबसे विकसित आनन्दमय कोश होता है। यह मुक्तावस्था है जहाँ सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। जैन मतानुसार भी जीव अपनी मुक्तावस्था में ज्ञान की विभिन्न सीमाओं को पार करके कैवल्य की स्थिति में होता है। वह अपने पराये के भेद को मिटा देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनागम में कहा गया है कि जीव शाश्वत है और अशाश्वत भी।[१०] अपने मूलस्वरूप में यानि द्रव्य रूप में शाश्वत है तथा भावरूप में यानि मनुष्यादि पर्यायों के रूप में अशाश्वत है। ईशोपनिषद आदि में बताया गया है कि आत्मा चल है और अचल भी, दूर है और निकट भी। आत्मा अचल है इसका मतलब है कि वह नित्य है और चल है इसका अर्थ है कि वह अनित्य है। ये दोनों बातें एक ही दृष्टि से कही गयी हो ऐसी बात नहीं है क्योंकि एक ही दृष्टि से चल तथा अचल कहना अपने आप में विरोधी होगा। कोई भी चिन्तक ऐसा प्रतिपादन करने को तैयार नहीं होगा जो स्वयं विरोध प्रस्तुत करे। आत्मा यदि अचल है तो अपने मूल स्वरूप के कारण और चल है तो मायिक प्रभावों के परिवर्तन के कारण। उसके बाह्य रूप रंग बदलते हैं लेकिन उसका जीवत्व नहीं बदलता। यहाँ पर जैनागम की तरह उपनिषद् भी सापेक्षतावादी जान पड़ते हैं।

जैन मतानुसार एक अन्य निरूपण में जीव या आत्मा के तीन प्रकार होते हैं॥

बहिरात्मा जो इन्द्रिय समूह को आत्मा के रूपमें स्वीकार करता है।

अन्तरात्मा जो देह से अलग माना जाता है।

परमात्मा जो कर्म के कलंक से मुक्त है उसे परमात्मा कहते हैं।

उपनिषद् में भी आत्मा के तीन प्रकार माने गये हैं।[११]

बहिरात्मा या देहात्मा

शरीर से स्वतन्त्र वैयक्ति आत्मा

परमात्मा जिसमें व्यक्ति और वस्तु का भेद नहीं होता।

जैन मतानुसार शुद्ध आत्मा में न भवभ्रमण, न जन्म, न जरा-मरण होते हैं और न तो रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान तथा मार्गणास्थान ही। न उसमें वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श होते हैं और न स्त्री, पुरुष, नपुंसक इत्यादि पर्याय और संहनन ही होते हैं। वह अरस, अरूप, अव्यक्त, अशब्द, चैतन्य, अलिंग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्राह्य होता है।[१३] कठोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा जन्म—मरण से परे है। वह न जन्म लेता है और न मरता है। न उससे कोई जन्म लेता है। और न वह किसी से जन्म ग्रहण करता है।[१४] श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक। वह जिस प्रकार का शरीर धारण करता है वैसा ही हो जाता है।[१५] इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है कि आत्मा का वर्णन करने में सभी शब्द निवृत्त पाये जाते हैं। न तर्क उसे समझ पाता है और न बुद्धि ही।[१६] उपनिषद् में भी कहा गया है कि आत्मा तक न आँख, न शब्द और न मन पहुँच पाते हैं।[१]

जीवात्मा न जन्म लेता है और न मरता है तब यह समस्या उठती है कि जिन्हें हम जन्म और मरण कहते हैं वे क्या हैं? इसका उत्तर हमें वहाँ मिलता है जहाँ अन्तरालगति का विवेचन हुआ है। कर्म के अनुसार जीव एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर को धारण करता है। शरीर को धारण करना जन्म होता है और शरीर को त्याग देना मृत्यु के रूप में जाना जाता है। औपनिषदिक परम्परा में भी यह माना गया है कि जीव एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर को धारण करता है जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने वस्त्र को त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है।[१७] इसी के आधार पर पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म होते हैं जिसे जैन एवं वैदिक दोनों ही परम्पराएँ स्वीकार करती हैं।

जीव अनन्त चतुष्टय को धारण करता है — अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द एवं अनन्त वीर्य। फिर भी वह कर्म के प्रभाव से बन्धन में आ जाता है / किन्तु अनन्त ज्ञान वाला जीव सर्वप्रथम कब और क्यों कर्म से सम्बन्धित हो गया और बन्धन की परम्परा चल पडी? इसका कोई स्पष्ट उत्तर जैनागम में नहीं मिलता है। उपनिषद् में भी आत्मा को शुद्ध चैतन्य माना गया है जो बिल्कुल निर्लेप होता है किन्तु माया के कारण वह बन्धन में आ जाता है। उपनिषद् में यह स्पष्ट नहीं बताया गया है कि शुरू में आत्मा कब माया के वशीभूत हो गया? फिर भी जैनागम तथा उपनिषद् दोनों ही जीव के बन्धन और मोक्ष पर विचार करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब जीव कर्मोंसे प्रभावित हो जाता है तब उसके स्वाभाविक रूप पर आवरण आ जाता है, जैसे:—बादलोंके द्वारा सूर्य पर आवरण आ जाता है और उसका प्रकाश छुप जाता है। जीव कर्मसे क्यों प्रभावित होता है ? कषाय के कारण। कषाय के चार प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया तथा लोभ।[२०] उपनिषद्में बन्धन के कारण के रूपमें मायाको प्रस्तुत किया गया है। मायाके कारण शुद्ध आत्मा शरीर धारण करता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि प्रमादोंका शिकार होता है। वह सत्यको असत्य और असत्यको सत्य समझता है।[२१] वह भ्रममें पडनेके कारण सुख-दुख भोगता है।

जन्म—मरणसे छुटकारा पा जाना मोक्ष है। इसे परमानन्द, आत्मज्ञान, ब्रह्मलीन होना आदि भी कहते हैं। आचारांग सूत्रमें आत्मबोध पर अधिक बल दिया गया है जिससे आत्माका ज्ञाता रूप एवं अद्वैतभाव पर प्रकाश पड़ता है जो इस प्रकार है —

"जिसको तुम मारना चाहते हो वह तुम ही हो।
जिसको तुम शासित करना चाहते हो वह तुम ही हो।
जिसको तुम परिताप देना चाहते हो वह तुम ही हो।"[२२]

इस उक्तिमें आत्माका उदार अद्वैत भाव प्रकट होता है क्योंकि अपने चैतन्यरूपमें सभी जीव समान हैं। फिर आगे कहा गया है —

"जो आत्मा है वह विज्ञाता है,
जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।
जिससे जाना जाता है वह आत्मा है,
जाननेकी इस शक्तिसे ही आत्मा प्रतीत होता है।"[२३]

इस लिए आत्मजागरणको महत्त्व दिया गया है। उपनिषद्में तो आत्माको परम तत्त्व माना गया है। इसलिए कहा गया है कि यदि हम आत्माको जान लेते हैं तो अन्य सभी कुछ भी जान लेते हैं।[२४] किन्तु आत्माको जानना भी कोई आसान काम नहीं है। उसके अद्वैत रूपको समझना अत्यंत कठिन है। साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो आत्माको जानना चाहता है उसे किस प्रकार साधना करनी चाहिए इस बातको ध्यानमें रखते हुए सूत्रकृतांगमें कहा गया है—"जिस तरह कछुआ अपने अंगोंको समेटकर अपनेको खतरेसे दूर रखता है उसी तरह साधक भी अपनी इन्द्रियोंको समेटकर अपनेको अध्यात्म योगके द्वारा अन्तर्मुखी बनावे तथा पापसे मुक्त रहे।[२५] ठीक ऐसी ही बात गीतामें कही गयी है। स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको बताते हुये कृष्णने कहा है —

"कछुआ जिस प्रकार अपने अंगोंको समेट लेता है
उसी प्रकार साधक जब सब ओरसे अपनी इन्द्रियोंको
विषयोंसे समेट लेता हैं तब उसकी बुद्धि स्थिर
हो जाती है।"[२६]

इस प्रकार जैनागम तथा उपनिषद्के बीच विभिन्न स्थानों पर समानताएँ मिलती हैं।

टिप्पणी

१. मुण्डक उपनिषद् 3·1·8,
२. भगवतीसूत्र, 6·10
३. उपयोगो लक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र 2·8
४. Its real nature is pure conciousness, selfshining and self proved and always the same : Dr. C. D. Sharma, Indian Philosophy, Chap. — The Vedas and the Upanisads, p. 10.
५. नेरइया सुत्ता, नोंजागरा–भगवतीसूत्र 16·6
६. तत्त्वार्थसूत्र 2·1
७. माण्डूक्य उपनिषद्–1·2·7,
८. तत्त्वार्थसूत्र, 2. 10–20.
९. तैत्तिरीय उपनिषद्–2.1.5,
१०. जीवा सिय सासया, सिय असासया।
दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया। भगवतीसूत्र, 7·2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य ।
परमप्पा विय दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ॥2॥
अक्खाणि बहिरप्पा, अन्तरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ॥3॥ आत्मसूत्र, समणसुत्तं ।

१२. Three Different Atmas
(1) The corporeal self, the body.
(2) The individual soul free from the body which as knowing subject is contrasted with and distinct from the object.
(3) The supreme soul in which subject and object are no longer distinguished from one another or which to Indian conception is the objectless knowing object. Paul Deussen, The Philosophy of Upaniṣads. p. 94
Chandogya Upaniṣad, 8.7.12

१३. चउगइभवसंभमणं जाइजरामरण–रोयसोका य ।
कुलजोणिजीवमग्गण–ठाणा जीवस्स णो संति ॥6॥
वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणवुंसयादि–पज्जाया ।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥7॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥9॥ समणसुत्तं, पृ० 58.

१४. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्ना बभूव कश्चित् । कठोपनिषद् 2.2.18

१५. नैव स्त्री न पुमानेषु, न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते, तेन तेन स रक्ष्यते ॥ श्वे. उप. 5.10.

१६. सव्वे सरा नियट्टंति,
तक्का जत्थ न विज्जइ,
मई तत्थ न गाहिया – आचारांग सूत्र 1.5.6.176

१७. न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनः, केन उपनिषद्, 1.3

१८. तत्त्वार्थ सूत्र, 2.26–31,

१९. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय–2·22

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०. ठाणंग, 4.92, प्रज्ञापना 23,1.290

२१. Indian Philosophy, Dr. C. D. Sharma, p. 385

२२. तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि । आचारांग सूत्र, 1.5. 5.5

२३. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए । आचारांग सूत्र, 1.5.5.6

२४. We agree that Atman is the sole reality.
If we know it, all else is known–
vide Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. I p. 189

२५. जहाकुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे ॥ ॥ सूत्र-कृतांग 1.8.16

२६. यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 2.58

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

અનુયોગદ્વારસૂત્ર : મૂળસૂત્ર કે ચૂલિકાસૂત્ર ?

પ્રિ. કે. એમ. પટેલ, પાટણ

જૈન આગમોમાં મૂળસૂત્રોનું મહત્ત્વપૂર્ણ સ્થાન છે. પણ એક વાત સ્પષ્ટ છે કે નંદીસૂત્ર અને અનુયોગદ્વારસૂત્રને સ્થાનકવાસી અને તેરાપંથી જ મૂળસૂત્રો ગણે છે. શ્વેતામ્બર સંપ્રદાય આ બંને સૂત્રોને મૂળસૂત્રો નથી ગણતો. તેમને મતે આ બંને ચૂલિકાસૂત્રો છે : જ્યારે ઉત્તરાધ્યયન. દશવૈકાલિક, આવશ્યક અને પિંડનિર્યુક્તિ – આ ચારની મૂળસૂત્રોમા ગણના થાય છે. ભાવપ્રભસૂરિની જૈનધર્મવરસ્તોત્ર (ગા. ૩૦) પરની ટીકા (પૃ. ૯૪)માં સૌ પ્રથમ નીચેનાં મૂળ સૂત્રોનો ઉલ્લેખ થયો છે. अथ उत्तराध्ययन, आवश्यक पिंडनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति दशवैकालिक इति चत्वारि मूळसूत्राणि। મૂળસૂત્રોની સંખ્યાની જેમ તેમના ક્રમની બાબતમાં પણ ભિન્ન ભિન્ન મત પ્રવર્તે છે. આમ એકતરફ અનુયોગદ્વારને મૂળસૂત્ર તો બીજી તરફ તેને ચૂલિકાસૂત્ર ગણવામાં આવ્યું છે. આ બંને માન્યતાઓમાં વધારે વજનદાર કઇ ? એ જાણવા સૌ પ્રથમ 'મૂળસૂત્ર' એટલે શું ? તે સમજવું જરૂરી છે.

મૂળસૂત્ર એટલે શું ?

ઉત્તરાધ્યયનાદિ ચાર સૂત્રોને અપાયેલી મૂળસૂત્રોની સંજ્ઞા અંગેનું સ્પષ્ટીકરણ કોઈ પ્રાચીન ગ્રંથમાં મળતું નથી. વળી આ વર્ગીકરણ માત્ર શ્વેતાંબર પરંપરામાં જ જોવા મળે છે. પ્રાચીન સમયમાં કોઇ જૈન આચાર્યે પણ આની સ્પષ્ટતા કરી નથી. પશ્ચાદ્વર્તી સાહિત્યમાં પણ સંભવતઃ આ નામનો સૌ પ્રથમ પ્રયોગ શ્રી ભાવદેવસૂરિ રચિત 'જૈનધર્મવરસ્તોત્ર' ના ૩૦ મા શ્લોકની ટીકામાં જોવા મળે છે, ત્યાં ઉત્તરાધ્યયન, આવશ્યક, પિંડનિર્યુક્તિ, ઓઘનિર્યુક્તિ અને દશવૈકાલિક આ ચાર મૂળસૂત્રો છે. એવો ઉલ્લેખ મળે છે. આ બાબતમાં પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનોએ ભિન્ન ભિન્ન મત વ્યકત કર્યા છે.

(૧) જર્મનીના સુપ્રસિદ્ધ પ્રાચ્યવિદ્યા–અધ્યેતા શાર્પેન્ટીયર (Charpentier) નામના વિદ્વાનનું માનવું છે કે આ ગ્રંથોમાં ભગવાન મહાવીરના પોતાના શબ્દો (Mahāvira's own words) ગ્રથિત થયેલા હોઈ તે મૂળસૂત્રો તરીકે ઓળખાય છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(૨) જૈન વાઙ્મયના વિશિષ્ટ અધ્યેતા જર્મન વિદ્વાન પ્રોફેસર ડૉ. વોલ્ટર શુબ્રિંગ (Walter Schubring)ને મતે સાધુ તરીકેના જીવનની શરૂઆતમાં જે યમનિયમાદિ આવશ્યક છે તેનો આ ગ્રંથોમાં ઉપદેશ હોઇ તેને મૂળ સૂત્રો કહેવામાં આવે છે.

(૩) ઇટલીના વિદ્વાન પ્રો. ગેરિનો (Guerinot) માને છે કે આ ગ્રંથો original અર્થાત્ અસલ ગ્રંથો છે, જેની ઉપર અનેક ટીકાઓ, નિર્યુક્તિઓ થઈ છે. ટીકાગ્રંથોનો અભ્યાસ કરતાં આપણે જે ગ્રંથ ઉપર ટીકા કરવી હોય તે ગ્રંથને મૂળગ્રંથ કહીએ છીએ વળી જૈન ધાર્મિક ગ્રંથોમાં આ ગ્રંથો ઉપર સૌથી વધારે ટીકાગ્રંથો છે. આ કારણે આ ગ્રંથોને ટીકાઓની અપેક્ષાએ મૂળગ્રંથો અથવા મૂળસૂત્રો કહેવાની પ્રથા પડી હશે, એમ કલ્પી શકાય.

(૪) વિંટરનિત્ઝ શાર્પેન્ટીયરના મત સાથે નહીં પણ ગેરીનોના મંતવ્ય સાથે સહમત થાય છે.

ભારતીય વિદ્વાનોમાં પ્રો. પટવર્ધન તથા પ્રો. એચ. આર. કાપડીયા, ડૉ. શુબ્રિંગના મત સાથે સહમત થાય છે.

પ્રથમ મત મહદ્અંશે ઉત્તરાધ્યયનને લાગુ પડી શકે. છતાં પણ તે એક જ સમયની કૃતિ માની શકાય તેમ નથી. વિંટરનિત્ઝે ઉત્તરાધ્યયનનાં અધ્યયનોને જુદા જુદા સમયની રચનાઓ કહી છે. દશવૈકાલિક શય્યંભવની રચના અને નંદીસૂત્ર દેવવાચકની રચના છે. અનુયોગદ્વારસૂત્રનો રચના-સમય પણ બીજા સૈકાની આસપાસનો છે. હા, જો એમ કહીએ કે ભગવાન મહાવીરના શબ્દોને આધારે આ સૂત્રોની રચના થઈ છે તો વિરોધાભાસ દૂર થાય. પણ એમ કરતાં આ બાબત સમગ્ર આગમ ગ્રંથોને લાગુ પડી શકે.

ડૉ. શુબ્રિંગનો મત ઉત્તરાધ્યયનને સર્વાંશે લાગુ પાડી શકાતો નથી. કારણ કે તેમાં શ્રમણ-જીવનના યમનિયમો જ નહિ, પરંતુ અનેક કથાઓ, શિક્ષાપદો, મોક્ષપ્રાપ્તિના ઉપાયો વગેરે જૈન આગમોની મૂળભૂત ઘણી બાબતો છે.

આના ઉકેલ માટે ત્રીજો મત પ્રકાશમાં આવ્યો હોય તેમ જણાય છે. પરંતુ તે માન્યતા વિષેની યુક્તિ બહુ વજનદાર જણાતી નથી. ઉત્તરાધ્યયન, દશવૈકાલિક વગેરે ઉપર જેમ અનેક ટીકાઓ રચાઇ છે તેમ બીજા અંગ, ઉપાંગ આદિ ગ્રંથો ઉપર ઘણી ટીકાઓ લખાઈ છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

તેથી ટીકાઓની અપેક્ષાએ તેમને મૂળસૂત્રોની સંજ્ઞા આપી હોય એ પ્રતીતિકર લાગતું નથી.

આમ, ઉપરના ત્રણે મતોમાંથી કોઈ મત સ્વીકાર્ય બની શકતો નથી. ત્યારે હવે મૂળ સંજ્ઞા શા માટે મળી હશે ? તે સંબંધમાં વિચારણા કરતાં એમ જણાય છે કે આખાયે જૈન દર્શનના સિદ્ધાંતોનું અને જૈનજીવનનું રહસ્ય સંક્ષેપમાં અને યથાર્થ સ્વરૂપે સમજવું હોય તો તેને માટે આ મૂળગ્રંથો જ સુસાધ્ય ગણી શકાય. અને આ કારણે જ તેમને મૂળગ્રંથો કહ્યા હોય. જૈન તત્ત્વપ્રકાશમાં (પૃ. ૨૨૮) કહેવામાં આવ્યું છે કે જો વૃક્ષનું મૂળ સુરક્ષિત અને મજબૂત હોય તો તેનું આયુષ્ય લાંબું ચાલે અને ઘણી શાખા પ્રશાખાઓ વૃદ્ધિ પામતી રહે. પણ જો મૂળ સુદૃઢ ન હોય તો તે સુકાઇને થોડા દિવસોમાં સમાપ્ત થઈ જાય. તેવી રીતે જે ગ્રંથનો અભ્યાસ સમ્યક્ત્વરૂપી વૃક્ષને મજબૂત કરે અને શ્રમણના દશવિધ ધર્મમાં વિકાસ પ્રેરે તેને મૂળસૂત્રો કહી શકાય.

મૂળસૂત્ર શા માટે ?

મૂળસૂત્ર તરીકે અનુયોગદ્વારની બાબતમાં વિચાર કરતાં એ સ્વીકારવું પડે કે તેની રચના ચોક્કસ સમયે થઈ છે એટલે તે ભગવાન મહાવીરના શબ્દો નથી. વળી, તેમાં સાધુજીવનના યમનિયમની ચર્ચા ન હોઈ બીજો મત પણ તેને લાગુ પડી શકતો નથી. ટીકાઓની અપેક્ષાએ પણ તેને મૂળસૂત્ર કહી શકાય તેમ નથી. પણ જૈન તત્ત્વપ્રકાશમાં મૂળસૂત્ર અંગે જે સમજૂતી આપવામાં આવી છે તે જોતાં અનુયોગદ્વારને યોગ્ય રીતે જ મૂળસૂત્ર કહી શકાય. અનુયોગદ્વારરૂપી મૂળસૂત્રનું યોગ્ય રીતે અધ્યયન અને પ્રશિક્ષણ થઈ જાય તો અન્ય બધા જ શાસ્ત્રગ્રંથો તેમજ વિચારધારાઓની સમ્યક્ વ્યાખ્યા અને વિશ્લેષણ કરવાની તથા અનુકૂળ અનુયોગ કરવાની શક્તિ આવી જાય છે. તેના અધ્યયનથી અનેક રીતે બૌદ્ધિક શક્તિ વધી જાય છે. અનુયોગદ્વારનું ગહન અધ્યયન ન હોય તો શાસ્ત્રોનો અર્થ અને તેની વ્યાખ્યા કરવાની પદ્ધતિ ન જાણી શકાય. અનુયોગદ્વારનું ગહન અધ્યયન થઈ જાય તો જિજ્ઞાસુ પ્રત્યેક શાસ્ત્રનાં રહસ્ય, તાત્પર્ય, દૃષ્ટિકોણ, સિદ્ધાન્ત આદિના નિષ્કર્ષ બહુ સહેલાઈથી પામી શકે છે. આમ, આગમના અધ્યેતા માટે વ્યાખ્યા અને વિશ્લેષણ કરવાની કળા તેમજ પદ્ધતિ શીખવનાર પ્રાથમિક શાસ્ત્ર હોવાથી અનુયોગદ્વાર સમગ્ર શાસ્ત્રોનો મૂળાધાર છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

અનુયોગદ્વારને મૂળસૂત્ર ગણવાનું અન્ય કારણ એ પણ છે કે આત્મોત્થાનના મૂળમંત્ર ચાર છે. સમ્યગ્ દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન, સમ્યક્ ચારિત્ર અને સમ્યક્તપ. પ્રસ્તુત અનુયોગદ્વાર તત્ત્વજ્ઞાનનું તેમજ શ્રુત-જ્ઞાનના વિકાસના ઉપાયોનું નિરૂપણ કરે છે. એટલે જ્ઞાન અને દર્શન બંનેની વૃદ્ધિ માટેનું પ્રતિનિધિ સૂત્ર હોવાથી તે મૂળસૂત્ર મનાય છે જ્ઞાન-દર્શનની શુદ્ધિ પછી જ ચારિત્ર અને તપની આરાધના થઇ શકે. આત્મશુદ્ધિના સમસ્ત સાધનોનું મૂળ કારણ દર્શન અને જ્ઞાન છે માટે જ અનુયોગદ્વારને મૂળસૂત્ર ગણવામાં આવે છે.

ચૂલિકા શા માટે ?

શ્વેતામ્બર મૂર્તિપૂજક પરંપરા પ્રમાણે અનુયોગદ્વારસૂત્ર ચૂલિકા ગણાય છે. ચૂલિકા શબ્દનો પ્રયોગ એ અધ્યયન કે શાસ્ત્ર માટે થાય છે, કે, જેમાં અવશિષ્ટ યા પરિશિષ્ટ વિષયોનું વર્ણન અથવા વિવિધ વિષયોનું સ્પષ્ટીકરણ કરવામાં આવે છે. તેમાં મૂળ શાસ્ત્રના પ્રયોજન અથવા વિષયને દૃષ્ટિમાં રાખીને એવી કેટલીક આવશ્યક બાબતો પર પ્રકાશ પાડવામાં આવ્યો હોય છે કે જેનો સમાવેશ મૂળશાસ્ત્રમાં ન થઈ શકયો હોય. નંદીસૂત્ર અને અનુયોગદ્વારસૂત્ર આવી ચૂલિકાઓ છે જે પરિશિષ્ટનું કામ કરે છે એટલું જ નહીં આગળના અધ્યયન માટે ભૂમિકાનું કામ કરે છે. આ બાબત નંદીસૂત્રની અપેક્ષાએ અનુયોગદ્વારસૂત્રને વિશેષ લાગુ પડે છે. નંદીસૂત્રમાં તો માત્ર પાંચ જ્ઞાનોનું વિવરણ કરવામાં આવ્યું છે. જ્યારે અનુયોગદ્વારમાં આવશ્યકની વ્યાખ્યાના માધ્યમથી સમગ્ર આગમોની વ્યાખ્યાનું પ્રશિક્ષણ આપવાનું દૃષ્ટિ ગણ્યું છે. આ શાસ્ત્રનું વિધિવત્ અધ્યયન કરવાથી વિભિન્ન બાજુઓથી વ્યાખ્યા કરવાની ચાવી હાથ લાગી જાય છે. અનુયોગદૃષ્ટિ સંપન્ન સાધક વિશ્વના બધા જ પદાર્થોનું વિશ્લેષણ કરવામાં પારંગત બની જાય છે.

ટૂંકમાં અનુયોગદ્વારસૂત્ર આગમના અધ્યયન માટે ભૂમિકાનું કામ કરે છે. તેમાં પરિશિષ્ટ વિષયોનું વર્ણન અને વિવિધ વિષયોનું સ્પષ્ટી-કરણ કરવામાં આવ્યું છે. એટલે તેને ચૂલિકાસૂત્ર ગણવામાં આવે છે.

ઉપસંહાર

શ્વેતામ્બર મૂર્તિપૂજક સંપ્રદાય અનુયોગદ્વારને ચૂલિકા ગણે છે, કારણ કે તેમાં પરિશિષ્ટ વિષયોનું વર્ણન અને વિવિધ વિષયોનું સ્પષ્ટી-કરણ કરવામાં આવ્યું છે. પણ સ્થાનકવાસી અને તેરાપંથી સંપ્રદાયો

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

તેને મૂળસૂત્ર ગણે છે, કારણ કે તેમાં આગમોના પ્રાયઃ સમસ્ત મૂળભૂત સિદ્ધાંતોનું સ્વરૂપ સમજાવતા વિશિષ્ટ પારિભાષિક શબ્દોનું સ્પષ્ટીકરણ કરવામાં આવ્યું છે. જેનું જ્ઞાન આગમોના અધ્યયન માટે માત્ર જરૂરી જ નહીં પરંતુ અનિવાર્ય પણ હોય. અનુયોગદ્વારને યોગ્ય રીતે સમજી લીધા પછી ભાગ્યે જ કોઈ આગમિક પરિભાષા રહી જતી હશે, જેને સમજવા માટે અધ્યેતાને મુશ્કેલીઓનો સામનો કરવો પડે. આમ કેટલાક અગત્યના જૈન પારિભાષિક શબ્દો તેમજ સિદ્ધાંતોની સંક્ષિપ્ત અને સૂત્રસ્થ વ્યાખ્યા કરનાર અનુયોગદ્વારનું જૈન આગમોમાં મહત્ત્વપૂર્ણ સ્થાન છે. તેથી તેને ચૂલિકા ન કહેતાં મૂળસૂત્ર કહેવામાં આવે તો પણ તે સર્વથા ઉચિત જ છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक धर्मसूत्रगत यतिधर्म एवं जैनागमगत अनागारधर्म के आचार की तुलना

–कु. रीता बिश्नोई, मुजफ़्फरनगर

संसार में जितनी भी ज्ञान की शाखायें हैं वे सभी किसी न किसी रूप में आचार अथवा विचार से सम्बद्ध हैं। आचार व विचार एक दूसरे के पूरक हैं। विचारों का क्रियान्वित रूप ही आचार में परिणत होता है अथवा संस्कारों की संहिता ही आचार कहलाती है। भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषताओं में से एक विशेषता -"आचार" भी है। जीवन में आचार का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है अतएव "आचारः परमो धर्मः"[1] कहा गया है। साधारणतः आचार शब्द का अर्थ होता है आचरण, अनुष्ठान। राग और द्वेष से रहित कर्म ही आचार है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि विचारों अथवा आदर्शों का व्यवहारिक रूप आचार है। आचार की आधारशिला नैतिकता है। नैतिकता का आदर्श जितना अधिक बृहद् होगा उतनी ही उसकी आचार संहिता बलवती होगी। जो आचार नैतिकता पर प्रतिष्ठित नहीं है वह आदर्श आचार नहीं कहा जा सकता। जहाँ दर्शन का सम्बन्ध विचारों से होता है वहाँ धर्म का सम्बन्ध आचार अथवा व्यवहार से होता है। आचार के लिये श्रद्धा की आवश्यकता होती है और धर्म श्रद्धा पर ही अवलम्बित होता है। आचार से ही धर्म की उत्पत्ति कही गयी है 'आचारप्रभवो धर्मः'।

भारतीय संस्कृति में आचार ही व्यक्ति की कसोटी है और आचार का स्रोत है विचार, किन्तु विचार सब समय एकसा नहीं होता इसलिये किसी का आचार या आचरण ही स्पष्ट कर देता है कि वह कैसा व्यक्ति है ? आचार ही व्यक्ति को असुर बनाता है अथवा आचार ही व्यक्ति को देव बनाता है। अतः प्राचीन भारतीय आचार्यों ने धर्म एवं दर्शन के साथ–साथ कई रूपों में आचार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र का भी निरूपण एवं प्रतिपादन किया। प्रत्येक धर्मपरम्परा में आचार-विषयक पृथक्-पृथक् धारायें मिलती हैं यथा—वैदिक मीमांसा परम्परा में "पूर्व मीमांसा" आचार प्रधान है, बौद्ध परम्परा में "हीनयान" आचार प्रधान है और जैन परम्परा आचार प्रधान है जिसमें 'अहिंसा' को मुख्य स्थान है।

प्रत्येक साहित्य अपने-अपने युग का प्रतिबिम्ब होता है। कवि हो या लेखक, इतिहासकार हो या प्रबन्धकार सब अपने अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी रचनाओं में उस युग की सभ्यता और संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है यथा—उस युग की मान्यतायें, रहन-सहन, खान-पान, मनन-चिन्तन, आचार-व्यवहार आदि सभी वहाँ चित्रित होते हैं। समयानुसार परिस्थितियों में विभिन्न परिवर्तन आने के कारण उस समय के आदर्शों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। वैदिक और जैन धर्म ग्रन्थों में आचार सम्बन्धी चित्रण आये हैं इनमें यत्रतत्र कुछ भिन्नता भी है। लेकिन कुछ आचार सभी ग्रन्थों में शाश्वत पाये जाते हैं यथा—सत्य बोलना, अहिंसा-जीवों पर दया करना आदि।

वैदिक धर्मसूत्रों में "आचार" पर पूर्ण प्रकाश डाला है यद्यपि धर्म-शास्त्रकारों ने आचारशास्त्र के सिद्धान्तों का सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन उपस्थित नहीं किया है और न उन्होंने कर्तव्य, सौख्य या पूर्णता (परम विकास) की धारणाओं का सूक्ष्म एवं अविहत विश्लेषण ही उपस्थित किया है किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि धर्मशास्त्रकारोंने आचारशास्त्र के सिद्धान्तों को छोड़ दिया है अथवा उन पर कोइ ऊँचा चिन्तन नहीं किया है। वैदिक धर्मसूत्रकारोंने वर्णव्यवस्था पर अत्यधिक जोर दिया है और प्रत्येक वर्ण के लिये एवं प्रत्येक वर्गविशेष के लिए कुछ विशेष आचार संहितायें निर्मित की हैं। उदाहरणार्थ ब्राह्मण वर्ण के लिए कुछ विशेष आचार बतलायें हैं तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के व्यक्तियों के लिये अलग-अलग आचार संहितायें निर्मित की गई हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग विशेष के लिये भी अनेकों आचार बताये गये हैं जिनमें राजा, प्रजा, पुरोहित, मन्त्री, गृहस्थ, मुनि इत्यादि हैं। इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब के विषय में जो आचार संहितायें निर्मित हुइ हैं उनका वर्णन विभिन्न धर्मग्रन्थों तथा स्मृतिग्रन्थों में पाया जाता है ।

जैन आगमों में भी "आचार" को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है । वह कर्म क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है । कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिये सम्यग् दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र अर्थात् आचार का होना अनिवार्य है । आचरण के अभाव में मात्र ज्ञान से मुक्तिमार्ग तय नहीं हो पाता इसलिये आचरण को प्रमुख स्थान दिया गया है "आचार ही तीर्थंकरों के प्रवचन का सार है"[२] वही मुक्ति का प्रधान कारण है। जैनागमों में मुख्य रूप से मुनि (श्रमण) और गृहस्थ (श्रावक) के आचारों का ही विस्तृत वर्णन किया गया है । सभी धर्म एवं सम्प्रदाय एकमत हैं कि धर्म और विद्या आदि को आगे बढ़ाने के लिये समाज में संन्यासी आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है । धर्मशासनकी प्रभावना के लिये मुनिधर्म के आचारों पर विशेष बल दिया जाता है ।

वैदिक धर्म–सूत्रों में यति (संन्यासी) के "आचारों" पर प्रकाश डाला गया है । यहाँ मानव जीवन के चार सोपान (आश्रम) बतलाये गये हैं जिनके अनुसार आचरण करने पर मनुष्यका जीवन सफल माना जाता है । इन चार आश्रमों के पारिभाषिक नाम इस प्रकार हैं– ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम । वैदिक धर्मसूत्र ग्रन्थों में इन चार आश्रमों के अन्तर्गत "संन्यास आश्रम" में यतिधर्म के स्वरूप एवं आचार आदि वर्णित है ।

जैन आगमों में अनागार (मुनि) धर्म अर्थात् श्रमण–श्रमणी के आचार सम्बन्धी संहिता उपलब्ध होती है । जैनागम ग्रन्थों में "दशवैकालिक" के विविक्तचर्या नामक द्वितीय चूलिका में साधु के कुछ कर्तव्याकर्तव्योंका प्रतिपादन किया गया है । आचारांग उत्तराध्ययन और दशवैकालिक में कुछ बातें शब्दतः और कुछ अर्थतः मिलती जुलती हैं ।

वैदिक धर्मसूत्र ग्रन्थों में तथा जैन आगमों में यतिधर्म के एवं अनागार धर्म के आचार सम्बन्धी बहुत सी बातें ऐसी हैं जो आपस में बहुत कुछ मिलती जुलती हैं यथा–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक धर्मसूत्रकार गौतम[3] के अनुसार संन्यासी (यति) को ग्राम में भिक्षाटन के लिये केवल एक बार जाना चाहिये। जैनागम के मूलसूत्रों में दशवैकालिक का भी समावेश किया जाता है. इसके अनुसार महाचार कथा नामक छठें अध्ययन में श्रमण को एकभक्त भोजन करनेवाला कहा गया है। सामान्यतः दिन में एकबार भोजन करना ही मुनि के लिये श्रेयस्कर है। उत्तराध्ययन के छब्बीसवें अध्ययन (सामाचारी) में भी इस सिद्धान्त का समर्थन है।

वशिष्ठ धर्मसूत्र[4] में बताया गया है कि संन्यासी को भरपेट भोजन नहीं करना चाहिये, उसे केवल उतना हा खाना चाहिये जिससे वह अपने शरीर व आत्मा को एक साथ रख सके, उसे अधिक पाने पर न तो सन्तोष या प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिये और न कम मिलने पर निराशा। आपस्तम्बधर्मसूत्र[5] तथा बोधायन धर्मसूत्र[6] में यति को ८ ग्रास भोजन करने का विधान बतलाया गया है। जैन आगमों में मुनि की आचार-चर्या में भूख से कम भोजन करने का विधान बतलाया गया है। यहाँ मुनि के लिए सामान्य ३२ ग्रास भोजन से कम भोजन करने को कहा गया है[7]। औपपातिक सूत्र में इस बारे में विस्तृत वर्णन किया गया है। उत्तराध्ययन (१६-८) में ब्रह्मचर्यरत भिक्षु को परिमित भोजन करने को कहा गया है तथा मात्रा से अधिक भोजन न करने को भी कहा गया है। ऊनोदरी करें – अर्थात् कम खायें[8]।

लघुविष्णु धर्मसूत्र[9] में कहा गया है कि यति (संन्यासी) का भिक्षापात्र तथा जलपात्र मिट्टी, लकडी, तुम्बी या बिना छिद्र वाले बांस का होना चाहिये किसी भी दशा में उसे धातु का पात्र प्रयोग में नहीं लाना चाहिये। जैनागम आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूला के छठें अध्ययन में कहा गया है कि निर्ग्रन्थ–निर्ग्रन्थियों को आलाबु, काष्ठ व मिट्टी के पात्र रखना कल्प्य है तथा धातु के पात्र रखना अकल्प्य।

शंख धर्मसूत्र[10] एवं विष्णु धर्मसूत्र[11] के अनुसार यति(संन्यासी) को भलीभाँति आगे भूमिनिरीक्षण करके चलना चाहिये, पानी छान कर पीना चाहिये। जैनागम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्धकी तृतीय चूलामें पाँच महाव्रतोंकी भावनायें बतलाई गई हैं जिनके पालनसे महाव्रतोंकी रक्षा होती है। इसमें ईर्या विषयक समितिमें गमनागमन सम्बन्धी सावधानीका विस्तृत वर्णन किया गया है। मुनि संयमपूर्वक चित्तको गतिमें एकाग्र कर, पथ पर दृष्टि टिका कर चले। जीव–जन्तुको देख कर पैर संकुचित कर ले और मार्ग में आनेवाले प्राणियोंको देखकर चले[१२]।

वशिष्ठ धर्मसूत्र[१३] और शंखधर्मसूत्र[१४] के अनुसार यतिको गाँवसे बाहर रहना चाहिये तथा एक स्थानसे दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिये, केवल वर्षाके मौसममें ही वह एक स्थान पर ठहर सकता है। मिताक्षर (याज्ञवल्क्य (3.57) द्वारा उद्धृत शंखके वचनसे पता चलता है कि संन्यासी वर्षा ऋतुमें एक स्थान पर केवल दो मास तक रुक सकता है। जैन आचार शास्त्र आचारांगके द्वितीय श्रुतस्कन्धकी प्रथम चूलाके द्वितीय अध्ययनमें इस विषयकी सुन्दर विवेचना उपलब्ध है। यहाँ कहा गया है कि वर्षाऋतुके आगमन होने पर भिक्षु या भिक्षुणी को किसी निर्दोष स्थान पर वर्षावास (चातुर्मास) करके ठहर जाना चाहिये।

वैदिक धर्मशास्त्रोंके अनुसार यतिको न तो भविष्यवाणी करके, शकुनाशकुन बतलाकर, ज्योतिषका प्रयोग करके, विद्या, ज्ञान आदिके सिद्धान्तोंका उद्घाटन करके और न विवेचन करके भिक्षा मांगनेका प्रयत्न करना चाहिये।[१५] जैनागम आचारांगके द्वितीय श्रुतस्कन्धकी प्रथम चूलाके पिण्डैषणा नामक प्रथम अध्ययनमें भिक्षु-भिक्षुणीकी पिण्डैषणा-आहारकी गवेषणाके विषयमें विधि-निषेधोंका निरूपण है। उत्तराध्ययन[१६]में कहा गया है कि जो साधक विभिन्न प्रकारकी विद्याओं जैसे स्वप्न, लक्षण, दण्ड, अंगस्फुरणादि के द्वारा जीविका नहीं करता वही सच्चा भिक्षु है।

वैदिक धर्मसूत्रकारोंके अनुसार यतिको अपमानके प्रति उदासीन रहना चाहिए। यदि कोई उसके प्रति क्रोध प्रकट करे तो क्रोधावेशमें नहीं आना चाहिए। यदि कोई उसका बुरा करे तो भी उसे कल्याणप्रद शब्दोंका ही उच्चारण करना चाहिये और कभी भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये[१७]। जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार शास्त्रोंमें भी मुनिके लिए सत्य नामक महाव्रत बतलाया गया है। इसको संक्षेपमें कहा जाये तो भिक्षुको क्रोधादि कषायोंका परित्याग कर, समभाव धारण कर विवेकपूर्वक संयमित सत्य भाषाका प्रयोग करना चाहिये।

गौतम धर्मसूत्रके अनुसार[१८] संन्यासीको ब्रह्मचारी होना चाहिये और सदा ध्यान एवं आध्यात्मिक ज्ञानके प्रति भक्ति रखनी चाहिये। जैनागम उत्तराध्ययन सूत्रके छब्बीसवें अध्ययनके प्रारम्भमें श्रमणकी सामान्य चर्या रूप सामाचारीके विषयमें वर्णन किया गया है जिसके अनुसार मुनिको दिन को चार भागोंमें विभक्त कर अपनी दिनचर्या सम्पन्न करनी चाहिए। उसे दिनके प्रथम प्रहरमें मुख्यतः स्वाध्याय, द्वितीयमें ध्यान, तृतीयमें भिक्षाचर्या तथा चतुर्थमें फिर स्वाध्याय करना चाहिये। इससे प्रतीत होता है कि श्रमणकी दिनचर्यामें अध्ययनका सर्वाधिक महत्त्व है इसके बाद ध्यानको महत्त्व दिया गया है।

संन्यासीके ब्रह्मचर्य व्रतके विषयमें वैदिक धर्मसूत्र ग्रन्थोंकी भाँति जैनागमोंमें भी वर्णन मिलता है। उत्तराध्ययनके 16वें अध्ययनमें तथा प्रश्नव्याकरण सूत्रमें विविध उपमाओंके द्वारा ब्रह्मचर्यकी महिमा और गरिमा गायी गयी हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्रके अनुसार (1·9·21) संन्यासीको भिक्षा से ही प्राप्त भोजन करना चाहिये। उत्तराध्ययन (35·15)के अनुसार भिक्षुको भिक्षावृत्तिसे ही भोजन प्राप्त करना चाहिये, विक्रय से नहीं।

वैदिक धर्मसूत्रकारोंके अनुसार मुनिकी आचार संहितामें कहा गया है कि संन्यासीको सदा अकेले घूमना चाहिये, नहीं तो मोह एवं विछोह से वह पीडित हो सकता है। दक्षस्मृतिमें (7·34·38) इस बात पर यों बल दिया गया है कि वास्तविक संन्यासी अकेला रहता है, जब दो एक साथ टिकते हैं तो दोनों का एक जोडा हो जाता है और जब तीन एक साथ टिकते हैं तो वे ग्रामके समान हो जाते हैं और यदि तीनसे अधिक एक साथ टिकते हैं तो वे नगर के समान हो जाते हैं। जैनागम आचारांगके प्रथम श्रुतस्कन्धके पंचम अध्ययनके प्रथम उद्देशकमें एकलविहारीको अमुनि कहा गया है लेकिन यह विषय–वासना एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतिकी विषमता के कारण पृथक् हुए साधु की अपेक्षा से कहा गया है, न कि सभी साधुओं के लिए। कुछ साधक अकेले रह कर भी अपना आत्मविकास करते हैं और आगमकार भी उन्हें अकेले विचरने की आज्ञा देते हैं। दशाश्रुत-स्कन्ध सूत्र में एकाकी विहारी सामाचारी का विस्तार से वर्णन मिलता है।

यद्यपि वैदिक धर्मसूत्रों में वर्णित यति (संन्यासी) की आचार संहिता और जैनागमो में वर्णित मुनिकी आचार-चर्यामें काफी समानता दृष्टिगोचर होती है तथापि कुछ भिन्नतायें भी दृष्टिगोचर होती है यथा—

वैदिक गौतमधर्मसूत्र[१९], बोधायन धर्मसूत्र[२०] और आपस्तम्बधर्मसूत्र[२१]में बतलाया गया है कि केवल वैदिक मन्त्रोंके जपको छोड कर यतिको साधारणतः मौन ही रहना चाहिये। यहाँ वैदिक मन्त्रोंका जाप करना वैदिक धार्मिक भावनाका प्रतीक है।

वशिष्ठ धर्मसूत्र[२२] अनुसार संन्यासीको अपने नाखून, बाल एवं दाढी कटा लेनी चाहिये किन्तु गौतमने[२३] विकल्प भी दिया है अर्थात् वह चाहे तो मुण्डित रहे या जटा रखे। जैनागम कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प) के सामाचारी नामक अन्तिम प्रकरणमें यह उल्लेख है कि पर्युषणाके बाद अर्थात् वर्षा ऋतुके पचास दिन व्यतीत होने पर निर्ग्रन्थ–निर्ग्रन्थीको सिर पर गो-लोम-प्रमाण अर्थात् गायके बाल जितने केश भी नहीं रखने चाहिये। कैंचीसे अपना मुण्डन करानेवालेको एक महीनेमें तथा लोंचसे मुण्ड होनेवालेको (हाथोंसे बाल उखाड कर अपना मुण्डन करनेवालेको) 6 महीनेमें मुण्ड होना चाहिये।

वैदिक धर्मसूत्रके अनुसार[२४] तपस्वियोंके लिये चार प्रकारकी क्रियायें हैं– ध्यान, शौच, भिक्षा एवं एकान्तशीलता (सदा अकेले रहना)। नारदके अनुसार यतियोंके लिए 6 प्रकारके कार्य राजदण्डवत् अनिवार्य माने गये हैं–१ भिक्षाटन २. जप ३. ध्यान, ४. स्नान ५. शौच एवं ६. देवार्चन।

जैनागममें मुनि आचारचर्यामें षडावश्यकका वर्णन किया गया है और उनके नाम इस प्रकार बतलाये गये हैं–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। ये 6 क्रियाएं श्रमणको प्रतिदिन दोनों समय अवश्य करनी होती है।

वैदिक धर्मसूत्राकारोंने संन्यासियोंके आह्निक कृत्योंके विषयमें कुछ विशिष्ट नियम (आचार) निर्मित किये हैं जिसके अनुसार उन्हें शौच, दन्तधावन स्नान आदि गृहस्थोंकी भाँति ही करने चाहिये। वशिष्ठ धर्मसूत्र (4·11) विष्णु धर्मसूत्र (60·26), शंख धर्मसूत्र(16·23–24) का कहना है कि संन्यासी को गृहस्थों के समान ही क्रम से तीन एवं चार बार शौच कर्म (शरीरशुद्धि) करना चाहिये।

भगवान महावीर ने साधुओं के लिए प्रत्येक परिस्थिति में स्नान का स्पष्ट निषेध किया है। स्नान के सम्बन्ध में कोई अपवाद नहीं रखा। उत्तराध्ययन[२५] आचारचूला[२६], सूत्राकृतांग[२७], दशवैकालिक[२८] आदि में श्रमणों के लिए स्नान न करने का वर्णन है।

वैदिक धर्मसूत्र ग्रन्थों के अनुसार[२९] संन्यासी (यति) को अपना गुप्तांग ढकने के लिए वस्त्र धारण करना चाहिये। उसे अन्य लोगों द्वारा छोडा हुआ जीर्ण-शीर्ण किन्तु स्वच्छ वस्त्र पहनना चाहिये। धर्मसूत्रकार वशिष्ठ के अनुसार[३०] संन्यासी को अपने शरीर को वस्त्र के टुकडेसे अर्थात् शाटी (गात्रिका) से ढकना चाहिये या मृगचर्म या गायों के लिये काटी गई घास से। जैन आगम ग्रन्थोंके अनुसार[३१] कोई मुनि तीन वस्त्र रखता है, कोई दो, कोई एक और कोई निर्वस्त्र रहता है। यह आचार की भिन्नता शारीरिक संहनन, धृति आदि हेतुओं से होती है।

यज्ञ वैदिक संस्कृति की प्रमुख मान्यता रही है। वैदिक दृष्टि से यज्ञकी उत्पत्तिका मूल विश्वका आधार है। पापोंके नाशके लिये, शत्रुओं के संहार के लिये, विपत्तियों के निवारण के लिये, राक्षसोंके विध्वंसके लिये, व्याधियों के परिहारके लिये यज्ञ आवश्यक माने गये हैं। संन्यास आश्रममें प्रवेश करनेके लिये व्यक्तिको "प्रजापति यज्ञ" करनेका विधान विभिन्न धर्मसूत्रोंमें बतलाया

14. Seminar on Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है[३२]। जैन आगममें यज्ञका विरोध किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्रके नौवें, बारहवें, चौदहवें और पच्चीसवें अध्ययनोंमें यज्ञका विरोध किया गया है और इसका कारण बताते हुये कहा गया है कि इसमें जीवोंकी हिंसा होती है।

वैदिक धर्मसूत्र ग्रन्थोंमें यतिधर्मके आचारोंका नाम विशेष नहीं पाया जाता है जैसा कि जैन आगम ग्रंथोंमें पाया जाता है। आचारांग सूत्रमें मुनि-धर्मके पांच आचारोंका वर्णन मिलता है—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार।

इस प्रकार उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि यतिधर्म एवं अनागार धर्मके अनेकों आचार वैदिक धर्मसूत्र ग्रन्थों एवं जैन आगम ग्रन्थोंमें समान रूपसे पाये जाते हैं। वैदिक धर्मसूत्रकारों एवं स्मृतिकारोंने आचारकी विवेचना केवल संहिताके रूपमें की है जब कि जैन आगमोंमें आचारकी विवेचना सूक्ष्म से सूक्ष्मतम रूप से की गयी है।

---

१. मनुस्मृति 1-108
२. अंगाणं किं सारो ? आयारो। – नन्दीसूत्र, 40 में उद्धृत
३. गौतम धर्मसूत्र 3·13 एवं 20
४. वशिष्ठ धर्मसूत्र 10·21–22 एवं 25
५. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2·4·9·13
६. बोधायन धर्मसूत्र 2·10·58
७. आचारो, द्वितीय अध्ययन, पंचम उद्देशक, सूत्र 113
८. आयारो, लोकसार (पंचम अध्ययन) चतुर्थ उद्देशक, सूत्र 80.
९. लघु विष्णु धर्मसूत्र, 4·29–30
१०. शंख धर्मसूत्र 7·7
११. विष्णु धर्मसूत्र 96·14–17
१२. आयारो, लोकसार (पञ्चम अध्ययन) चतुर्थ उद्देशक, सूत्र 69
१३. वशिष्ठ धर्मसूत्र 10·12–15
१४. शंखधर्मसूत्र 7·6
१५. मनुस्मृति 6·50–51

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. उत्तराध्ययन 15.7
१७. गौतम धर्मसूत्र 3.23 मनु. 6.40–48, याज्ञ. 3.61
१८. गौतम धर्मसूत्र 3.11,
१९. गौतम धर्मसूत्र, 3.16
२०. बोधायन धर्मसूत्र, 2.10.79
२१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.9.21.10
२२. वशिष्ठ धर्मसूत्र 10.6
२३. गौतम धर्मसूत्र 3.21
२४. अपार्कस्मृति पृ. 952
२५. उत्तराध्ययन 2.9, 15.8
२६. आचारचूला 2.2.2.1, 2.13
२७. सूत्रकृतांग 1.7.21.22, 1.9.13
२८. दशवैकालिक अध्ययन 6, गाथा 60–61
२९. गौतम धर्मसूत्र 3.17–18, आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.9.21.11–12
३०. वशिष्ठ धर्मसूत्र 10.9–11
३१. आयारो, षष्ठ अध्ययन, तृतीय उद्देशक, सूत्र 65
३२. विष्णु धर्मसूत्र 96.1, शंख धर्मसूत्र 7.1.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त : स्वरूप और विधि

डॉ. पुष्पलता जैन, नागपुर

प्रायश्चित्त साधक और साधना की विशुद्धि से सम्बद्ध, आंतरिक चेतना से उद्भूत एक पवित्र आभ्यन्तर तप है जो किसी चारित्रिक दोष से मुक्त होने के लिए किया जाता है। साधना की निश्छलता और अकृत्रिमता साधक की अन्यतम विशेषता है। यह विशेषता यदि किसी भी कारणवश खंडित होती है तो साधक पवित्र मन से उसे स्वीकार कर पुनः अपनी स्वाभाविक स्थिति में वापिस पहुँच जाता है। वापिस जाने की इसी प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा जाता है प्रमादजन्य दोषों का परिहार, भावों की निर्मलता, निःशल्यत्व, अव्यवस्था-निवारण, मर्यादा का पालन, संयमकी दृढता, आराधना सिद्धि आदि उद्देश्य प्रायश्चित्त की पृष्ठभूमि में होते हैं।[1]

आचार्यों ने प्रायश्चित्त के संदर्भ में प्रायः के चार अर्थ किये हैं (१) अपराध (२) लोक (३) प्राचुर्य और (४) तपस्या। अकलंक[2] और धर्मसंग्रहकार[3] ने 'प्रायः' का अर्थ अपराध करके प्रायश्चित्त को अपराध शोधन का एक साधन माना है। धवला[4] में इसे लोकवाचक मान ऐसी प्रक्रिया का रूप कहा गया है जिससे साधर्मी और संघ में रहनेवाले लोगों का मन अपनी ओर से विशुद्ध हो जाये। प्राचुर्य अर्थ होने पर इसका तात्पर्य है-चित्त की अत्यंत निर्विकार अवस्था[5] और जब उसका अर्थ तपस्या होता है तब प्रायश्चित्त का संबंध तपस्या से संयुक्त चित्त हो जाता है।[6]

जैनाचार्यों ने प्रायश्चित्त के अर्थ को निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि से भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। निश्चयनय में प्रायश्चित्त का ऐसा उत्कृष्ट स्वरूप प्रतिध्वनित होता है जिसमें साधक ज्ञानस्वरूप आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का बार बार चिंतन करता है और विकथादि प्रमादों से अपना मन विरक्त कर लेता है।[७] जब साधक प्रमादजन्य अपराधका परिहार कर देता है तब वह प्रायश्चित्त के व्यवहारिक रूप को अंगीकार कर लेता है।[८] प्रायश्चित्त के ये दोनों रूप आध्यात्मिक साधना के लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं। मूलाचार (गाथा 363) में प्रायश्चित्त के लिए कुछ पर्यायवाची शब्द दिये हैं :– प्राचीन कर्म-क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुच्छन, उत्क्षेपण और छेदन। ये नाम भी प्रायश्चित्त के विविध रूपों को अभिव्यक्त करते हैं।

प्रायश्चित्त का सांगोपांग वर्णन छेदसूत्र, व्यवहारसूत्र, निशीथ, जीत-कल्प, मूलाचार, भगवतीआराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों में उपलब्ध होता है। अंगों में यद्यपि छुट–पुट उल्लेख मिलते हैं पर उनका व्यवस्थित वर्णन दिखाई नहीं देता।

प्रायश्चित्त को जैनधर्म में तप का सप्तम प्रकार अथवा आभ्यंतर तप का प्रथम प्रकार माना जाता है। बारह तपों के प्रकारों में बाह्य तप के तुरंत बाद आभ्यन्तर तप का वर्णन हुआ है जिसका प्रारंभ–प्रायश्चित्त से होता है। इसका तात्पर्य यह माना जा सकता है कि आचार्यों की दृष्टि में विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग की आधारशिला प्रायश्चित्त माना गया है यही उसका महत्त्व है क्योंकि अपने अपराध की निश्छल स्वीकृति साधक की आंतरिक पवित्रता की प्रतिकृति हैं और जो ऋजु भाव से अपने अपराधोंकी आलोचना करता है वही प्रायश्चित्त के योग्य है।

प्रायश्चित्त की परिधि और व्यवस्था स्वयंकृत अपराधों के प्रकारों पर निर्भर रहा करती है। इसी आधार पर आचार्यों ने इसे दस भेदों में विभाजित किया हैं। मूलाचार (गाथा, ३६२) के अनुसार ये दस भेद हैं आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान। भगवती सूत्र (२५.७) तथा स्थानांग सूत्र(१०) में अंतिम दो भेद परिहार और श्रद्धान के स्थान पर अनवस्थाप्य और पारांचिक का उल्लेख है। मूलाचार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा धवला (१३.५.४.२६.११) चारित्रसार(पृ.१३७)अनगारधर्मामृत(७३७) आदि ग्रंथों में देखी जा सकती है। उमास्वातिने कुछ परिवर्तन के साथ नव भेद ही माने हैं। उन्होंने मूल को छोड दिया है और श्रद्धान के स्थान पर उपस्थापनाको स्वीकार किया है। ठाणंग (८.३, सूत्र ६०५)ने अनवस्थाप्य और पारांचिक छोडकर कुल आठ भेद माने हैं। उसी में अन्यत्र (१०.३,सूत्र ७३३) यह संख्या भगवती जैसी दस भी मिलती है। ठाणंग (४.१ सूत्र २६३) प्रायश्चित्त के मात्र चार भेदों का उल्लेख भी करता है – ज्ञान, दर्शन, चारित्र और व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त (गीतार्थ मुनि द्वारा पापविशोधक कृत्य)। यहीं उसके चार अन्य प्रकार भी दृष्टव्य हैं–प्रतिसेवना (प्रतिषिद्ध का सेवन करना) २. प्रायश्चित्त (एक जातीय अतिचारों की शुद्धि करना) ३. आरोपना प्रायश्चित्त (एक ही अपराध का प्रायश्चित्त बार बार लेना) ४. परिकुंचना प्रायश्चित्त (छिपाये अपराध का प्रायश्चित्त लेना)। भगवतीसूत्र (२५.७) में यह संख्या बढकर पचास तक पहुँच गयी है–दस प्रायश्चित्त, दस प्रायश्चित्त देने वाले के गुण, दस प्रायश्चित्त लेनेवाले के गुण, प्रायश्चित्त के दस दोष और प्रतिसेवना के दस कारण।

प्रायश्चित्त का यह सारा वर्गीकरण कदाचित् व्यक्ति के परिणाम और उसकी मनोवृत्ति पर आधारित रहे हैं। उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो सकता है। आचार्यों ने अपराधों की संख्या को सीमित करने की अपेक्षा प्रायश्चित्त को सीमित करके उसे दस भेदों में वर्गीकृत कर दिया है जिनके आधार पर साधक अप्रशस्त भावों से मुक्त होकर प्रशस्त भावों में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है।

१. आलोचना

निष्कपट भाव से प्रसन्नचित्त आचार्य के समक्ष आत्म–दोषों को अभिव्यक्त करना आलोचना है।[९] आलोचना करके साधक पुनः पूर्वस्थिति में पहुँच जाता है। सच्चा आलोचक वही हो सकता है जो जाति, कुल, विनय, ज्ञान,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन, चारित्र, क्षांति, दांति, निष्कपटता और अपश्चात्तापता गुणों से आभूषित हो।[१०] इसी तरह आलोचना ऐसे साधुओं के समक्ष की जाती है जो बहुश्रुत हों, आचार्य या उपाध्याय हों तथा आठ गुणों से संयुक्त हों—आचारवान्, आधारवान् (अतिचारों को समझने वाला), व्यवहारवान्, अपव्रीडकर (आलोचक साधु की शर्म को दूर करनेवाला), प्रकुर्वक (अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ), अपरिस्रावी (आलोचक के दोषों को प्रकट न करनेवाला), निर्णायक (असमर्थ साधुको क्रमिक प्रायश्चित्त देनेवाला) और अपायदर्शी (परलोक आदि का भय दिखानेवाला।[११]

आलोचना करनेवाला साधु यदि यथार्थ साधुत्व से दूर होगा, मायावी होगा तो वह आलोचना इन आठ कारणों से करेगा—१. अपमान अथवा निन्दा से बचने के लिए, २. तुच्छ जाति के देवों में उत्पन्न होने से बचने के लिए, ३. निम्न मानव कुल में उत्पन्न होने से बचने के लिए, ४. विराधक समझे जाने का भय, ५. आराधक होने की आकांक्षा, ६. आराधक न होने का भय, ७. आराधक होने का मायाचार और ८. मायावी समझे जाने का भय। इसी प्रकार आगमों में ऐसे भी कारणों का उल्लेख आता है जिसके कारण मायावी आलोचना—प्रतिक्रमण नहीं करते : १. अपराध करने पर पश्चात्ताप की क्या आवश्यकता, २. अपराध से निवृत्त हुए बिना आलोचना की क्या उपयोगिता, ३. अपराध की पुनः प्रवृत्ति, ४. अपयश (चतुर्दिशाओं में व्याप्त), ५. अपकीर्ति (क्षेत्रीय बदनामी) ६. अपनय (सत्कार न होना), ७. कीर्ति पर कलंक का भय और ८. यश कलंकित होने का भय। मायावी साधक इन कारणों से पश्चात्ताप नहीं करता। वह मन ही मन पश्चात्ताप रूपी आग में जलता रहता है, चारित्रिक पतन से अपमानित होता है और मरकर दुर्गति में जाता है।[१२]

आलोचना निर्दोष होनी चाहिए। उसमें किसी भी तरह का छलकपट न हो। भगवतीआराधना (२५.७) ठाणंग (१०.७३३), तत्त्वार्थराजवार्तिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(९.२२.२) आदि ग्रंथों में आलोचना के दस दोषों का उल्लेख मिलता है : १. प्रायश्चित्त के समय आचार्य को उपकरण आदि देना ताकि प्रायश्चित्त थोडा मिले–आकंपयित्ता। २. अनुमान लगाकर अथवा दुर्बलता आदि का बहाना कर प्रायश्चित्त लेना–अणुमाणइत्ता। ३. दूसरों के द्वारा ज्ञात दोषों को प्रकट कर देना और अज्ञात दोषों को छिपा लेना–दिट्ठं। राजवार्तिक में इसी को मायाचार कहा है। ४. केवल स्थूल दोषों को कहना–बायरं। ५. सूक्ष्म दोषों को कहना- सुहुमं। ६. उसी दोष में निमग्न साधु से आलोचना करना–तस्सेवी। ७. एकांत स्थान में धीरे–धीरे आलोचना करना–छन्न!। ८. प्रशंसा अथवा पापभीरूता को प्रदर्शित करने के उदेश्य से भीड के समक्ष आलोचना करना–बहुजण। ९. अजानकार के समक्ष आलोचना करना (अव्वत्त) और १०. उच्च स्वर से कहना–सद्दाउलय। अंतिम चार दोषों के स्थान पर तत्त्वार्थराजवार्तिक में निम्नलिखित चार दोषों की गणना की गयी है–१. प्रायश्चित्त जानकर आलोचना करना, २. कोलाहल में आलोचना करना, ३, गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्यित्त की आगम विहितता की जानकारी करना. ४. अपने दोष का संवरण करना। इन दोषों से मुक्त होकर निष्कपट वृत्ति से अबोध बालक की तरह सरलतापूर्वक दोष निवेदन करने में इस प्रकार के दोषों से साधक मुक्त हो जाता है।

ग्रंथों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि साधु और आर्यिका के आलोचना प्रकार में आचार्यों ने कुछ अंतर रखा है। उदाहरण के तौर पर साधु की आलोचना तो एकांत में आलोचक और आचार्य इन दो की उपस्थिति में हो जाती है पर आर्यिका द्वारा आलोचना सार्वजनिक स्थान में तीन व्यक्तियों की उपस्थिति में ही होती है।[१३]

प्रशस्त भावों में केन्द्रित होने के लिए आत्मालोचन कदाचित् सर्वोत्तम साधन माना जा सकता है क्योंकि साधक उसके माध्यम से आत्मस्थ हो जाता है। आचार्य अकलंक ने आलोचना की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—" लज्जा और परतिरस्कार आदि के कारण दोषों का निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता है तो अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब न रखनेवाले कर्जदार की तरह दुःख का पात्र होना पडता है। बड़ी भारी दुष्कर तपस्यायें भी आलोचना के बिना उसी तरह इष्टफल नहीं दे सकतीं जिस प्रकार विरेचन से शरीर की मलशुद्धि किये बिना खाई गई औषधि। आलोचन कर के भी यदि गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह बिना संवारे धान्य की तरह महाफलदायक नहीं हो सकता।[१४]

. . प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण का तात्पर्य है वापिस लौटना। अर्थात् अशुभ योग से शुभ-योग में, 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' मानकर प्रवृत्त हो जाना, आत्मगुण में लौट जाना[१५] आवश्यक निर्युक्ति (१२३३–१२४४) तथा आवश्यक चूर्णि में प्रतिक्रमण के निम्न पर्याय सोदाहरण मिलते हैं—प्रतिक्रमण, परिहरण, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि। इनसे प्रतिक्रमण के भिन्न–भिन्न आयामों पर प्रकाश पडता है। दोषों के पीछे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच विशेष कारण होते हैं। इनसे मुक्त होने के लिए साधक अपने दोषों का प्रतिकार करता है। क्षायोपशमिक भावों से औदयिक भाव में जाना और फिर औदयिक से क्षायोपशमिक में वापिस आ जाना यही प्रतिक्रमण है। इसलिए विषय के भेद से प्रतिक्रमण पांच प्रकार का माना जाता है आस्रवद्वार प्रतिक्रमण, मिथ्यात्व प्रतिक्रमण, कषाय प्रतियोग प्रतिक्रमण, भावप्रतिक्रमण, अविरति और प्रमाद का समावेश आस्रवद्वार में हो जाता है।[१६]

प्रायश्यित्त और प्रतिक्रमण में अंतर यह है कि प्रायश्चित्त आचार्य के समक्ष लिया जाता है पर प्रतिक्रमण में आचार्य की आवश्यकता नहीं होती है। उसे साधक स्वयं प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल कर सकता है। षडावश्यकों में उसे स्थान देकर आचार्यों ने उसकी महत्ता को प्रदर्शित किया हैं। इसमें साधक भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करता है, वर्तमानकालमें लगने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले दोषों से संवर द्वारा बचता है और प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को रोकता है।

अपराध छोटा होने पर भी प्रतिक्रमण किया जाता है। भावपाहुड (७९) में ऐसे छोटे अपराधों का उल्लेख किया है जैसे–छहों इन्द्रियों तथा वचनादिक का दुष्प्रयोग, अपना हाथ–पैर आचार्य को लग जाना, व्रत–समिति आदि में दोष आ जाना, पैशून्य तथा कलह करना, वैय्यावृत्य–स्वाध्यायादि में प्रमाद करना आदि।

पडिक्कमणावस्सयं में भी एक लम्बी सूचि दी है जिससे साधक मुनिको बचना चाहिए–स्थूल–सूक्ष्म–हिंसा–गमन दोष, आहार दोष, शल्य, मनवचन-काय–दोष, कषाय, मद, अतिचार, समिति–गुप्ति–दोष, सत्रह प्रकारका असंयम, १८ प्रकार का अब्रह्मचर्य, २० असमाधिस्थान, २१ सबल, ३३ आसायतन आदि।

यह प्रतिक्रमण व्रत–रहित स्थिति में भी आवश्यक बताया है। यह शायद इसलिए कि अव्रती साधक का भी झुकाव व्रत की ओर रहता ही है। चारित्र-मोहनीय का विशिष्ट क्षयोपशम न होने से व्रत ग्रहण करने में वह कमजोरी महसूस करता है, पर व्रत धारण करने की शुभ प्रतीक्षा तो वह करता ही है। इससे व्रतधारियों के प्रति सम्मान का भाव बढता है तथा व्रत पालन की दिशा में भी आगे आता है।

सामान्य रूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है–द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। उपयोग रहित सम्यक् दृष्टि का प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण है। मुमुक्षु के लिए भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है। कर्मों का निर्जरा–रूप वास्तविक फल भावप्रतिक्रमण से ही होता है। वर्तमान में लगे दोषों को दूर करना और भविष्यमें लगनेवाले दोषों को न होने देने के लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण का मुख्य उद्देश्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचाशक में दस कल्पोंका वर्णन मिलता है जिनमें प्रतिक्रमण भी है। कल्प का तात्पर्य है साधुओं का अनुष्ठान विशेष अथवा आचार।[१७]

३. तदुभय

कुछ दोष आलोचना मात्रसे शुद्ध होते हैं, कुछ प्रतिक्रमण से तथा कुछ दोनों से शुद्ध होते हैं, यह तदुभय है। जैसे एकेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श, दुःस्वप्न देखना, केशलुंचन, नखच्छेद, स्वप्नदोष, इन्द्रिय का अतिचार, रात्रि-भोजन आदि।[१८]

४. विवेक

विवेक का तात्पर्य है त्याग। आधाकर्म आदि आहार आ जाने पर उसे छोड देना विवेक प्रायश्चित्त है।

५. व्युत्सर्ग

नदी, अटवी आदि के पार करने में यदि किसी तरह का दोष आ जाता है तो उसे कायोत्सर्गपूर्वक विशुद्ध कर लिया जाता है। अनगारधर्मामृत तथा भावपाहुड में एसे अपराधों की एक लम्बी सूचि दी है जिसके लिए व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त करना आवश्यक माना गया है। इसे कायोत्सर्ग भी कहा जाता है। इसमें श्वास का नियमन कर समता का भावन किया जाता है। इससे अनासक्ति और निर्भयता का विकास होता है जो आत्मसाधना के लिए आवश्यक है।[१९]

६. तप

अनशन, अवमोदर्य आदि तप हैं। यह तप प्रायश्चित्त सशक्त और सबल अपराधी को दिया जाता है। बार-बार अपराध करने पर चिर प्रव्रजित साधु की अमुक दिन, पक्ष और माह आदि की दीक्षा का छेद करना छेद है। इससे साधु व्यवहारतः अन्य साधुओं से छोटा हो जाता है। मूल प्रायश्चित्त उसे दिया जाता है जो पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और स्वच्छन्द हो जाता है अथवा उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार, उपकरण, वसति आदि का ग्रहण करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जिन गुरुतर दोषों से महाव्रतों पर आघात होता है उनके होने पर दीक्षा-पर्याय का पूर्णतया छेदन कर दिया जाता है और पुनः दीक्षा दे दी जाती है।[२०] इसी को उमास्वातिने—उपस्थापना कहा है। अनवस्थाप्य परिहार में विशिष्ट गुरुतर अपराध हो जाने पर साधक को श्रमण संघ से निष्कासित कर गृहस्थ वेश धारण करा दिया जाता है, बाद में विशिष्ट तप आदि करने के उपरांत पुनः दीक्षा दी जाती है। पारांचिक परिहार में छह माह से बारह वर्ष तक श्रमण संघ से निष्कासित किया जाता है। यह प्रायश्चित्त उस मुनि को दिया जाता है जो तीर्थंकर, आचार्य, संघ आदि की झूठी निन्दा करता है, विरुद्ध आचरण करता है, किसी स्त्री का शीलभंग करता है, वध की योजना बनाता है अथवा इसी तरह के अन्य गुरुतर अपराधों में लिप्त रहता है।

इन प्रायश्चित्तों के माध्यम से साधक अपना अंतर्मन पवित्र करता है और वह पुनः सही मार्ग पर आरूढ हो जाता है। यहां यह आवश्यक है कि व्रतों में अतिचार आदि दोष आ जाने पर तुरंत उसका प्रायश्चित्त ले लेना चाहिए अन्यथा उसका विस्मरण हो जाता है और फिर वह संस्कार सा बनकर रह जाता है। जो भी हो, प्रायश्चित्त अध्यात्म यात्रा की एक सीढ़ी मानी जा सकती है जिस पर चढकर साधक अपनी साधना में निखार लाता है और अपराधों से बचकर अपनी तपस्या को विशुद्ध कर लेता है।

टिप्पणी

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९.२२

२. प्रायः साधुलोकः। प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्...अपराधो वा प्रायः। चित्तशुद्धिः प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम्। अपराधविशुद्धिरित्यर्थः, वही ९.२२

३. प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्, चर्मसंग्रह ३; पावं छिंदइ जम्हा प्रायच्छित्त त्ति भण्णइ तेण, पंचाशक सटीक विवरण, १६.३

४. प्रायः इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनोभवेत्।

५. तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ १३.५ ४.२६.९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. पद्मचन्द्र कोष, पृष्ठ २५८
७. नियमसार, ११४
८. सर्वार्थसिद्धि, ९.२०
९. भगवतीसूत्र, २५.७ टीका; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९.२१.२
१०. वही, २५.७
११. ठाणंग ८.३.६०४
१२. ठाणंग, ८.३.५८७
१३. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक ९.२२.२
१४. वही, ९.२२.२
१५. स्वस्थानात् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतम् । तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥
१६. ठाणंग ५.३-४६७
१७. जैन बोल संग्रह, भाग ३, पृ. २४०, मूलाचार (गाथा ९०९); पंचाशक, १७, गाथा ६.४०.
१८. अनगारधर्मामृत, ७.५३
१९. तत्त्वार्थराजवार्तिक ९.२६.
२०. धवला, १३.५.४.२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

MOKṢOPĀYA IN JAIN CANONICAL LITERATURE AND PRINCIPAL UPANIṢADS

Yashodhara Wadhwani Shah, Pune.

Mutual comparison and contrast of all ideas expressed in the Upaniṣads is, by itself, the topic of a full-fledged book (vide my paper published in *Sambodhi* 2.2, 1973). But one may note here in brief that while all texts in the Jaina canon at least have a common religious doctrine at their base, which provides sufficient ground for harmonization, such is not the case with the Up. s. They rather represent individual mystic reflections and sporadic subjective intuitions of various thinkers as a result of their search across diverse individual experiences and phenomenal forces for a common and lasting underlying substratum, if any.

As a result, we often find the teachings of different sages at variance with each other: nay, even with a single sage, his ideas may or may not have been fully crystalized and properly formulated into words, so that it becomes very difficult at times to find a certain underlying linkage or unity in his teachings.

Since this is not the case with the Jaina canon, which does present a well-formulated though complex doctrine, could this be the ground for fixing their relative chronology ? (vide H. Jacobi, 1884, Intro., p. 22 ff).

Well, even if it could, it need not be attempted here. For, that would involve going to the origins; and, as pointed out by Dixit (72 : 5); " An enquiry into the origins of Jainism is a matter of much controversy and much idle speculation.." And while the writing of śvetāmbara canons may not date earlier than the 5th century, their teachings, which started much earlier before Mahāvira, could well have grown and developed side by side with those of the Up.s; not rejecting the possibility of borrowings on either side.

For, despite the basic difference that Jainism belongs to the anti-vedic Śramaṇa cult of mendicants while Up. s. profess an allegiance to the Vedic cult of house-holders, a serious and unbiased

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

scrutiny does reveal in them a silent imperceptible revolution (–not an open revolt–), gradually denying importance to the external intricacies of vedic rituals and replacing them by mental meditations (*upāsanās*), aimed at increasing awareness of the inner significance and essence of experienced phenomena. (vide Wadhwani : 1985–6).

We shall here restrict ourselves to similarities concerning bondage and the means of liberation (and avoid other details, to avoid undue length).

Bondage : In a vein somewhat similar to the Jaina concept of *mithyātva* we find *ignorance* being regarded the cause of the soul's subjection to an embodied state and to repeated death (ch. 8.3.2; BA. 4.4.19; Kaṭho. 4.11; 5.14)... Delusion (along with powerlessness) is blamed for the suffering of the soul in Śvet. 4.7 (*aniśayā śocati muhyamānaḥ*). This is normally connected with *moha* as the characteristic of *tamoguṇa* in Sāṅkhya thought, but it can also have a remote connection with the effect of *mohanīya karma* in *jainism.*

BA. 4.4. 2-6 tell us that at the time of death, the soul is accompanied by the life-breath, the cognitive organs (including mind) and its deeds; Kaṭho. 5.7 also talks of souls going to new abodes as per their deeds and their knowledge (cf. here śvet. 4.6–7; 5.7–12). While Sāṅkhya and Vedānta developed these ideas into the concept of a *liṅga–śarīra*, they can also be compared with the Jaina concept of a *teya* and *kammaga* body accompanying the soul at death...And what is more important, while Jaina canons (*Samav.* 11 B, 145 B; *Thān.* 361 B, etc.) speak of six different colours adhering to the soul in accordance with the quality of its deeds, the two extremes of these are referred to in Mait. 2.7 (*sitāsitaiḥ karma–phalaiḥ*) (cf. here YS and YBh. 4.7 also).

Means of Liberation : " He who, having begun works characterized by the *guṇas*, (later) causes all *attachments* to fall off, (he) would, on the cessation of these, have *destroyed all the deeds* and *kṣiṇaiḥ kleśair janma–mṛtyu–prahāṇiḥ*...

These abstracts from Śvet. 6.4 and 1.11, although apparently close to the concept of *kleśas* in YS. 2.2–3 etc., do also reflect thoughts *parallel* to the Jaina concept that *kaṣāyas* are the main cause of the binding effect of *karmas*, and must therefore be totally annihilated (*kṣapita*) in order to attain freedom from rebirth.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

This however, is no easy task. We have seen what elaborate prescriptions of right knowledge and faith, along with careful conduct (manifold *saṁvara, nirjarā,* etc.) religious meditations and contemplations Jainism has prescribed for the purpose. No exact parallels to these can be claimed to occur in the Up.s. Yet we can not either ignore the fact that in BA 6.2.15 and Ch. 5.10. 1-2, travel to *brahma-loka* via *Devayāna* (the flame of fire etc.) and non-return to a new birth is prescribed for those also, who practise faith, truth and austerity (*śraddhā, satya, tapas*) in the forest. Praśno. 1.10 and 15 add to these the practice of *brahmacarya* and *vidyā.* Mait. 4.3-4 also speak of removal of sin and obtainment of *sat-tva* (similar to Jaina *samyak-tva* ?) through *tapas.* (cf. here Utt. 29,27 : *taveṇaṁ (kaṁma)vodāṇaṁ* : cutting-off of karman is done by austerity).

A cutting or breaking asunder of knots in the heart, said to render a person immortal (in Kaṭho. 6.15) may likewise have reference to emotional attachments or *kaṣāyas* of Jainism. But the preceding verse, almost similar, has given renunciation of desires as the remedy; and the same is elaborated in BA 4.4. 5-7, which says at the end that a soul, totally freed from desires, abandons his body as (painlessly as) a snake removes its dead skin. One can not help recalling here Ayar. 2(4) 16.9 : *bhujaṅgame junna-tayaṁ!*) ... Again, *sitehi bhikkhū asito parivvae* (ibid. 7, i. e. unbound by others who are bound, (the wise man) should wander as a mendicant) has a parallel in BA. 3.5.1 : *etaṁ vai taṁ ātmānaṁ viditvā brāhmaṇāḥ..bhikṣā-caryāṁ caranti.* (cf. also Āyār. 1.6.5.5 : *evaṁ se aṇihe...parivvae*),

Kaṭho. 4.2 admonishes that " the childish-mined go after outward pleasures; they (thus) walk into the snare of wide-spread death. The wise, however, recognising life eternal, do not seek the stable among things which are unstable here ". One could very clearly discern here the hint that one must constantly keep in mind the non-eternal nature of worldly things howsoever desirable they may appear. This is certainly comparable with the *aniccāṇuppehā* of Jaina canons. And *ātmā vā are śrotavyo mantavyo nidīdhyāsitavyaḥ* (in BA. 2.4.5 after declaring its unperishing nature) could form the parallel of another of the *anuprekṣās.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Also, the *anuprekṣā* on endless rebirth (unless liberation is sought) is found reflected in Mait. 1.4 : *kiṁ kāmopabhogaiḥ yaiḥ ...asakṛd ihāvartanam*...Likewise *apramāda* (non-negligence), so important in Jainism, is also stressed in Muṇḍ. 3.2.4 as well as Tait. 1.11 : *satyān na pramaditavyam. dharmān na...svādhyāya-pravacanābhyām*...etc.

Tapas, dāna, ārjava, ahiṁsā, satya-vacanam..these qualities enumerated in Ch. 3.17.4 are also found among ten-fold *dhamma* prescribed by Jaina texts as a type of *saṁvara*.

In Kaṭho 3.6.9, *vijñana* or right knowledge is said to lead to the control of senses and the mind, and lead across the road to the final goal, whereas *avijñāna* (wrong knowledge) leads to *saṁsāra*. Similarly, Ch. 6.14. 1-2 and Muṇḍ. 3.2. 2-5 also say that those imbibing the right knowledge from a preceptor, those self-controlled (*kṛtātmānah*), free from passion (*vitarāga*) and tranquil (*praśāntā*) attain the omnipresent state (*sarva-ga*) of the soul, which is the ultimate goal. (Jainism also has stressed right knowledge as a means of liberation, though insisting that it should be of the Jaina doctrine).

We can thus find many parallels in *Mokṣopāyas* prescribed in the Up.s and in Jainism, barring the numerous complicate technicalities discernible in the latter.

Abbreviations of references.

acc = according; Ayar = Āyāraṅga-sutta; Book (part), lecture, lesson, passege; BA. = Bṛhad Āraṇyaka-Up; Ch. = Chāndogya Up; Chāg. = Chāgaleya Up.; Kaṭho., Praśno., Muṇḍ. = Kaṭha, Praśna, Muṇḍaka Up; Mait. = Maitry Up. Samav = Samavāyāṅga sūtra-B'by. 1918, Folio; Śvet. = Śvetāśvatara Up; Tait. = Taittirīya Up.; TBh. = Bhāṣya on TS; TS. = Tattvārthādhigama sūtra:; Adhyāya, sūtra.; Up. = Upaniṣad; Utt. Uttarādhyayana sūtra : Adhyāya. sūtra. Uvav. = Uvavāiya-sutta (B'by. 1918) : lecture (sūtra); Viy. = Viyāha-paññatti (B'by 1919) : Folio; YBh. = Bhāṣya on YS; YS = Yoga-sūtra of Patañjali.

Select Bibliography besides the texts :

1. Dixit K. K. 1972 : Historical evaluation of Ancient Jaina texts, Sambodhi, 1.1, pp- 1, ff.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. Glassenapp H. V. 1952 : Doctrine of Karman in Jain Philosophy (Eng. Tr. by G. Barry Gifford. Ed. H. R. Kapadia) Bombay.
3. Jacobi H. 1844 : Jaina Sūtras (tr.) Pt. 1. (SBE. 22.) Oxford.
4. Jain K. C. 197› : " Jainism before Mahāvira " in J. of G. N. Jha Institute, vol. 32, pp. 103–19.
5. Kalghatgi T. G. 1969 : Jaina view of life, Sholapur.
6. Ohira Suzuko. 1982 : *A study of TS with Bhāsya*...Ahmedabad
7. Pande G. C. 1957 : *Studies in the origins of Buddhism.*
8. Schubring W. 1962 : *The doctrine of the Jainas.* Delhi (Engl. Tr. Wolfgang Beurlen)
9. Wadhwani, Y. K. 1973 : "Diversity of thought in the *Upaniṣads,* Sambodhi (2.2), Ahmedabad.
10. -do- 1985–86 : " Sacrificial ritual and the Upaniṣads, ABORI. 66 (1–4), pp. 47–61.
11. Zimmer, H. 1951 : *Philosophies of India.*
12. -do- 1951 : *Bhadrabāhu and the Śravaṇa-Belgolā kṣetra.*
13. Zydenbos, Robert J. 1983. : *Mokṣa in Jainism acc. to Umāsvāt;.* Wiesbaden.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम–साहित्य में कृष्ण कथा

डॉ. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी

जैन–परम्परा में मान्य २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव–इन ६३ विशिष्ट व्यक्तियों की गणना भरतक्षेत्र के शलाकापुरुषों–महापुरुषों के अन्तर्गत की जाती है।[1] वासुदेवों के अन्तर्गत नवमें वासुदेव के रूप में कृष्ण की प्रतिष्ठा है। ये वही कृष्ण हैं, जो हिन्दू संस्कृति में कृष्णावतार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके विविध रूपों का विवेचन हिन्दू पुराण एवं कथा साहित्य में विपुल मात्रा में उपलब्ध है। महाभारत में इनके चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है। कृष्ण एक ऐतिहासिक महापुरुष हैं, इनका चरित्र इतना लुभावना एवं लोकविश्रुत है कि उनकी मान्यता न केवल हिन्दू धर्म, अपितु अन्य धर्मों में भी समान रूप से है।

श्री कृष्ण का जन्म शौर्यपुर नगर के राजा वसुदेव की पत्नी देवकी से हुआ था।[2] वे जैन–परम्परा में मान्य वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों में बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे।[3] हिन्दू धर्म–ग्रन्थों में जिस प्रकार कृष्ण को भगवान् के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है, वैसी प्रतिष्ठा जैनागमों में नहीं मिलती है।

सामान्यतया जैन पुराणों एवं जैन कथानकों में कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का क्रमिक उल्लेख मिलता है,[4] किन्तु जैनागमों में कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध कतिपय अंशमात्र प्राप्त होते हैं। ये अंश भी वही हैं, जो प्रसङ्गवश उपस्थित हो गये हैं। अतः कृष्ण के सुसम्बद्ध जीवन की झांकी जैनागमों में दिखलाई नहीं देती है। फिर भी जैनागमों में कृष्ण का उल्लेख एक विशिष्ट पुरुष के रूप में किया गया है और उनके बहु–आयामी व्यक्तित्व की झलक अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि आगम–ग्रन्थों के क्रम से यदि कृष्ण के व्यक्तित्व का विवेचन किया जाये तो वह बिखरा–बिखरा सा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीत होता है। अतः कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध प्रसङ्ग--प्राप्त घटनाओं को क्रमशः रखकर कृष्ण के व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने का एक लघु प्रयास यहां किया जा रहा है।

आगम-साहित्य में उपलब्ध सन्दर्भों के अनुसार कृष्ण द्वारवती अथवा द्वारका नगरी में राज्य करते थे। द्वारका की रचना धनपति कुबेर ने कराई थी।[५] इस नगरी के उत्तर-पूर्व में रेवतक नामक पर्वत, नन्दन वन एवं यक्षायतन थे।[६] कृष्ण के राज्य की सीमा वैताढ्य पर्वत तक थी।[७] उनके अधीन अनेक राजा राज्य करते थे, जिनमें समुद्रविजय प्रमुख दस दशार्ह, बलदेव प्रमुख पाँच महावीर, प्रद्युम्न प्रमुख ३॥ (साढ़े तीन) करोड़ कुमार, शम्ब प्रमुख साठ हजार दुर्दान्त, महासेन प्रमुख छप्पन हजार बलवत्क (बलवीर), वीरसेन प्रमुख इक्कीस हजार वीर, उग्रसेन प्रमुख सोलह हजार राजा, रुक्मिणी प्रमुख सोलह हजार रानियाँ, अनंगसेना प्रमुख कई हजार गणिकायें तथा अन्य अनेक ईश्वर, तलवर माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह आदि प्रमुख रूप से (कोतवाल), उल्लेखनीय हैं।[८] ऊपर रुक्मिणी आदि जिन सोलह हजार रानियों का उल्लेख किया गया है, उनमें आठ पटरानियां थीं, जिनके नाम इस प्रकार है :-पद्मावती, गौरी, गांधारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा और रुक्मिणी। एक बार जब अरिष्टनेमि द्वारका आये तो कृष्ण के पूछने पर उन्होंने द्वारका के दहन की बात कही। तब कृष्ण ने घोषणा करवाई कि "जो व्यक्ति दीक्षित होगा, उसके अभिनिष्क्रमण का भार मैं वहन करुंगा" - इसे सुनकर कृष्ण की आठों पटरानियां अरिष्ठनेमि के पास दीक्षित हो गई और अन्त में उन्होंने मुक्तिलाभ प्राप्त किया।[९०]

कृष्ण की ऊँचाई एवं आयु

कृष्ण की ऊँचाई के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे दस धनुष (अर्थात् चालीस हाथ) लम्बे थे और उनकी आयु एक हजार वर्ष थी।[९१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पराक्रमी कृष्ण

कृष्ण की शारीरिक क्षमता अद्भुत थी, वे (विश्वसेन/विष्वक्सेन अर्थात् कृष्ण) योद्धाओं में श्रेष्ठ थे।[१२] उन्होंने अवरकंका में नरसिंह रूप भी धारण किया था।[१३] इसी प्रकार अप्रसन्न होकर कृष्ण ने पांच पाण्डवों को देश से निर्वासित कर दिया था,[१४] जिससे पाण्डवों ने पाण्डुमथुरा बसाई थी।[१५]

दयालु कृष्ण

कृष्ण केवल अपने पराक्रम के लिये ही प्रसिद्ध नहीं है, अपितु वे करुणा की प्रतिमूर्ति भी हैं। एक बार कृष्ण अपने परिजनों के साथ भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शन के लिये जा रहे थे, रास्ते में उन्हें एक ऐसा वृद्ध दिखलाई दिया, जो बाहर पड़ी ईंटों में से एक-एक ईंट अन्दर रख रहा था। यह देखकर कृष्ण को उस वृद्ध पर दया आ गई और उन्होंने एक ईंट उठाकर बाहर से ले जाकर अन्दर रख दीं। यह देख समस्त परिजनों ने भी एक-एक ईंट उठाकर बाहर से अन्दर रख दीं, जिससे सभी ईंटें शीघ्र ही अन्दर पहुँच गईं।[१६] इस कथानक से श्रीकृष्ण की दयालुता का परिचय मिलता है।

आज्ञाकारी पुत्र के रूप में कृष्ण

कृष्ण के छोटे भाई सुकुमाल के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि एक बार सुलसा के पुत्रों (वस्तुतः स्वयं के पुत्रों) को देखकर कृष्ण की माता देवकी के मन में विचार आया कि मेरे एक पुत्र हो तो मैं भी उसका बचपना देखूँ। जब कृष्ण माता देवकी को प्रणाम करने आये तो देवकी ने अपनी मनोगत भावना से कृष्ण को अवगत कराया। पुनः कृष्ण ने पोषधशाला में तीन उपवास कर हरिणेगमेसी देव को प्रसन्न किया और उससे एक छोटे भाई के होने का वरदान मांगा। तत्पश्चात् देवकी को पुत्र लाभ हुआ। यही पुत्र आगे चलकर दीक्षित हुआ जो गजसुकुमाल के नाम से प्रसिद्ध होकर अन्त में मुक्ति को प्राप्त हुआ।[१७] यहां कृष्ण का व्यक्तित्व एक आज्ञाकारी पुत्र के रूप में सामने आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारिवारिक दायित्व का निर्वाह

कृष्ण अपने पारिवारिक दायित्व के प्रति भी सजाग थे। इसी कारण जब कुमार अरिष्टनेमि विवाह योग्य हो गये तो कृष्ण ने अपने चचेरे भाई कुमार अरिष्टनेमि के लिये महाराजा उग्रसेन से उनकी पुत्री राजीमती की याचना की थी,[१८] किन्तु बरातियों के भोजन के लिये निरपराध पशुओं के वध की बात सुनकर जब अरिष्टनेमि ने ऊर्जयन्त पर्वत पर श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली तो कृष्ण ने बडे भाई होने के कारण कुमार अरिष्टनेमि को श्रमण-जीवन की सफलता हेतु आशीर्वाद भी दिया था।[१९]

कृष्ण का धार्मिक रूप

कृष्ण प्रत्येक प्राणी का कल्याण चाहते हैं, इसीलिये जब भगवान् अरिष्टनेमि द्वारवती में आते हैं तो वे अकेले ही भगवान् की वन्दना करने नहीं चल देते हैं, अपितु वे अपने कुटुम्बियों को बुलाते हैं और सामुदानिक भेरी द्वारा समस्त नगरवासियों को भगवान् के आगमन की सूचना देते हैं। तदनुसार अनेक राजा आदि कृष्ण की सेवा में उपस्थित होते हैं और फिर कृष्ण हाथी पर सवार होकर भगवान् की वन्दना को जाते हैं।[२०] कृष्ण का यह धार्मिक रूप निश्चय ही उनके व्यक्तित्व को उभारने में सहायक हुआ है।

आश्चर्य से सम्बद्ध कृष्ण

"ठाण" में जिन दस आश्चर्यों[२१] का उल्लेख किया गया है, उनमें पंचम आश्चर्य "कृष्ण का अवरकंका नगरी में जाना" कहा है। सामान्यतया दो वासुदेवों का मिलन नहीं होता है।[२२] अर्थात् एक वासुदेव अपनी क्षेत्रमर्यादा को त्यागकर दूसरे की क्षेत्र-मर्यादा में नहीं जाता है-ऐसा नियम है, किन्तु भरतक्षेत्र के वासुदेव कृष्ण का धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल की क्षेत्र-मर्यादा में जाना आश्चर्य है।[२३] यह अनहोनी घटना कृष्ण के साथ जुड जाने से कृष्ण का वैशिष्ट्य झलकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृष्ण की मृत्यु

कृष्ण की मृत्यु के सम्बन्ध में उल्लेख है कि एक दिन भगवान् अरिष्टनेमि ने भविष्यवाणी की कि दक्षिण समुद्र की ओर पाण्डुमथुरा जाते हुये कौसाम्बी नामक जंगल में बरगद वृक्ष के नीचे सोते हुये अपने ही भाई जरतकुमार द्वारा छोडे गये बाण के बायें पैर में लगने से कृष्ण की मृत्यु होगी।[२४] तदनुसार कृष्ण की मृत्यु हुई और वे बालुकाप्रभ नामक तीसरी पृथ्वी में नैरयिक के रूप में उत्पन्न हुये।[२५]

भावी तीर्थंकर कृष्ण

"ठाणं" में आगामी उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर होने वाले जिन नौ महापुरुषों के नाम गिनाये गये हैं, उनमें कृष्ण का नाम प्रथम है।[२६] अतः कृष्ण आगामी उत्सर्पिणी काल में चातुर्याम धर्म की प्ररूपणा कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत तथा समस्त दुःखों से रहित होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगम साहित्य में यद्यपि कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख व्यवस्थित रूप में उपलब्ध नहीं हैं, तथापि प्रसंगवश अनेक स्थलों पर उनके सन्दर्भ में आये विविध उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर इस बात को सहज ही कहा जा सकता है कि अतीत भारत की विभूतियों में कृष्ण एक अलौकिक पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हुये हैं और उन्होंने अपने जन कल्याणकारी कार्यों के माध्यम से जन–जन को प्रभावित किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

गोम्मटसार, जीवकाण्ड, भाग २, डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये आदि, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सन् १९७९

उत्तराध्ययनसूत्रम्, भाग २, श्री आत्मारामजी महाराज, खजानचीराम जैन, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहोर, सन् १९४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८५

अन्तगडदसाओ, अंगसुत्ताणि, भाग ३, मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, संवत २०३१

णायाधम्मकहाओ (अंगसुत्ताणि, भाग ३) लाडनूं

निरयावलियाओ, ए०एस० गोपानी आदि, सम्भूभाई जगशी शाह, गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, गांधी रोड, अहमदाबाद, १९३४.

ठाणं (ठाणंग), मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनूं, संवत् २०३३

सूयगडो, अंगसुत्ताणि, भाग १, मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, संवत् २०३१

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पं० बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध–संस्थान, वाराणसी, सन् १९६६

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन व डॉ० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध–संस्थान, वाराणसी, सन् १९६६

टिप्पणी

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा ३६१–३६२
२. उत्तराध्ययनसूत्रम् , २२–१–२
३. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १५६
४. देखिए, हरिवंशपुराण, वसुदेवहिण्डी आदि ।
५. अंतगडदसाओ १–१–८
६. अंतगडदसाओ, १–१–९–११
७. णायाधम्मकहाओ, १–५–६
८. अंतगडदसाओ, १–१–१४; निरयावलियाओ, पंचमो वग्गो, पृष्ठ ६७.
९. ठाणं, ८–५३
१०. स्थानांगवृत्ति, पत्र ४१०, ४११ (ठाणं, पृष्ठ ८३० से उद्धृत)
११. ठाणं, १०–८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. सूयगडो, १-६-२२
१३. णायाधम्मकहाओ, १-१६-२६१
१४. वही, १-१६-२८९-३०२
१५. वही, १-१६-३०३
१६. अंतगडदसाओ, ३-८-९४-९७
१७. वही, ३-८-३१-९३
१८. उत्तराध्ययनसूत्रम्, २२-६
१९. वही, २२-२५
२०. निरयावलियाओ, पंचमो वग्गो, पृष्ठ ६८
२१. ठाणं, १०-१६०
२२. णायाधम्मकहाओ, अध्याय १६
२३. ठाणं, टिप्पणियां, पृष्ठ १०१७
२४. अंतगडदसाओ, ५-१-१६
२५. ठाणं, १०-८०
२६. वही, ९-६१
२७. ठाणं, ९-६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिलोयपण्णत्ति में प्राप्त ऋषभदेव की कुछ तिथियाँ

डॉ. प्रेमसुमन जैन, उदयपुर

श्री यतिवृषभाचार्य–विरचित तिलोयपण्णत्ति शौरसेनी आगम साहित्य का प्रमुख ग्रन्थ है। जैन परम्परा के भूगोल, गणित, इतिहास एवं दर्शन से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का इसमें समावेश है। प्राकृत के इस प्राचीन ग्रन्थ का प्रथम बार प्रकाशन १९४३ एवं १९५१ में हुआ था।[1] उसके बाद १९८६ में इसका संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ है।[2] ग्रन्थ के सम्पादकों ने अपनी भूमिकाओं में विषयवस्तु, ग्रन्थकार एवं रचनाकाल आदि पर विशेष प्रकाश डाला है। तदनुसार तिलोयपण्णत्ति को ४७३ ई. से ६०९ ई. के बीचकी रचना स्वीकार किया गया है।[3] लेखकने स्पष्ट रूप से अपना नाम ग्रन्थ में अंकित नहीं किया है, किन्तु प्रकारान्तर से यह प्रमाणित है कि तिलोयपण्णत्ति के रचयिता यतिवृषभ थे।[4]

तिलोयपण्णत्ति में दो प्रकार के ऐतिहासिक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। जैन संघ की परम्परा का ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत करते समय इस ग्रन्थ में चौबीस तीर्थंकरों के जन्मान्तर, आयु, राज्यकाल, दीक्षा, केवलज्ञान, मोक्षगमन आदि का विवरण दिया गया है। इस विवरण में भगवान् ऋषभदेव के जीवन की कुछ घटनाओं का जो अंकन हुआ है उनसे ऐतिहासिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। महावीर के सम्बन्ध में जो विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त हैं, उनमें भी कुछ अन्तर देखने को मिलता है। महावीर के निर्वाण के बाद १००० वर्षों की जैन परम्परा का विवरण भी ग्रन्थ में विभिन्न मान्यताओं के साथ उपलब्ध है। इन सब ऐतिहासिक सन्दर्भों को जैन संघ की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में जांचना–परखना उपयोगी होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यतिवृषभ ने दूसरे प्रकार के सन्दर्भ तत्कालीन राजवंशों से सम्बन्धित दिये हैं। इनमें अवन्तिराज पालक से लेकर चतुर्मुख कल्की तक के राज्यकाल को १००० वर्षों में विभाजित किया गया है।[५] इसे शकवंश, गुप्तवंश, कल्कीराज्य इन तीनों के शासनकाल की दृष्टि से भी प्रस्तुत किया गया है।[६] भारत के प्राचीन राजवंशों से सम्बन्धित इन ऐतिहासिक सन्दर्भों का प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करना लाभदायक हो सकता है। इस अध्ययन से ग्रन्थ के प्रक्षिप्त अंशों को भी रेखांकित किया जा सकता है।

तिलोयपण्णत्ति में तीसरे प्रकार के कुछ ऐसे सांस्कृतिक सन्दर्भ भी हैं, जिन्हें एकत्र कर तत्कालीन राजनीति, सभ्यता और साहित्य की खोयी हुई कड़ियों को जोड़ा जा सकता है। ग्रन्थकार यतिवृषभ द्वारा उल्लिखित उनके द्वारा रचित कषायप्राभृत चूर्णिसूत्र एवं षट्करणस्वरूप इन दो ग्रन्थों की खोज अभी तक नहीं हो सकी है।[७] ग्रन्थ में कई बार उल्लिखित प्राकृत के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों—लोयविणिच्छय एवं लोयविभाग (सर्वनन्दिकृत) को ज्ञात नहीं किया जा सका है।[८] इस तिलोयपण्णत्ति में चतुरंगसेना, पंचांगसेना एवं षडंगसेना इन तीनों का एक ही प्रसंग में उल्लेख है। सैन्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से इनके ऐतिहासिक क्रम को भी खोजा जा सकता है। अठारह श्रेणियों की गणना[९] एवं महाराज आदि उपाधियों का प्रयोग प्राचीन राज्य व्यवस्था के इतिहास को जानने के लिये उपयोगी है। ग्रन्थकारने राजा, अधिराजा, महाराजा, अर्धमण्डलिक, मण्डलिक, महामण्डलिक, आदि के नाम ही नहीं गिनाये हैं, अपितु इनके लक्षण भी दिये हैं।[१०]

ऋषभदेव सम्बन्धी विचारणीय स्थल

तिलोयपण्णत्ति में सुषमा–दुषमा काल के निरूपण के प्रसंग में तीर्थंकरों के जीवन आदि का वर्णन है। उसी सन्दर्भ में भगवान ऋषभदेव के जन्म-काल से लेकर मोक्ष-गमन तक का वर्णन ग्रन्थकारने किया है। उसके अनुसार ऋषभदेव का जन्म अयोध्या के राजा नाभिराज एवं रानी मरुदेवी के यहाँ सुषमा-दुषमा काल में चौरासी लाख वर्ष पूर्व, ३ वर्ष ८ माह और एक पक्ष (१५ दिन) अवशेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहने पर चैत्रकृष्णा नवमी को हुआ था।[११] उनके शरीर की उंचाई पांचसौ धनुष थी।[१२] ऋषभदेव की आयु ८४ लाख पूर्व-वर्ष थी।[१३] उन्होंने २० लाख पूर्व-वर्ष का कुमारकाल व्यतीतकर ६३ लाख पूर्व-वर्ष तक राज्य किया।[१४] उसके बाद नीलांजना नर्तकी के असामयिक मरण से वैराग्य उत्पन्न होने पर[१५] उन्होंने चैत्रकृष्णा नवमी के दिन तीसरे पहर उत्तराषाढ़ नक्षत्र में षष्ठ (मास के) उपवास के साथ दीक्षा धारण की।[१६] दीक्षा के एक हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें फाल्गुन कृष्ण एकादशी को पूर्वान्ह में केवलज्ञान प्राप्त हुआ।[१७] भगवान ऋषभदेव तृतीय (सुषमा-दुषमा) काल में जब ३ वर्ष ८ माह और एक पक्ष (१५ दिन) शेष थे तब सिद्धपद को प्राप्त हुए।[१८] इस बात का प्रकारान्तर से ग्रन्थाकारने फिर समर्थन किया है कि ऋषभजिनेन्द्र के मोक्ष-गमन के पश्चात ३ वर्ष, ८ माह और पन्द्रह दिन व्यतीत होने पर दुषमा-सुषमा नामक चतुर्थकाल प्रारम्भ हुआ।

उसहजिणे णिव्वाणे वास तए अट्ठमास मासद्धे।
बोलीणम्मि पविट्ठो दुस्सम-सुसमो तुरिम कालो॥ गा. १२८७॥

तिलोयपण्णत्ति में वर्णित भगवान् ऋषभदेव के इन जीवन प्रसंगों में जैन परम्परा के अन्य ग्रन्थों के वर्णनों से कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। सामान्य अन्तर इस प्रकार है–

	तिलोयपण्णत्ति	अन्य ग्रन्थ
१–जन्म	चैत्रकृष्णा नवमी	चैत्रकृष्ण अष्टमी[१९]
२–वैराग्य उत्पत्तिकारण	नीलांजना नर्तकी	वसन्तऋतु की क्रीडा[२०]
३–दीक्षा तिथि	चैत्रकृष्णा नवमी	चैत्रकृष्णा अष्टमी[२१]
४–पारणा	दीक्षा तिथि से एक वर्ष बाद (अर्थात चैत्रकृष्णा नवमी को)[२२]	वैशाखशुक्ला तृतीया को (अर्थात् १ वर्ष १ माह आठ दिन बाद)[२३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५—उपवास	छ माह के उपवास के साथ दीक्षा।[२४]	बेला (२ उपवास) के साथ दीक्षा।[२५]
६—मोक्षतिथि	माघकृष्णा चतुर्दशी[२६]	माघकृष्णा त्रयोदशी[२७]

भगवान ऋषभदेव के जीवन की उपर्युक्त घटनाओं में नवमी अथवा अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा त्रयोदशी के सन्दर्भ ऐतिहासिक क्रम में अधिक बाधक नहीं है। क्योंकि एक तिथि के घटने बढ़ने से भी यह अन्तर हो सकता है। किन्तु पारणा तिथि और मोक्षतिथि के सम्बन्ध में पूज्या आर्यिका विशुद्धमतिजी ने अपनी भूमिका में जो समस्याएं उपस्थित की हैं, वे जैन इतिहास के विद्वानों के लिये विचारणीय हैं। तिलोयपण्णत्ति से प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर कुछ समस्याओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—पारणे की तिथि की समस्या

तिलोयपण्णत्ति में उल्लेख है कि भगवान ऋषभदेव का प्रथम पारणा दीक्षा के एक वर्ष में इक्षुरस के द्वारा हुआ था।[२८] किसके द्वारा और किस तिथि को उन्हें यह इक्षुरस दिया गया इसका उल्लेख ग्रन्थ में नहीं है। किन्तु दिगम्बर परम्परा के परवर्ती ग्रन्थों में इस घटना का विकास हुआ है। जिनसेन ने अपने हरिवंश—पुराण में यह तो कहा है कि राजा श्रेयांस ने पूर्वजन्म की स्मृति के आधार पर भगवान ऋषभदेव को इक्षुरस पारणे के लिये प्रस्तुत किया।[२९] किन्तु किस तिथि को यह पारणा हुआ, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। इतना संकेत अवश्य इस ग्रन्थ में हैं कि छह माह के अनशन के बाद ऋषभदेव आहार के लिये निकले[३०] एवं विधिपूर्वक आहार न मिलने पर लगातार छहमाह तक वे विहार करते रहे।[३१] अतः दीक्षा—तिथि से एक वर्ष बाद ही उन्हें इक्षुरस का आहार मिला, इसे जिनसेन ने भी स्वीकारा है। नवी शताब्दी तक के दि० जैन साहित्य में पारणा—तिथि का उल्लेख प्राप्त नहीं है। दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में यह उल्लेख किया है कि श्रेयांस ने भगवान ऋषभदेव को उनके उपवास का एक वर्ष बीत जाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर अक्षय आहार दान दिया। जिससे वह दिन अक्षय तृतीया के नामसे सार्थक हो गया इस सन्दर्भ में वैशाख शुक्ला तृतीया का उल्लेख नहीं है[३२]। डॉ. भायाणी ने सूचित किया है कि महाकवि स्वयम्भूने भी अक्षय तृतीया का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। किन्तु उसमें भी वैशाख शुक्ला तृतीया का उल्लेख नहीं है।[३३]

श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में भी इस पारणा–तिथि का उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में प्रथम पारणे का ही उल्लेख नहीं है। समवायांग सूत्र[३४] एवं वसुदेवहिण्डी[३५] में सम्वत्सर–उपवास के बाद पारणे का उल्लेख है, किन्तु पारणा–तिथि का नहीं। त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र[३६] एवं खरतगच्छ बृहद् गुर्वावली[३७] में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है कि भगवान ऋषभदेव का प्रथम आहार (पारणा) वैशाख शुक्ला तृतीया को हुआ। इससे स्पष्ट है कि १२वीं शताब्दी के पूर्व ऋषभदेव की पारणा–तिथि उनकी दीक्षा तिथि से एक वर्ष बाद ही निश्चित थी, जो चैत्रकृष्णा नवमी होनी चाहिये। छह माह के उपवास से दीक्षा लेने एवं छह माह तक आहार न मिलने की घटना की संगति भी इससे बैठ जाती है। इसी के लिये प्राचीन ग्रन्थकारों ने दीक्षा के बाद एक संवत्सर के उपवास का उल्लेख किया है। किन्तु यदि परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा उल्लिखित पारणा–तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया स्वीकार ली जाय तो दीक्षा तिथि के बाद एक सम्वत्सर (वर्ष) से १ माह ८ दिन का समय अधिक हो जाता है, जो तिलोयपण्णत्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों के सन्दर्भों से प्रमाणित नहीं होता। अतः भगवान ऋषभदेव की प्रथम पारणा–तिथि एवं अक्षय तृतीया का सम्बन्ध विद्वानों के लिये विचारणीय विषय है।

यदि दीक्षा के समय छट्ठ उपवास लेने का अर्थ दो उपवास किया जाय, जैसा कि श्वेताम्बर परम्परा में किया गया है[३८] तो दीक्षा के एक सम्वत्सर बाद पारणा करने का औचित्य स्वीकार करना कठिन है। अतः वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया का सम्बन्ध ऋषभदेव की प्रथम पारणा तिथि से कैसे जुड़ा, इस सम्बन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में विशेष खोज होनी चाहिये। इस सम्भावना को भी ध्यान में रखना होगा कि यदि पारणा तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया सही है तो उसके एक वर्ष पूर्व वैशाख शुक्ला तृतीया को ही भगवान ऋषभदेवने दीक्षा ली हो, चैत्राकृष्णा नवमी को नहीं। किन्तु किसी भी ग्रन्थ में दीक्षातिथि के सम्बन्ध में मतभेद अभी प्राप्त नहीं है, सिवाय नवमी या अष्टमी के। स्वयं पुष्पदंतने अपने महापुराण में वसन्त (चैत्र) माह के कृष्णपक्ष की नवमीं के दिन ऋषभदेव की दिगंबरी दीक्षा होना स्वीकार किया है—

मोहजालु जिह मेल्लवि अवरु, झत्ति महामुणि हुवउ दियंबरु।
उत्तरसाढरिक्खिणवमिइ दिणि, महुमासहं पक्खम्मि सियचंदिणि॥

—महापुराण ८.२६

पुष्पदन्त ही प्रथम कवि है, जो ऋषभदेव की पारणा-तिथि के दिन को अक्षयतृतीया के रूपमें प्रसिद्ध होना मानते हैं। अतः यह समस्या विभिन्न स्रोतों से प्रामाणिक साक्ष्य मिलने पर ही साबित हो सकेगी।

२. निर्वाण-तिथि की समस्या :

तिलोयपण्णत्ति में भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण-तिथि को तीन गाथाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है। गाथा १२६६ में कहा गया है कि ऋषभ माघ कृष्णा चतुर्दशी पूर्वान्ह में अपने जन्म नक्षत्र (उत्तराषाढ़) के रहते कैलाश पर्वत से दस हजार मुनिराजों के साथ मोक्ष को प्राप्त हुए।[३९] गाथा १२५० में कहा गया है कि ऋषभ जिनेन्द्र तृतीय काल में ३ वर्ष-साढ़े ८ माह शेष रहने पर मोक्ष गये।[४०] तथा गाथा १२८७ में निर्देश है कि ऋषभ के मोक्षगमन के पश्चात् ३ वर्ष साढ़े ८ माह व्यतीत होने पर चतुर्थ काल का प्रवेश हुआ।[४१] इन तीनों संन्दर्भों से स्पष्ट है कि ऋषभदेवने अपनी ८४ लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर तृतीय काल में जब ३ वर्ष साढ़े आठ माह शेष थे तब माघ कृष्णा चतुर्दशी को निर्वाण प्राप्त किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों हरिवंशपुराण (जिनसेन) एवं महापुराण (पुष्पदन्त) में ऋषभदेव के निर्वाण की तिथि का उल्लेख नहीं है। पुष्पदन्तने इतना कहा है कि जब ऋषभदेव की आयु के चौदह दिन शेष रह गये तब वे कैलाश-पर्वत पर पहुंचे[४२] और पूर्णिमा के दिन पर्यंक आसन में बैठ गये।[४३] यह किस माह की पूर्णिमा थी, इसका उल्लेख ग्रन्थ में नहीं है। अन्त में केवल इतना कहा गया है कि वे अपने स्वभाव से जाकर परमपद में लीन हो गये।[४४] जिनसेनने अपने संस्कृत महापुराण मे इस बात को और स्पष्ट किया है कि जब आयुष्य के चौदह दिन शेष रह गये तब योगों का निरोधकर पोषमास की पूर्णमासी के दिन ऋषभदेव कैलाशपर्वत पर स्थित हो गये[४५] और माघकृष्ण चतुर्दशी को उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[४६]

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में समवायांग सूत्र में कहा गया है कि ऋषभ अर्हत् तीसरे सुषमा-दुषमा आरे के अन्तिम भाग में ८९ अर्धमासों (३ वर्ष, ८ माह १५ दिन) के शेष रहने पर कालधर्म को प्राप्त हुए।[४७] कल्पसूत्र में उल्लेख है कि तीसरे आरे के मात्र ३ वर्ष साढ़े ८ माह शेष बचने पर हेमन्त ऋतु के तीसरे महीने एवं पांचवे पक्ष में माघकृष्णा त्रयोदशी को अष्टापद पर्वत से ऋषभदेव कालधर्म को प्राप्त हुए।[४८] इसी का समर्थन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हुआ है।[४९] परवर्ती ग्रन्थ भी इसी तिथि का अनुसरण करते है।[५०]

वैदिक ग्रन्थों में ऋषभदेव एवं शिव के स्वरूप में कई बातों में समानता प्राप्त होती है। ईशानसंहिता में कहा गया है कि माघ कृष्णा चतुर्दशी को आदि देव शिवलिंग के रूप में प्रकट हुए। उन्हें शिवपद की प्राप्ति होने से इस तिथि को 'शिवरात्रि' के रूप में याद किया जाता है।[५१]

उपर्युक्त सभी परम्पराओं में प्रायः माघकृष्णा चतुर्दशी या त्रयोदशी को भगवान् ऋषभदेव की निर्वाणतिथि मानी गयी है एवं तीसरे आरे के ३ वर्ष साढ़े ८ माह शेष भी माने गये हैं। भारतीय परम्परा में नये वर्ष विक्रम सम्वत् का प्रारम्भ श्रावणकृष्णा प्रतिपदा से होता है। श्रावणकृष्णा प्रतिपदा से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साढ़े ८ माहपूर्व का समय कार्तिक कृष्णा अमावस्या (या चतुर्दशी का अंतिम पहर) बैठता है, जबकि ऋषभदेव का मोक्ष माघ कृष्णा चतुर्दशी को हुआ है। अत: उसके बाद तृतीय आरे के ३ वर्ष साढ़े पांच माह ही शेष रहते हैं, ३ वर्ष साढ़े ८ माह नहीं। यह तीन माह का अन्तर भगवान् ऋषभदेव के जीवन कालमें कुछ समस्याएं उत्पन्न करता है। यथा–

१ यदि माघकृष्णा चतुर्दशी को ही निर्वाण–तिथि स्वीकार की जाय तो ग्रन्थों में जो तीसरे आरे के ३ वर्ष साढ़े ८ माह शेष रहने की बात कही गयी है वह प्रामाणिक नहीं ठहरती। क्योंकि श्रावण प्रतिपदा को चतुर्थकाल प्रारम्भ होने से इसमें ३ माह पड़ते हैं।

२ तिलोयपण्णत्ति[12] एवं अन्य ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव की आयु ८४ लाख पूर्व कही गयी है, जो तीसरे आरे के ३ वर्ष शेष रहते कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को पूर्ण हो जाती है। यदि उन्होंने माघ कृष्णा चतुर्दशी को निर्वाण प्राप्त किया है तो उनकी आयु ८४ लाख पूर्व ३ माह होनी चाहिये, जबकि ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है।

३ इसी तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है कि भगवान महावीर चतुर्थकाल के ३ वर्ष साढे ८ माह शेष रहने पर मोक्ष गये थे।[13] महावीर की निर्वाण–तिथि कार्तिक कृष्णा (चतुर्दशी) अमावस्या है।[14] उससे लेकर आषाढी पूर्णिमा तक साढ़े ८ माह का समय शेष रहता है और श्रावण प्रतिपदा से पंचमकाल प्रारम्भ हो जाता है। जब महावीर की निर्वाण–तिथि कार्तिक कृष्णा अमावास्या होने से चतुर्थकाल के ३ वर्ष साढ़े ८ माह पूरे होते हैं तो भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण तिथि भी कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी या अमावस्या का उषाकाल) होनी चाहिये, माघकृष्णा चतुर्दशी नहीं। तभी तीसरे काल के ३ वर्ष साढ़े ८ माह की अवधि शेष रहने की बात प्रामाणित हो सकेगी।

४. एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि प्राय: सभी ग्रन्थों के आधार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भगवान् ऋषभदेव का जन्म चैत्रकृष्णा नवमी (या अष्टमी) को हुआ है।[५५] एवं उनका निर्वाण माघकृष्णा चतुर्दशी को। श्रावण प्रतिपदा से वर्ष का प्रारम्भ माना जाता है। अतः ऋषभदेव के जन्म से लेकर निर्वाण तक एक वर्ष में १० माह छ दिन का अथवा १ माह ६ दिन का अन्तर है। जबकि ऋषभदेव की आयु ८४ लाख पूर्व वर्ष कही गई है। उसमें माह एवं दिनों का कोई उल्लेख नहीं है। तब ऋषभदेव के जन्म एवं निर्वाण की तिथि एक ही होनी चाहिये चाहे वह चैत्रकृष्ण नवमी हो अथवा माघकृष्णा चतुर्दशी।

ऋषभदेव के जीवन की प्रमुख तिथियां चैत्रकृष्णा नवमी से जुड़ी हुई है। उनका जन्म इसी तिथि में हुआ। दीक्षा इसी तिथि को हुई। एक वर्ष के उपवास के बाद पारणा भी इसी दिन चैत्रकृष्णा नवमी को होना चाहिये। अतः उनकी आयु के ८४ लाख पूर्व भी इसी तिथि को पूरे होने चाहिये। इस कारण ऋषभदेवकी निर्वाणतिथि चैत्रकृष्णा अष्टमी या नवमी होनी चाहिये। किन्तु इसका उल्लेख किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं है। अतः इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार होना चाहिये।

हरिवंशपुराण में जिनसेन ने भगवान ऋषभदेव के गर्भ में अवतरण होने की घटना का वर्णन करते हुए कहा है कि जब तीसरे काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहे तब आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में ऋषभदेव का स्वर्गावतरण (माता के गर्भ में प्रवेश) हुआ[५६] और नौ माह पूर्ण होने पर उत्तराषाढ़ नक्षत्र के समय माताने ऋषभ को जन्म दिया। अर्थात् ऋषभदेव के जन्म होने के समय तीसरे काल के ८४ लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े ८ माह में से गर्भकाल के ९ माह की अवधि बीत चुकी थी। जन्म के समय तब तीसरे काल के ८४ लाख पूर्व १ वर्ष साढ़े ११ माह ही शेष बचने चाहिये। जबकि तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है कि ऋषभदेव की उत्पत्ति (जन्म)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय ८४ लाख पूर्व, तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे।[५७] इनमें से किसे सही माना जाय ?

संभवत: गर्भ-प्रवेश और जन्म के बीच की अवधि (लगभग ९ या साढ़े आठ माह की गणना छूट जाने के कारण ही भगवान ऋषभदेव की जन्म-तिथि और निर्वाण तिथि में भिन्नता की परम्परा विकसित हुई है। ८४ लाख पूर्व की आयु पूर्ण होने पर ऋषभ की निर्वाण-तिथि जो चैत्र कृष्णा नवमी होनी चाहिये थी वह ९ माह के बाद माघकृष्णा चतुर्दशी हो गयी है। वस्तुत: ऋषभदेव के जन्म के समय तीसरे आरे के ८४ लाख पूर्व एवं लगभग ३ वर्ष का समय ही शेष होना चाहिये। साढे ८ माह के समय में कहीं कोई भ्रमित परम्परा विकसित हो गयी प्रतीत होती है। यद्यपि यह सब धार्मिक एवं पौराणिक परम्परा की कालगणना का विषय है, फिर भी इसमें भी तो पूर्वापर सम्बन्ध बैठना ही चाहिये। कौन सी कड़ी कहाँ से छूटी है, उसी को खोजने का प्रयत्न होना चाहिये। जैन संघ की परम्परा के ऐतिहासिक सन्दर्भों के अतिरिक्त तिलोयपण्णत्ति में प्राप्त प्राचीन राजवंशों आदि से सम्बन्धित ऐतिहासिक सन्दर्भों के मूल्यांकन के लिये स्वतन्त्र अध्ययन की आवश्यकता है।

टिप्पणी

१. तिलोयपण्णत्ति, भाग १. डा. ए. एन. उपाध्ये, डा. हीरालाल जैन, १९४३, सोलापुर, भाग १, १९५१.

२. तिलोयपण्णत्ति, भाग २, – अनुवादिका–आर्यिका विशुद्धमति, १९८४, कोटा, भाग २, १९८६, दि. जैन महासभा प्रकाशन।

३. तिलोयपण्णत्ति, भाग २. सं. डा. हीरालाल जैन, भूमिका, पृ १५.

४. पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं।
दट्ठूण परिसवसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाढए वसहं॥
– तिलोय. ९, गा. ७६.

५. तिलोयपण्णत्ति, चतुर्थ अधिकार, गाथा १५१७–१५२१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. वही, गाथा १५१५–१५१६.
७. चुण्णिस्सरूव–छक्करणसरूव–पमाण होइ किं ज तं ।
अट्ठसहस्सपमाण तिलोयपण्णत्तिणामाए ॥ –वही, ९, ७६–७७
८. तिलोयपण्णत्ति, भाग २, भूमिका, डा. हीरालाल जैन, पृ. १२
९. वही, भाग १, गा. ४३–४४
१०. तिलोय., भाग १, अधिकार १, गा. ४५–४८.
११. तिलोय, अधिकार ४, गा. ५३३ एवं ५६०.
१२. वही, गा. ५९२
१३. वही, गा. ५८६.
१४. वही, गा. ५९७.
१५. वही, गा. ६१७.
१६. वही, गा. ६५१,
१७. वही, गा. ६८६
१८. तियवासा अडमासा पक्खं तह तदियकाल अवमेसे ।
सिद्धो उसह जिणिंदो, वीरो तुरियस्स तेत्तिए सेसे ॥ वही गा. १२५०
१९. कल्पसूत्र १९२, धम्मकहानुयोग, पृ ७
२०. त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित, १, ३. १–१७, पृ. ६८.
२१. आवश्यक निर्युक्ति, गा. ३३६.
२२. एक्क वरिसेण उसहो, उच्छुरस कुणइ पारण अवरे ।
गो–खीरे णिप्पण्ण अण्ण बिंदियम्मि दिवसम्मि ॥ –गा. ६७८ ॥ वही ॥
२३. आवश्यक निर्युक्ति गा. ३४५ एवं त्रिशष्टि, १.३. ३०१–३०२.
२४. तिलोय., गा. ६५१.
२५. कल्पसूत्र, १९५. ५७
२६. तिलोय. गा. ११९६.
२७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४८. ९१.
२८. तिलोय., अधिकार ४, गा. ६७८.
२९. हरिवंशपुराण, सर्ग ६ श्लोक १८३–१९०.
३०. वही, श्लोक १४२, महापुराण (जिनसेन), १००/२०/४५४.
३१. वही, श्लोक १५६ ।
३२. पूरियसंवच्छर उववासें, अक्खयदाणु मणिउ परमेसें ।
तहु दिवसउ अत्थेण समायउ, अक्खय तइय णाउ संजायउ ॥
महापुराण, संधि ९ कडवक ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३. अक्खयदाणु भणेवि सेयंसहो, अक्खयतइय णाउ किउ दिवसहो ।
— पउमचरिउ, संधि २, कडवक १७.८

३४. समवयांग सूत्र १५७

३५. वसुदेवहिण्डी–अणाउलो संवच्छरं विहरइ ।

३६ माघशुक्लतृतीयायां दानमार्गस्तदक्षयम् ।
पर्वाक्षयतृतीये ति, ततोऽद्यापि प्रवर्तते ।। त्रिशिष्टि. १/३/३०१.

३७. श्री युगादिदेव पारणक पवित्रितायां वैशाख शुकलपक्ष तृतीयायां स्वपदे महाविस्तरेण स्थापिताः । — वही ।

३८. करित्ता छट्ठेणं भतेणं अपाणएणं, कल्पसूत्र, सूत्र १९५ ।

३९. माघस्स किण्ह-चोद्दसिपुव्वण्हे णियय–जम्म–णक्खते । अट्ठावयम्मि उसहो, समंगओ अजुदेण मोक्खं ॥ —गाथा ११९६ ।

४०. वही, गा. १२६०.

४१. उसहजिणे णिव्वाणे वासत्तए–अट्ठमासमासद्धे ।
वोलीणम्मि पविट्ठो दुस्सम-सुसमो तुरिम–कालो ॥ –गा. १२८७.

४२. महापुराण (अपभ्रंश) संधि ३७, कडवक १८.

४३. थिउ पुण्णिमा दियहि जिणाहिवई बंधिवि पलियंकासणु । –वही, घत्ता १८

४४. ससहावे जाइवि परमपए परमेसरू संपण्णउ । — वही, घत्ता २०.

४५. महापुराण (संस्कृत) सर्ग, ४७, श्लोक ३२२–३२९.

४६. ८–वही, ३७–३.

४७. समवायांग, ८९, समवाय, सूत्र ४१२, पृ. १४९.

४८. कल्पसूत्र, सूत्र १९९ पृ. २७३.

४९. जम्बू., ४८ । ९१.

५०. त्रिशष्टि०, १. ६, सत्तरि–सय प्रकरणद्वार, १४७ गा. ३०६.

५१. माघकृष्णे चतुर्दश्यामादि-देवो महानिशि । शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्य-समप्रभः ॥
–ईशान् संहिता

५२ उसहादि-दससु आऊ चुलसीदी तह बहत्तरी सट्ठी । वही, गो. ५८६.

५३. तियवासा अडमासा पक्खं तह तदियकाल अवसेसे ।
सिद्धो उसहजिणिंदो, वीरो तुरियस्स तेत्तए सेसे ॥ वही, अ. ४, गा. १२५०.

५४. कत्तिय–किण्हे चोद्दसि, पज्जूसे सादि–णाम–णक्खत्ते ।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥ –तिलोय. वही, गा. १२१९.

५५. (क) जोदो हु अवज्झाए उसहो मरुदेवि–णाभिराएहिं ।
चेत्तासिय–णवमीए, णक्खते उत्तरासाढे ॥ –तिलोय. ४/५३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) सुसम-दुसमम्मि णामे सेसे चउसीदि-लक्खपुव्वाणिं ।
वास-तए अडमासे इगि-पक्खे उसह उप्पत्ति ॥ -वही, ४/५६.

(ग) ऋषभदेव-एक परिशीलन, देवेन्द्रमुनि, उदयपुर, १९६७, पृ. १३०.

(घ) चेत्तबहुलट्ठमीए जातो उसभो असाढनक्खत्ते ।
जम्मणमहो य ...वा नेयव्वो जाव घोसणयं ॥ आवश्यक नियुक्ति, १८४.

५६. तृतीय कालशेषेऽसावशीतिश्चतुरुत्तरा ।
पूर्वलक्षास्त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुतास्तदा ॥
स्वर्गावतरणं जैनमाषाढबहुलस्य तु ।
द्वितीयामुत्तराषाढनक्षत्रेऽत्र जगन्नतम् ॥ - वही सर्ग ८, श्लोक ९७-९८

५७. तिलोय., अधि. ४, गा. ५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

જૈન આગમ, મહાભારત અને બૌદ્ધ જાતકમાં મળતા દ્રૌપદીના પાત્રનું તુલનાત્મક અધ્યયન.

શાહ નીલાંજના એસ. અમદાવાદ.

દ્રૌપદી એ ભારતીય સાહિત્યનું એક અત્યંત જવલંત અને પ્રતિભાશાળી સ્ત્રીપાત્ર છે. તેણે જીવનમાં આવેલી ગંભીર મુશ્કેલીઓના પ્રસંગે દર્શાવેલી અપ્રતિમ વિક્રમ શીલતાને લીધે, એનું જીવન ભારતીય સંસ્કૃતિ અને ઇતિહાસમાં અમર બન્યું છે. તેથી જૈન આગમ સાહિત્યમાં મળતા દ્રૌપદીના પાત્રને ઉપસાવવાનો તથા તેને મહાભારતમાં અને પાલિજાતકમાં મળતા, તેના પાત્રાલેખન સાથે સરખાવવાનો પ્રયાસ આ લેખમાં કરવામાં આવ્યો છે.

જૈન આગમમાં દ્રૌપદીના પાત્રનું વિસ્તૃત આલેખન મુખ્યત્વે 'જ્ઞાતા ધર્મકથાંગસૂત્ર' (જ્ઞા.ધ.) માં થયું છે[1] અને 'સ્થાનાંગસૂત્ર' પરની પ્રશ્નવ્યાકરણસૂત્ર' પરની તથા વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ સૂત્ર' પરની અભયસૂરિની વૃત્તિમાં પણ દ્રૌપદી વિશે કેટલાક ઉલ્લેખો મળી આવે છે. તે ઉપરાંત જૈન આગમગ્રંથોની ચૂર્ણિઓમાં અને બીજી વૃત્તિઓમાં આ પાત્ર વિશે મળતી સામગ્રીને પણ અહીં ઉપયોગમાં લેવામાં આવી છે.

'મહાભારત' (મ.ભા.) માં તો દ્રૌપદીનું પાત્ર વિશાળ ફલકમાં આલેખાયેલું છે. મ.ભા. માં દ્રૌપદીના જીવન સાથે સંકળાયેલા પ્રસંગોમાં સૌથી મહત્ત્વનો પ્રસંગ તેના વસ્ત્રાહરણનો છે. તે પ્રસંગનો જૈન આગમમાં ઉલ્લેખ સુદ્ધો નથી. તેથી અહીં દ્રૌપદી અંગે જૈન આગમમાં મળતા નિર્દેશો સાથે જેમની સરખામણી થઈ શકે એવા અને એટલાજ 'મ.ભા.' માંના મુદ્દાઓને સ્પર્શવામાં આવ્યા છે.[2]

પાલિ ત્રિપિટકમાંના સુત્તપિટકનો 'ખુદ્દક નિકાય' નામનો એક વિભાગ છે, જેના 'જાતક' નામના પેટા વિભાગમાં દ્રૌપદીનો નિર્દેશ કરતી ગાથાઓ મળે છે. 'જાતક' પર 'જાતકાત્થકહાવણ્ણના' નામની વૃત્તિમાં આ ગાથાઓ પર વિસ્તૃત સમજૂતીની સાથે દૃષ્ટાંતરૂપે કથાઓ પણ મળે છે. 'કુણાલ જાતક' નામના જાતકમાં દ્રૌપદીનો નિર્દેશ કરતી એક ગાથાના વિશદ વિવરણ રૂપે દ્રૌપદીની કથા મળે છે.

ઉપર્યુક્ત ત્રણે પરંપરામાં આ પાત્રનું આલેખન જુદા જુદા સંદર્ભમાં

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

થયું છે. જૈન આગમમાં, સત્પાત્રને પણ અનાદરથી જો ખરાબદાન આપીએ, તો એનું અનર્થકારી ફળ મળે છે તે તથા નિયાણાથી દૂષિત થયેલું તપ મોક્ષ માટે થતું નથી તે દર્શાવવા દ્રૌપદીની કથા દૃષ્ટાંતરૂપે આપવામાં આવી છે, તો આગમ પરની વૃત્તિઓ અને ચૂર્ણિઓમાંથી કેટલાકમાં આશ્ચર્યદશકની સમજૂતી નિમિત્તે, તો કેટલાકમાં સ્ત્રીઓને કારણે થયેલા સંગ્રામોની સમજૂતીના સંદર્ભમાં દ્રૌપદીની કથા આપવામાં આવી છે.

'મ.ભા.' તો દ્રૌપદીનું સ્થાન, તેના મુખ્ય પાત્રો પાંડવોની સહધર્મચારિણીનું છે, તેથી યુદ્ધ મેદાન પરના પ્રસંગોને બાદ કરતાં, તેમાં આવતા લગભગ દરેક પ્રસંગ સાથે દ્રૌપદી ઘનિષ્ટપણે સંકળાયેલી છે. તેમાં વ્યાસ મુનિએ શુદ્ધ સાહિત્યિક દૃષ્ટિથી દ્રૌપદીના પાત્રને આલેખ્યું છે.

પાલિ જાતકમાં તો સંદર્ભ સાવ જ જુદો છે. કુણાલ નામના પક્ષીના મુખમાં આ કથા મૂકવામાં આવી છે, તેથી તેનું નામ 'કુણાલ-જાતક' આપવામાં આવ્યું છે. કુણાલસ્વામી નામનું પક્ષી તેની પરિચર્યા કરતી પંખિણીઓ સાથે દુર્વ્યવહાર કરતું હોય છે, તેથી તેને પુણ્ણમુખ નામનું પક્ષી ઠપકો આપે છે. પછી એકવાર પૂણ્ણમુખ પોતે રોગમાં સપડાય છે, ત્યારે તેની પરિચર્યા કરતી પંખિણીઓ એને છોડીને જતી રહે છે. કુણાલ પૂણ્ણમુખની સારવાર કરી, તેને સાજો કરે છે અને સ્ત્રી બેવફા હોય છે, તેના સદર્ભમાં દ્રૌપદીનું દૃષ્ટાંત આપતી એક ગાથા સંભળાવે છે, જેમાં દ્રૌપદીએ પાંચ પાંડવોને છોડી દઈને, એક ખૂંધા પરિચારક જોડે પ્રેમ કર્યાનો ઉલ્લેખ આવે છે.[૩]

દ્રૌપદીનાં નામ

જૈન આગમ ગ્રંથોમાં દ્રૌપદીના નામનો ઉલ્લેખ પ્રાકૃતમાં 'दोवई'[૪], 'दोवति'[૫] કે दोवती'[૬] તરીકે થાય છે જ્યારે આગમ ગ્રંથો પરની સંસ્કૃતમાં લખાયેલી વૃત્તિઓમાં દ્રૌપદી' તરીકે જ થાય છે,[૭] તેમાં 'કૃષ્ણા' પાંચાલી' વગેરે દ્રૌપદીનાં નામોનો ઉલ્લેખ મળતો નથી.

મ.ભા. માં દ્રૌપદી 'યજ્ઞવેદીમાંથી પ્રાદુર્ભાવ પામી, ત્યારે, તેના શ્યામવર્ણને લીધે દ્વિજોએ તેનું નામ 'કૃષ્ણા' પડયું હતું.[૮] પંચાલનરેશ દ્રુપદની પુત્રી હોવાને કારણે તેનો પાંચાલી[૯] તરીકે, અને વધારે તો દ્રૌપદી તરીકે તેનો 'મ.ભા.' માં ઉલ્લેખ મળે છે આ ઉપરાંત તેમાં તેને માટે પાર્ષતી'[૧૦] અને યાજ્ઞસેની'[૧૧]-એ બે નામો પણ પ્રયોજાયાં છે. 'પાલિજાતક' માં તેનો कण्हा (કૃષ્ણા) તરીકે જ ઉલ્લેખ મળે છે.[૧૨].

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

દ્રૌપદીનાં પૂર્વજન્મો.

જૈન આગમમાં જે ઉદ્દેશથી દ્રૌપદીની કથા અપાઈ છે, તે જોતાં, દ્રૌપદી તરીકેના જન્મ કરતાં, નાગશ્રી અને સુકુમાલિકા તરીકેના એના પૂર્વજન્મોને વધારે મહત્વના ગણી શકાય, કારણ કે એણે, નાગશ્રી તરીકેના ભવનાં કર્મનું ફળ સુકુમાલિકા તરીકેના ભવમાં ભોગવ્યું છે. અને સુકુમાલિકા તરીકેના ભવનાં કર્મનું ફળ દ્રૌપદી તરીકેના ભવમાં ભોગવ્યું છે. એના આ બંને ભવની કથાઓ 'જ્ઞા. ધ.'માં વિગતે મળે છે, જેમનો ટૂંક સાર નીચે પ્રમાણે છે.

ચંપા નગરીના સોમ બ્રાહ્મણની પત્ની નાગશ્રીએ એકવાર ભૂલથી કડવા તુંબડાનું શાક બનાવ્યું. તે ખૂબ કડવું છે અને ખવાય તેમ નથી, તેમ જાણવા છતાં તેણે તે શાક, એક માસના ઉપવાસના પારણા માટે ભિક્ષા માંગવા આવેલા ધર્મઘોષ સ્થવિરના શિષ્ય ધર્મરુચિ. નામના સાધુને આપ્યું. તેમના ગુરુએ તે શાક ચાખીને, ધર્મરુચિને તે ખાવાની ના પાડી, અને તેને એકાંત સ્થાનમાં નાખી દેવાનું કહ્યું. ધર્મરુચિ સાધુને થયું કે આ શાક બહાર ફેંકવાથી અનેક જીવોની હિંસા થશે, તેથી તેમણે તે શાક પોતે ખાધું અને કાળધર્મ પામ્યા. તેમના ગુરૂ ધર્મઘોષ પાસેથી આ વાત તેના પતિ વગેરેએ જાણી અને તેનો તિરસ્કાર કરી, તેને કાઢી મૂકી આ દુષ્કૃત્યને લીધે નાગશ્રી બ્રાહ્મણીને સોળ ભયંકર રોગ થયા અને તે મૃત્યુ પામી. મૃત્યુ પછી પણ તેને અનેક નિકૃષ્ટ યોનિઓમાં જન્મ લેવો પડયો.[૧૩] કથાનો સાર આપતી આ ગાથા સોળમા અધ્યયનને અંતે આવે છે.[૧૪]

अमणुन्नमभत्तीए, पत्ते दाणं भवे अणत्थाय ।
जह कडुयतुंबदाणं, नागसिरिभवम्मि दोवइए ॥

દ્રૌપદીનો નાગશ્રી પછીનો મનુષ્ય જન્મ સુકુમાલિકા તરીકેનો હતો તે જન્મમાં તે સાગરદત્ત સાર્થવાહને ત્યાં પુત્રી તરીકે જન્મી. યુવાન થતાં તેને જિનદત્તના પુત્ર સાગર સાથે પરણાવવામાં આવી. સુકુમાલિકાનો દાહક સ્પર્શ સહન ન થતાં સાગરે તેનો ત્યાગ કર્યો. ત્યારપછી તેના પિતા સાગરદત્તે, તેનાં લગ્ન એક ભિખારી સાથે કરાવ્યાં. તેણે પણ તેનો સ્પર્શ સહન ન થઈ શકવાથી, તેનો ત્યાગ કર્યો. આવું બનવાથી સુકુમાલિકા ખૂબ દુઃખી થઈ અને તેણે પિતાની રજા લઈ ગોપાલિકા નામના સાધ્વી પાસે દીક્ષા લીધી. એકવાર તેણે ઉદ્યાનમાં જઈને સૂર્યની

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

આતાપના લેવા આર્યા ગોપાલિકાની રજા માંગી. તેમની ના છતાં તે ઉદ્યાનમાં ગઈ અને ત્યાં તેણે દેવદત્તા નામની ગણિકાને પાંચ પુરુષો સાથે કામભોગ ભોગવતી જોઈ. આ દશ્ય જોઈને સુકુમાલિકાએ આવતા ભવમાં આવા કામભોગ ભોગવવા મળે, એ ઇચ્છાથી નિયાણું * કર્યું. ત્યારબાદ તે સાધ્વી તરીકેના આચારમાં શિથિલ થઇ અને તેથી બીજી સાધ્વીઓ તેનો અનાદર કરવા લાગી. આથી તે ગોપાલિકા આર્યા પાસેથી નીકળી ગઈ અને સ્વતંત્રપણે વિચરવા લાગી. આમ ઘણાં વર્ષો ચારિત્ર પર્યાયને પાળીને, છેવટે અર્ધમાસની સંલેખના કરીને, ઈશાનકલ્પ નામના બીજા દેવલોકમાં દેવની ગણિકા તરીકે ઉત્પન્ન થઈ ત્યાં અમુક સમય રહીને, કાંપિલ્યપુરના રાજા દ્રુપદને ત્યાં દ્રૌપદી તરીકે જન્મી અને નિયાણાને કારણે પાંચ પતિની પત્ની થઈ.[૧૫] 'જ્ઞાધ'માં સોળમા અધ્યયનને અંતે તે બાબતને દર્શાવતી ગાથા નીચે પ્રમાણે છે.[૧૬]

सुबहुं पि तवकिलेसो नियाणदोसेण दूसिओ संतो ।
न सिवाय दोवतीए जह किल सुकुमालिया जम्मे ॥

'જ્ઞાધ'માં મળતી સુકુમાલિકાની આ કથાનો એક વિશેષ ઉદ્દેશ, દ્રૌપદીના બહુપતિત્વની વિચિત્ર લાગતી હકીકતને, પૂર્વજન્મના ફળ તરીકે દર્શાવીને, આ સમસ્યાનું સમાધાન આપવાનો પણ હોઈ શકે.

'મ. ભા.'માં પણ આદિપર્વમાં દ્રૌપદીના પૂર્વજન્મ અંગેની બે કથા મળે છે પ્રથમ કથા અનુસાર કોઈ એક ઋષિની રૂપવતી કન્યાએ વિવાહ યોગ્ય ઉંમરે પતિ ન મળવાથી તપ કરીને શંકરને પ્રસન્ન કર્યા. શંકરે તેને વર માંગવાનું કહેતાં 'પતિ આપો', તેવું તેણે પાંચ વાર કહ્યું. તેથી શંકરે તેને કહ્યું કે તેં પાંચવાર પતિની માંગણી કરી, તેથી તને પાંચ પતિ મળશે. શંકરના આ વરદાનને લીધે દ્રૌપદી તરીકેના જન્મમાં તે પાંચ પાંડવોને પરણી.[૧૭] 'મ ભા.'ની બીજી કથા પ્રમાણે પાંડવો એ મૂળ પાંચ ઇન્દ્રો હતા અને દ્રૌપદી એ તેમની લક્ષ્મી હતી, જેને શિવે તેમની ભાર્યા તરીકે નિર્મી હતી.[૧૮]

'મ. ભા.'માં મળતી દ્રૌપદીના પૂર્વજન્મને લગતી આ બંને

---

* નિયાણું અથવા નિદાન. એટલે કોઈ વ્રતાનુષ્ઠાનની ફલપ્રાપ્તિનો અભિલાષ-સંકલ્પ વિશેષ. મરણ પૂર્વે પોતાની આ જન્મની અપૂર્ણ ઇચ્છા બીજા જન્મમાં પૂરી કરવા માટે સામાન્ય રીતે નિદાન કરવામાં આવે છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

કથાઓ, લોકવિરુદ્ધ જણાતી દ્રૌપદીના બહુપતિત્વની બાબતને ન્યાય્ય ઠરાવવા માટે અપાયેલી અને પાછળથી ઉમેરાયેલી પણ લાગે છે. આદિ પર્વમાં, મહાભારતકારે આ બાબત ધર્મવિરુદ્ધ નથી એવું દર્શાવવા. બીજાં કેટલાંક પૌરાણિક દૃષ્ટાંત આપ્યાં છે, કેટલાક ખુલાસા પણ કર્યા છે, પણ એ બધામાં ઘણી વિસંગતિઓ રહેલી છે, અને એમાંનો એકે ખુલાસો સંતોષકારક નથી. આ સમસ્યાની વિગતવાર ચર્ચા અન્યત્ર ગ્રંથોમાં તેમજ લેખોમાં થયેલી છે, તેથી તેનો અહીં માત્ર નિર્દેશ જ કર્યો છે.[૧૯]

પાલિજાતકમાં દ્રૌપદીના પૂર્વજન્મ અંગેનો કોઈ નિર્દેશ નથી, તેમાંના 'કુણાલજાતક'માં જે કુણાલપક્ષી પૂર્ણમુખ પક્ષીને દ્રૌપદીની કથા કહે છે, તેનો એક પૂર્વજન્મ અર્જુન તરીકેનો હતો, એમ કહેવાયું છે. વળી તેમાં દ્રૌપદીના બહુપતિત્વની વિલક્ષણ હકીકત બાબત કંઈ સમાધાન આપવાનો પ્રયત્ન પણ થયો નથી.

દ્રૌપદી તરીકેનો જન્મ

જૈન આગમ ગ્રંથો પ્રમાણે તે કાંપિલ્યપુરના દ્રુપદ રાજા અને ચૂલણી રાણીની પુત્રી હતી અને ધૃષ્ટદ્યુમ્ન કુમારની બહેન હતી.[૨૦]

'મ. ભા.'માં આદિપર્વમાં એવો વૃત્તાંત મળે છે કે દ્રૌપદીનું પ્રાગટ્ય દ્રુપદે પુત્રેષ્ટિ માટે કરેલા યજ્ઞની વેદીમાંથી થયું છે તે પ્રસંગે આકાશવાણી થઈ હતી કે આ કૃષ્ણા ક્ષત્રિયોનો ક્ષય કરશે અને દેવકાર્ય કરશે. તેમાં, તે વેદીમાંથી પ્રગટ થઈ, તે વખતની તેની અપ્રતિમ સુંદરતાનું વિગતે વર્ણન આપ્યું છે.[૨૧]

પાલિજાતકમાં એવી વાત છે કે વારાણસીના બ્રહ્મદત્ત રાજાએ કોશલ નરેશ પર ચઢાઇ કરી, તેને જીતી લીધો અને તેની ગર્ભવતી રાણીને વારાણસી લઈ આવી. પોતાની રાણી તરીકે રાખી. તે રાણીને જે પુત્રી જન્મી, તેને રાજાએ પોતે દત્તક લીધી અને તેનું નામ કૃષ્ણા (कण्हा) પાડ્યું. આમ બે પિતાની પુત્રી હોવાથી પાલિજાતકમાં તેનો ઉલ્લેખ દ્વૈપિતિકા તરીકે થાય છે. રાજા બ્રહ્મદત્તે પુત્રીના જન્મ વખતે પોતાની રાણીને વર માંગવાનું કહ્યું હતું, પણ રાણીએ તે વર માંગવાનો હક્ક, પોતાની પુત્રીને આપ્યો હતો.[૨૨]

દ્રૌપદીનો સ્વયંવર અને તેનું લગ્ન

જૈન આગમ 'જ્ઞાધ' અનુસાર, દ્રુપદ રાજાએ પુત્રી મોટી થતાં,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

તેને માટે મનગમતો વર મેળવવા ધામધૂમથી સ્વયંવર યોજ્યો. આ સ્વયંવરમાં તેમણે બધે ઠેકાણે દૂતોને મોકલીને જુદા જુદા પ્રદેશના રાજાઓને તેડાવ્યા હતા. તેમાં નીચેના રાજાઓનાં નામ આપણને 'જ્ઞાધ'માં મળે છે : દ્વારકાના રાજા કૃષ્ણ વાસુદેવ અને દશારો, અંગરાજ કૃષ્ણ, દમઘોષનો પુત્ર શિશુપાલ, રાજગૃહના રાજા જરાસંધનો પુત્ર સહદેવ, કૌંડીન્યના રાજા ભીષ્મકના પુત્ર રુપ્પી રાજા, વિરાટના કીચક રાજા અને હસ્તિનાપુરના પાંડુ રાજા, તેમના પુત્રો અને દુર્યોધન વગેરે ભત્રીજાઓ (અશ્વત્થામા અને શકુનિ સહિત) જૈન આગમ પ્રમાણે તે વખતે પાંડુ રાજા હયાત હતા, જ્યારે 'મ. ભા' પ્રમાણે પાંડુરાજાના અવસાન (આદિ પર્વ, અ. ૧૧૬) પછી દ્રૌપદીનો સ્વયંવર (આદિ પર્વ, અ. ૧૭૯) થયો હતો.

દ્રૌપદીએ હાથમાં ફૂલમાળા લઈને સ્વયંવર મંડપમાં પ્રવેશ કર્યો અને ત્યાં બિરાજમાન રાજાઓને ઓળંગીને, નિયાણા વડે પ્રેરાતી પાંચ પાંડવો પાસે ગઈ અને તેમને માળા વડે વીંટીને એમ બોલી, 'एए ण मए पंच पांडवा वरिया।" જૈન આગમમાં દર્શાવ્યા પ્રમાણે બધા રાજાઓએ દ્રૌપદીની આ વરણી સહર્ષ વધાવી લીધી, એટલું જ નહીં, દ્રુપદ પોતે પાંચ પતિ સાથે દ્રોપદીને પરણાવવામાં કંઈ ગૂંચવાયો લાગતો નથી, તેણે પાંડવો સાથે કંઈ પણ આનાકાની વિના ધામધૂમથી લગ્ન કરાવી આપ્યાં છે.[૨૩]

'જ્ઞાધ'માં સ્વયંવર મંડપનું પણ વિગતે વર્ણન મળે છે. દ્રોપદીનો સ્વયંવર એવી ભવ્ય રીતે યોજાયો હતો કે પછી, આગમ પરની વૃત્તિઓમાં કોઇ પણ સ્વયંવરની વાત આવે ત્યારે તેને દ્રોપદીના આ સ્વયંવરની ઉપમા આપવામાં આવે છે, જેમકે 'આવશ્યક સૂત્ર' પરની હારિભદ્રીય વૃત્તિમાં અને 'ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર' પરની શાંતિસૂરિની વૃત્તિમાં મથુરાના પર્વતરાજાની પુત્રી નિવૃત્તિના સ્વયંવરને 'દ્રોપદીના સ્વયંવર જેવો' કહીને સમેટી લેવામાં આવે છે.[૨૪] 'જ્ઞાધ'માં મળતા સ્વયંવર વર્ણનમાં ક્યાંય અર્જુને રાધાવેધ કરીને દ્રોપદીને મેળવી એવો નિર્દેશ નથી, જ્યારે 'કલ્પસૂત્ર' પરની લક્ષ્મીવલ્લભની ટીકામાં સ્વયંવરમાં અર્જુને રાધાવેધ કરીને દ્રોપદીને પ્રાપ્ત કર્યાનો નિર્દેશ મળે છે.[૨૫] તેને 'મ. ભા.'માં અર્જુને કરેલા મત્સ્યવેધના નિર્દેશ સાથે સરખાવી શકાય.[૨૬]

'મ. ભા.'ના આદિપર્વમાં, 'દ્રોપદી સ્વયંવરપર્વ' નામનું એક

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

આખું પેટા પર્વ મળે છે, તેમાં મુખ્ય વિગત એ છે કે દ્રુપદ અર્જુનને શોધીને તેની સાથે દ્રૌપદીને પરણાવવા માગતો હતો. તેથી એણે અર્જુન સિવાય બીજું કોઈ જેની પણછ ન ચઢાવી શકે તેવું ધનુષ્ય તૈયાર કરાવ્યું હતું.[૨૭] 'મ ભા.' માં, સ્વયંવરનાં અનેક પ્રદેશોના રાજાઓ તેમજ બ્રાહ્મણવેશે પાંડવો આવ્યાનો ઉલ્લેખ છે[૨૮] સ્વયંવરવર્ણનમાં જે અનેક રાજાઓનો તથા ક્ષત્રિયોનો નિર્દેશ છે, તેમાંથી કૃષ્ણ અને યાદવો, પાંડવો દુર્યોધન. જયદ્રથ, અશ્વત્થામા, શકુનિ, કર્ણ, કીચક, સહદેવ, શિશુપાલ અને ભીષ્મકના પુત્ર રૂક્મિ વગેરે નામો જૈન આગમમાં પણ મળે છે. અર્જુને લક્ષ્યવેધ કરતાંની સાથે, દ્રૌપદીએ એને વરમાળ પહેરાવી.[૨૯] કર્ણ શલ્ય વગેરે ક્ષત્રિયો બ્રાહ્મણને કન્યા આપવા બદલ દ્રુપદની સામે થયા. ભીમ, અર્જુન વગેરેએ શૌર્યથી તેમનો પરાજય કર્યો.[૩૦] યુધિષ્ઠિરે જ્યારે કહ્યું કે દ્રૌપદી અમારી પાંચેની પત્ની થશે,[૩૧] ત્યારે દ્રુપદને તે વાત લોકાચાર વિરુદ્ધ અને વેદ વિરુદ્ધ લાગે છે.[૩૨] તેમના મનનું સમાધાન કરવા યુધિષ્ઠિર પૌરાણિક દૃષ્ટાંતો આપે છે અને વ્યાસમુનિ દ્રૌપદીના પૂર્વજન્મની કથા કહી દ્રુપદ રાજા પાસે આ વિલક્ષણ નિર્ણય સ્વીકારાવે છે.[૩૩]

પાલિજ્ઞાતકમાં દ્રૌપદી સ્વયંવર વિશે નીચે પ્રમાણે વિગત મળે છે. રાજા બ્રહ્મદત્ત પાસે તેની કૃષ્ણા નામની કન્યાએ વર માંગ્યો કે મારે માટે સ્વયંવર ગોઠવો. રાજાએ સ્વયંવર ગોઠવી, તેમાં અનેક રાજાઓને આમંત્ર્યા. તેમાં તક્ષશિલાના જગવિખ્યાત શિક્ષક પાસે ભણીને આવેલા પાંડુપુત્રો પણ ફરતા ફરતા ગુપ્તવેશે ત્યાં આવી પહોંચ્યા. બધા ભેગા મળેલા રાજાઓમાંથી કોઈ દ્રૌપદીને ગમ્યો નહીં. અટારીમાં ઉભેલી તેણે જેવા પાંડુપુત્રોને જોયા કે તરત જ એ પાંચેના માથા પર ફૂલોની માળા ફેંકીને કહ્યું કે આ પાંચને હું પસંદ કરું છું. રાજા બ્રહ્મદત્તને પાંચને પતિ તરીકે પસંદ કરવાની વાત ગમી નહીં, તેથી તે મૂંઝાયો. પોતે પહેલેથી કન્યાને વર આપ્યો હોવાથી, તેણે ક્રમને તે વિનંતિ સ્વીકારી. આ પાંચ પાંડવો છે એમ જાણ્યા પછી, તેણે ખુશીથી દ્રૌપદીનાં લગ્ન એમની સાથે કરાવી આપ્યાં.[૩૪]

જૈન આગમમાં દ્રૌપદીનો એક પુત્ર પાંડુસેન નામે દર્શાવ્યો છે,[૩૫] જ્યારે 'મ. ભા.'માં દ્રૌપદીના પાંચ પાંડવોથી થયેલા પાંચ પુત્ર પ્રતિવિન્ધ્ય, સુતસોમ, શ્રુતકર્મા, શતાનિક અને શ્રુતસેન દર્શાવ્યા છે.[૩૬] પાલિજ્ઞાતકમાં તેના પુત્ર વગેરેનો કોઈ ઉલ્લેખ નથી.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ત્રણે પરંપરાઓમાં દ્રૌપદી સ્વયંવરથી પાંડવોને વરી હતી, એ બાબતમાં સામ્ય છે. 'મ. ભા.' ની દ્રૌપદી એક બાબતમાં જુદી પડે છે કે જરા શરમાળ છે. તે અર્જુનને વરમાળા પહેરાવીને પોતે કંઈ બોલી નથી કે હું આને વરી. 'મ. ભા.' અને પાલિજ્જતકમાં પાંચ પાંડવો સાથે પુત્રીને પરણાવવા બાબત પિતા દ્રુપદનો ખચકાટ નોંધાયો છે. એ બંને પરંપરા પ્રમાણે પાંડવો સ્વયંવરમાં ગુપ્તવેશે આવ્યા હતા. 'મ. ભા.'માં દ્રૌપદીએ કરેલી વરણી સામે બીજા રાજાઓનો વિરોધ નોંધાયો છે, તે વિશે બીજી બે પરંપરામાં ઉલ્લેખ નથી.

જૈન આગમગ્રંથ 'જ્ઞાધ' માં દ્રૌપદીના સંદર્ભમાં એક એવો મુદ્દો મળે છે, જે ધાર્મિક દૃષ્ટિએ નોંધપાત્ર છે. દ્રૌપદીએ સ્વયંવર મંડપમાં જતાં પહેલાં જિનેશ્વરના ચૈત્યમાં જઈ, જિનપ્રતિમાની વિધિપૂર્વક પૂજા અને દર્શન કરીને નમસ્કાર કરતાં કહ્યું છે.[૩૭]

नमोऽत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं ।

સ્થાનકવાસી જૈનો માને છે. કે મૂર્તિપૂજાને સમર્થન આપનો આગમનો આ ભાગ પ્રક્ષિપ્ત છે, જ્યારે 'જ્ઞાધ' ના ટીકાકાર શ્રી ઘાસીલાલજી, અહીં જિનેશ્વરની એટલે કે કામદેવની પૂજા છે એવું અર્થઘટન કરે છે[૩૮], પણ દ્રૌપદીના ઉપરના ઉદ્‌ગાર જોતાં આ અર્થઘટન પ્રતીતિકારક લાગતું નથી.

દ્રૌપદીનું અપહરણ

જૈન આગમમાં, દ્રૌપદીના અપહરણ પ્રસંગનો 'જ્ઞાધ' માં વિસ્તૃત રીતે ઉલ્લેખ મળે છે, જ્યારે આગમ પરની વૃત્તિઓ, ચૂર્ણિઓ વગેરેમાં કયાંક વિગતવાર તો કયાંક અછડતો ઉલ્લેખ મળે છે. 'મ. ભા.'માં જેમ દ્રૌપદીના જીવનનો મહત્ત્વનો પ્રસંગ વસ્ત્રાહરણનો ગણાય, તેમ જૈન આગમની દૃષ્ટિએ તેના અપહરણનો પ્રસંગ મહત્ત્વનો ગણાય.

'જ્ઞાધ' માં જણાવ્યા પ્રમાણે કચ્છુલ્લ નારદ એકવાર હસ્તિનાપુર આવ્યા, ત્યારે દ્રૌપદીએ તેમને વિરતિરહિત અને સંયમરહિત જાણી, તેમને યોગ્ય આદરસત્કાર ન આપ્યો, તેથી રોષે ભરાઈને નારદે તેનું અપ્રિય કરવાનું નક્કી કર્યું. તેમણે ધાતકીખંડ દ્વીપની અમરકંકા નગરીના રાજા પદ્મનાભ આગળ, દ્રૌપદીના અપ્રતિમ લાવણ્યની પ્રસંશા કરી, તેને દ્રૌપદીનું અપહરણ કરવા પ્રેર્યો. પદ્મનાભે પૂર્વસંગતિક દેવ દ્વારા તેનું અપહરણ કરાવ્યું. પદ્મનાભે રાણી થવા માટે દ્રૌપદીને કરેલી વિનંતિનો તેણે અસ્વીકાર કરતાં કહ્યું કે કૃષ્ણ વાસુદેવ નામના મારા પ્રિયનાભાઈ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

વિયમાડ્ય દ્વારકામાં રહે છે. છ મહીનામાં જો તે મને નહીં છોડાવે તો હું તમારું કહ્યું માનીશ. કોઈ દ્રોપદીના કહેવાથી કૃષ્ણે દ્રોપદીની તપાસ કરી. તેઓ પાંડવોને લઈ, સુસ્થિત દેવની મદદથી સમુદ્ર ઓળંગી અમરકંકા ગયા. પદ્મનાભે સંધિ કરવાની ના પાડી, તેથી કૃષ્ણે નરસિંહનું રૂપ વિકુર્વીને અમરકંકા નગરીને ભાંગી, ત્યારે ગભરાઇને પદ્મનાભ શરણે આવીને દ્રોપદીને પાછી આપી ગયો.[૩૯] આ પછીના બનાવો, કે જેમને લીધે કૃષ્ણે પાંડવો પર રોષે ભરાઇને તેમને દેશનિકાલ કર્યા, તેમની વિગત પ્રસ્તુત નહીં હોવાથી અહીં આપી નથી.[૪૦]

'જ્ઞાધ' અનુસાર, દ્રોપદીના અપહરણ પ્રસંગે ધાતકીખંડ દ્વીપના ભરત ખંડના કપિલ વાસુદેવે અને જંબુદ્વીપના કૃષ્ણ વાસુદેવે શંખના શબ્દની સામાચારી કરી, એટલે કે બંને શંખના શબ્દ દ્વારા મળ્યા.[૪૧] આને જૈન આગમનાં ગણાવેલ દસ આશ્ચર્યોમાંનું આ એક આશ્ચર્ય ગણવામાં આવે છે. કારણ કે સામાન્ય રીતે એક વાસુદેવ બીજા વાસુદેવને બીજા વાસુદેવને મળે કે જુએ એવું થતું નથી. 'સ્થાનાંગ સૂત્ર' પરની અભયદેવની ટીકામાં, અને 'કલ્પસૂત્ર' પરની લક્ષ્મીવલ્લભ ઉપાધ્યાયની, વિનયવિજયની તેમજ સંઘવિજયની વૃત્તિઓમાં પણ આશ્ચર્યદશકની સમજુતીના સંદર્ભમાં આ પ્રસંગનો નિર્દેશ મળે છે[૪૨] પ્રશ્નવ્યાકરણસૂત્ર પરની અભયદેવની તેમજ જ્ઞાન વિમલની બંને વૃત્તિઓમાં અને 'આચારાંગચૂર્ણિ'માં મૈથુનમૂલક સંગ્રામો જે સ્ત્રીઓને લીધે થયા, તેમની યાદીમાં દ્રોપદીનું નામ છે સંગ્રામના વિગતે સમજુતી આપતાં, ઉપર્યુક્ત ગ્રંથોમાં, કૃષ્ણ અને પદ્મનાભના આ સંગ્રામનો નિર્દેશ આવે છે.[૪૩] દશવૈકાલિક સૂત્ર' પરની ચૂર્ણિમાં તેમજ હારિભદ્રીય વૃત્તિમાં, જેમાં માત્ર સાંભળવાથી સ્ત્રીપુરુષને પરસ્પર માટે પ્રેમ થાય છે એવી કામકથાના સંદર્ભમાં, પદ્મનાભને લગતા આ પ્રસંગનો ઉલ્લેખ છે.[૪૪]

'મ.ભા.' ના વનપર્વમાં દ્રોપદીહરણપર્વ નામનું એક પેટાપર્વ છે, જેમાં સૌવીરના રાજા જયદ્રથે કરેલા દ્રોપદીના અપહરણની વાત નિરૂપાઈ છે. કૌરવો સામે દ્યુતમાં પરાજય પામ્યા બાદ પાંડવો વનવાસમાં રહેતા હતા, તે વખતે રાજા જયદ્રથે દ્રોપદીના રૂપથી આકર્ષાઈને, પાંડવોની ગેરહાજરીમાં દ્રોપદીનું અપહરણ કર્યું. પાંડવોને ખબર પડતાં, તેઓ જયદ્રથની પાછળ પડ્યા, તેના સૈન્યનો પરાજય કર્યો' તેને પકડી પાડી, દ્રોપદીને પાછી લઈ આવ્યા.[૪૫]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

પાલિજ્જાતકમાં દ્રૌપદીના અપહરણ પ્રસંગનો ઉલ્લેખ સરખો પણ નથી. જૈન આગમ અને 'મ. ભા.' બંનેમાં મળતા આ પ્રસંગની રજૂઆતમાં અમુક સામ્ય છે. આમાં પદ્મનાભ અને 'મ. ભા.'માં જયદ્રથ બંને દ્રૌપદીના રૂપથી મોહાંધ થઈ તેનું અપહરણ કરે છે. જૈન આગમ પ્રમાણે કૃષ્ણના પરાક્રમથી ગભરાઈ ને પદ્મનાભ અને 'મ. ભા.' પ્રમાણે પાંડવોના પરાક્રમથી પરાજિત થઈ ને, જયદ્રથ દ્રૌપદીને સોંપી જાય છે. વળી 'મ. ભા.'માં વસ્ત્રાહરણ પ્રસંગે દ્રૌપદીએ દ્વારકામાં રહેલા કૃષ્ણને ઉત્કટતાથી જે રીતે યાદ કરેલા,[૪૬] એટલી જ ઉત્કટતાથી અને શ્રદ્ધાથી અમરકંકામાં, પદ્મ નાભ વડે અપહૃત થયેલી દ્રૌપદીએ કૃષ્ણને યાદ કર્યા છે. 'મ. ભા.'માં 'કૃષ્ણની સખી' તરીકે દ્રૌપદી પોતાનો નિર્દેશ કરે છે,[૪૭] તો જ્ઞાધમાં તે કૃષ્ણને પોતાના પ્રિયના ભ્રાતા તરીકે ઓળખાવે છે. (પૃ ૧૬૦) આમ 'મ. ભા'માં દર્શાવાયેલા કૃષ્ણ અને દ્રૌપદી વચ્ચેના સંબંધની સહેજ ઝાંખી જૈન આગમમાં પણ થાય છે

સુકુમાલિકા તરીકેના ભવમાં દ્રૌપદીએ સાધ્વી તરીકે દાખવેલ શિથિલ આચાર.

સુકુમાલિકા તરીકેના ભવમાં, દ્રૌપદી દીક્ષા લીધા પછી સાધ્વી તરીકેના આચારમાં ખૂબ શિથિલ થઈ હતી, તે બાબતનો નિર્દેશ જૈન આગમ ગ્રંથોમાં ઘણીવાર આવે છે.[૪૮] તે ભવમાં, લગ્નજીવન નિષ્ફળ ગયા બાદ, તેણે આર્યા ગોપાલિકા પાસે દીક્ષા લીધી, પણ, તે સાધ્વીજીવનના નિયમો બરાબર પાળતી ન હતી. તે શરીરબકુશા એટલે કે શરીરની શોભા કરનારી થઈ. આર્યા ગોપાલિકાએ તેને આ માટે પ્રાયશ્ચિત્ત કરવાનું કહ્યું, તે પણ તેણે કર્યું નહીં. તે જ્ઞાન, દર્શન અને ચારિત્રને યથાર્થપણે પાળતી ન હતી, તેમની ક્રિયાના અનુષ્ઠાનમાં પણ આળસ કરતી હતી. આર્યા ગોપાલિકાને છોડીને તે ગઈ, તે પછી તેને અકાર્યથી અટકાવનાર કોઇ રહ્યું નહીં, તેથી અનાચાર સેવનારી થઈ. આથી જૈન આગમમાં કોઇ સાધ્વીના શિથિલ આચારની વાત જ્યારે આવે, ત્યારે દૃષ્ટાંત તરીકે દ્રૌપદીનો આ પૂર્વભવ ટાંકવામાં આવે છે, જેમ કે 'આવશ્યક ચૂર્ણિ'માં ભદ્રસેન નામના શેઠની પુત્રી શ્રીના શિથિલ આચારની બાબતમાં સુકુમાલિકાનું દૃષ્ટાંત આપવામાં આવે છે.[૪૯] 'વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિસૂત્ર' (ભગવતી સૂત્ર) પરની અભયદેવસૂરિની વૃત્તિમાં આ બાબતની ચર્ચા કરતાં સમજાવ્યું છે કે દ્રૌપદી સંયમની વિરાધના કરતી હતી, પણ તે

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ઉત્તરગુણવિષયક હતી તે શરીરની શોભા વગેરે કરતી હતી, માટે તેની મૂલ ગુણની વિરાધના ન હતી. આને લીધે તે ઉત્કૃષ્ટ એવા સૌધર્મ દેવલોકમાં જવાને બદલે તેથી ઉતરતા ઇશાન દેવલોકમાં ગણિકા તરીકે ગઈ.[૫૦]

દ્રૌપદી તરીકેના ભવમાં તેની ગતિ

જૈન આગમમાં દર્શાવ્યા અનુસાર, પાંડવોએ દીક્ષા લીધા બાદ, દ્રોપદીએ પણ સુવ્રતા નામના સાધ્વી પાસે દીક્ષા લીધી, અગિયાર અંગનો અભ્યાસ કર્યો, અને છઠ્ઠ, આઠમ દશમ વગેરે તપ કર્યા. તે ઘણાં વર્ષો સુધી ચારિત્રપર્યાયને પાળી, એક માસની સંલેખના વડે, આલોચના પ્રતિક્રમણ કરી, કાળમાસે કાળ કરી, પાંચમાં બ્રહ્મલોકમાં ઉત્પન્ન થઇ 'જ્ઞાધ'માં આ બ્રહ્મલોકમાં તેની દસ સાગરોપમ એટલે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કહી છે. ત્યાંથી તે ચ્યવીને, મહાવિદેહ વર્ષમાં ઉત્પન્ન થઇને કર્મોનો અંત કરશે (સિદ્ધ થશે), એવું ભવિષ્ય કથન પણ જૈન આગમમાં મળે છે[૫૧]

'મ. ભા.' પ્રમાણે પણ મૃત્યુ બાદ દ્રોપદીની ગતિ સ્વર્ગમાં થઈ હતી.[૫૨] બીજા પાંડવો કરતાં અર્જુન પ્રત્યે તેણે પક્ષપાત બતાવ્યો હોવાથી મહાપ્રસ્થાન વખતે, તે પાંચ પાંડવો કરતાં વહેલાં અવસાન પામી હતી,[૫૩] તેમ 'મ. ભા.'માં જણાવ્યું છે.

દ્રૌપદીનું સતી તરીકેનું આલેખન.

સામાન્ય રીતે, જૈન ધર્મગ્રંથોમાં, દ્રોપદીનું નામ સોળસતીઓમાં ગણવામાં આવે છે,[૫૪] પણ આ આ બાબતનો કોઈ આધાર જૈન આગમ ગ્રંથોમાં મળતો નથી. અલબત્ત આ ગ્રંથોમાં એનું સતીત્વ પ્રશસ્ય ગણાયું છે. 'જ્ઞાધ' માં પૂર્વસંગતિકદેવે પદ્મનાભ સમક્ષ તેના સતીત્વની પ્રશંસા કરી છે કે એવું કદાપિ થયું નથી, અને થશે પણ નહીં કે દ્રોપદી દેવી પાંચ પાંડવોને મૂકીને બીજા કોઈ પણ પુરુષની સાથે કામભોગ ભોગવતી વિચરે.[૫૫] 'કલ્પસૂત્ર' પરની લક્ષ્મી વલ્લભની સંસ્કૃત ટીકામાં જણાવ્યા પ્રમાણે પૂર્વ સંગતિક દેવે પદ્મનાભને દ્રોપદી માટે નીચે પ્રમાણે સ્પષ્ટ કહ્યું છેઃ सा सती वर्तते। त्वया मम पार्श्वे सतीनार्या अपहारः कारितः આ ટીકામાં જણાવ્યા અનુસાર દેવોએ પણ દ્રોપદી માટે કહ્યું છે, "द्रोपदी पञ्चभर्तृकाऽपि सती वर्तते।[૫૬]

'મ.ભા.' માં તો દ્રોપદી માટે 'પતિવ્રતા' અને 'મહાભાગા' એ શબ્દો વપરાયા જ છે.[૫૭] તેમાં તેને સાવિત્રી જેવી 'शीलाङ्गना' કહી છે,[૫૮] એટલું

17. Seminar on Agama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

જ નહીં કુન્તીએ કહ્યું છે કે તે તારા સચ્ચારિત્રથી બંને કુળને અજવાળ્યા છે.[૫૯] આ પરંપરામાં તો આગળ જતાં દ્રોપદી પાંચ પાતકનાશિની નિત્યસ્મરણીય નારીઓમાં સ્થાન પામી છે.[૬૦]

પાલિજ્ઞાતકમાં, કુણાલપક્ષી, સ્ત્રીઓના વિશ્વાસઘાતી સ્વભાવના પોતે કરેલા વર્ણનના સમર્થનમાં દૃષ્ટાંત આપતાં કહે છે કે હે પૂર્ણમુખ, તું સાંભળ ! મેં, એ પિતાની પુત્રી કૃષ્ણા, જે પાંચ પતિને પરણી હતી, તેને એક છઠ્ઠા પુરુષ–ખૂંધા પરિચારક સાથે પ્રેમ કરતી જોઈ છે. તે બાબતને નિરૂપતી ગાથા નીચે પ્રમાણે છે.[૬૧]

अथ अज्जुनो नकुलो भीमसेनो
युधिष्ठिलो सहदेवो च राजा ।
एते पतिपञ्चमतिच्च नारी
अकारि खुज्जवामनेन पापं ॥

આ ગાથાની સમજૂતી રૂપે અપાયેલી દ્રોપદીની કથામાં મુખ્ય વાત એ છે કે પાંચ પાંડવોની પત્ની એક ખૂંધા વામન (પરિચારક) સાથે પ્રેમ કરતી હતી. એક વાર તે માંદી પડે છે, ત્યારે તે પાંચ પાંડવો કરતાં પણ તે ખૂંધાને પોતે વધારે પ્રેમ કરે છે, એવું તેણે સંજ્ઞાથી દર્શાવ્યું. અર્જુનને આ બાબતનો ખ્યાલ આવી ગયો, તેથી તેણે તે પરિચારકને બોલાવી પૂછયું, તો વાત સાચી નીકળી તે હકીકત જાણી બધા પાંડવોનો પ્રેમ તેના પરથી ઊઠી ગયો અને તેઓ હિમાલયમાં ચાલ્યા ગયા.[૬૨]

ઉપસંહાર

જૈન આગમગ્રંથોમાં મળતા દ્રોપદીના પાત્રાલેખનને બાકીની બંને પરંપરાઓ સાથે સરખાવતાં એક બે બાબત નોંધપાત્ર લાગે છે. જૈન આગમ તેમજ મહાભારત દ્રોપદીને સતી તરીકે ઉપસાવે છે, જ્યારે પાલિજ્ઞાતકમાં દ્રોપદીને એક ચારિત્ર્યહીન સ્ત્રી તરીકે આલેખવામાં આવી છે, તે એક ખૂંચે તેવી બાબત છે.

મહાભારતમાં દ્રોપદી વસ્ત્રાહરણનો પ્રસંગ એવો છે કે જેમાં દ્રોપદીની નૈતિક તાકાત અસાધારણ હિંમત, સત્ત્વશીલતા, ધર્મશ્રદ્ધા જેવા ગુણોની આકરી કસોટી થઈ છે, અને એ કસોટીમાંથી એ સફળ રીતે પાર ઉતરી છે. આવો કોઈ પ્રસંગ જૈન આગમમાં નિરૂપાયો નથી

સાથે સાથે એ પણ નોંધવું ઘટે કે જૈન આગમમાં ધર્મકથાનુયોગના સંદર્ભમાં દ્રોપદીની કથા આલેખાઈ હોવાથી, તેના વ્યક્તિત્વની રેખાઓ 'મ. ભા.'ની દ્રોપદીના પાત્રાલેખનની સરખામણીમાં સહેજ ઊણી ઉતરે એ સ્વાભાવિક છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणी

૧ જ્ઞાતાધર્મકથાઙ્ગસૂત્ર(જ્ઞાધ) દ્વિતીય વિભાગ, ભાવનગર, ૧૯૩૦, . ૧૦૪-૧૯૧ Prakrit Proper Names, Part I (Ahmedabad, 1970), p. 390

૨. આ લેખમાં આપેલા મહાભારતના અધ્યાયો અને શ્લોકોના ક્રમાંક ભંડારકર ઓરિએન્ટલ રિસર્ચ ઇન્સ્ટિટ્યૂટે પ્રકાશિત કરેલી સમીક્ષિત આવૃત્તિના છે

૩. જાતકપાલિ (નાલંદા, ૧૧૫૯), પૃ. ૧૨૦–૧૩૮; The Jatakas (Ed. E.B. Cowell, London, 1957, Vol. V No. 536, pp. 225-228; Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I (London. 1937), p 503.

૪. જ્ઞાધ. પૃ. ૧૩૮, ૧૫૦.

૫. વહી, પૃ. ૧૫૦, ૧૭૦,

૬. વહી, પૃ. ૧૪૮, ૧૫૯, ૧૭૫.

૭. વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ, અભયદેવટીકા. (રતલામ, ૧૯૩૬), પૃ. ૮૭.

૮. આદિપર્વ, ૧૫૫, શ્લોક ૪૯-૫૦; ૧૮૭. ૧૧; સભાપર્વ, ૬૦. ૨૪.

૯. આદિપર્વ, ૧૫૫.૪૧; ૧૮૧.૩૫.

૧૦. આદિપર્વ ૧૫૭.૧૧

૧૧. સભાપર્વ ૫૨.૩૨; ૬૦.૨૭

૧૨. જાતકપાલિ, પૃ. ૧૨૪

૧૩. જ્ઞાધ. પૃ ૧૦૪–૧૧૬.

૧૪. વહી પૃ. ૧૯૧ : આ ગાથા 'જ્ઞાધ' (જૈન ધર્મ પ્રસારક સભા, ભાવનગર, ૧૯૩૦) ની આ આવૃત્તિમાં ૧૬ મા અધ્યયનને અંતે મળે છે.

૧૫. વહી, પૃ. ૧૧૭–૧૩૭.

૧૬. વહી, પૃ. ૧૯૧. જ્ઞાધ ની ઉપર્યુક્ત આવૃત્તિમાં આ ગાથા ૧૬ મા અધ્યયનને અંતે મળે છે.

૧૭. આદિપર્વ ૧૫૭, ૬–૧૪.

૧૮. વહી, ૧૮૯, ૨૭–૪૯.

૧૯. વૈદ્ય ચિં. વિ., મહાભારતની સમાલોચના, પૃ. ૧૨૮, પૃ. ૨૦૮. દેવાશ્રયી ઉમા., દ્રૌપદીના બહુપતિત્વની સમસ્યા, સ્વાધ્યાય, ફેબ્રુ. ૧૯૮૧, પૃ. ૧૨૯-૧૪૨.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

૨૦. જ્ઞાધ, પૃ. ૧૩૬.

૨૧. આદિપર્વ, ૧૫૫, ૪૧–૪૩.

૨૨. Cowell E. B., op. Cit.

૨૩. જ્ઞાધ. પૃ. ૧૩૭–૧૫૧.

૨૪. આવશ્યકસૂત્ર – હારિભદ્રીય વૃત્તિ, દ્વિતીય ભાગ, (મુંબઈ, ૧૯૧૬) પૃ. ૩૪૪; ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર–શાંતિસૂરિરચિતા વૃત્તિ (મુંબઈ, ૧૯૧૬), પૃ. ૧૪૯

૨૫. કલ્પસૂત્ર-લક્ષ્મીવલ્લભરચિતા વૃત્તિ, (મુંબઈ ૧૯૧૮) પૃ. ૪૩–૪૭.

૨૬. આદિપર્વ, ૧૭૯-૧૬.

૨૭. વહી, ૧૭૬. ૧–૧૧

૨૮. વહી, ૧૭૭

૨૯. વહી, ૧૭૯.૨૨

૩૦. વહી, ૧૮૦.૧૮૧

૩૧. વહી, ૧૮૭.૨૫

૩૨. વહી, ૧૮૭.૨૭.

૩૩. વહી, ૧૮૮. ૧૫–૧૬; ૧૮૯.૨૭–૪૯.

૩૪. Cowell, E.B. op. Cit.

૩૫. જ્ઞાધ. પૃ. ૧૮૬.

૩૬. આદિપર્વ, ૨૧૩. ૫૮–૭૦.

૩૭. જ્ઞાધ. પૃ. ૧૪૮.

૩૮. જ્ઞાધ ૫૨ની ધાસીલાલની વ્યાખ્યા,(રાજકોટ, ૧૯૬૩) પૃ. ૪૨૧.૪૨૫.

૩૯. જ્ઞાધ. પૃ. ૧૫૫–૧૭૫.

૪૦. શાહ નીલાંજના એસ, "જૈન આગમ સાહિત્યમાં શ્રીકૃષ્ણ અને દ્વારકા", સામીપ્ય, જાન્યુ–માર્ચ, ૧૯૮૫, પૃ. ૧૮૧–૧૮૯.

૪૧. જ્ઞાધ, પૃ. ૧૭૯.

૪૨. કલ્પસૂત્ર, લક્ષ્મીવલ્લભવૃત્તિ, પૃ. ૪૪૦;
કલ્પસૂત્ર, વિનયવિજયવૃત્તિ (મુંબઈ, ૧૯૩૩), પૃ. ૨૩;
કલ્પસૂત્ર, સંઘવિજયવૃત્તિ (અમદાવાદ, ૧૯૩૫), પૃ. ૨૪.

૪૩. પ્રશ્નવ્યાકરણસૂત્ર–અભયદેવવૃત્તિ, (મુંબઈ, ૧૯૩૩) પૃ. ૨૯૪;
પ્રશ્નવ્યાકરણસૂત્ર, જ્ઞાનવિમલવૃત્તિ (અમદાવાદ, ૧૯૩૭), પૃ. ૮૬;
આચારાંગચૂર્ણિ (રતલામ, ૧૯૪૧), પૃ. ૧૮૭.

૪૪. દશવૈકાલિક ચૂર્ણિ પૃ. ૧૦૬;
દશવૈકાલિક હારિભદ્રીય વૃત્તિ (મુંબઈ, ૧૯૦૦), પૃ. ૧૨૦

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

૪૫. વનપર્વ, ૨૬૮, ૨૭૧.
૪૬. સભાપર્વ, ૬૨.૧૦; ઉદ્યોગપર્વ, પૃ ૫૮·૨૧.
૪૭. સાંડેસરા ઉ. જ. દ્રૌપદી વસ્ત્રાહરણ પ્રસંગ (અમદાવાદ, ૧૯૭૬) પૃ. ૫૮–૬૫, ભાગવત દુર્ગા, વ્યાસપર્વ, મુંબઈ, ૧૯૬૯), પૃ. ૧૨૩
૪૮. જ્ઞાધ. પૃ ૧૩૧–૧૩૪; આવશ્યકચૂર્ણિ, ઉત્તરાર્ધ, (રતલામ, ૧૯૨૯), પૃ. ૨૦૨; આવશ્યકસૂત્ર–હારિભદ્રીય વૃત્તિ, ઉત્તરાર્ધ પૃ. ૭૧૪,
૪૯. આવશ્યકચૂર્ણિ, ઉત્તરાર્ધ, પૃ. ૨૦૨.
૫૦. વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિસૂત્ર–અભયદેવવૃત્તિ (રતલામ, ૧૯૩૭) પૃ. ૮૭.
૫૧. જ્ઞાધ. પૃ. ૧૮૮
૫૨. સ્વર્ગારોહણ પર્વ, ૪·૭.
૫૩. મહાપ્રાસ્થાનિક પર્વ, ૨·૩–૬.
૫૪. જૈન સિદ્ધાંતબોલસંગ્રહ–ભાગ–૫ (બીકાનેર, ૧૯૪૯) પૃ. ૧૮૫.
૫૫. જ્ઞાધ. પૃ. ૧૫૯
૫૬. કલ્પસૂત્ર, લક્ષ્મીવલ્લભવૃત્તિ, પૃ ૪૩–૪૭.
૫૭. વનપર્વ, ૨૭૭.૩
૫૮. વહી, ૨૮૩·૧૫.
૫૯. સભાપર્વ, ૭૦·૫.
૬૦. આચારમયૂખ, (મુંબઈ, ૧૯૧૫), પૃ. ૮.
૬૧. જાતકપાલિ, પૃ. ૧૨૦–૩૮.
૬૨. Cowell E. B. op. cit.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आगम साहित्य में कथाओं के प्रकार

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, बम्बई

कहानी की विद्या बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। जब आदिमानव अपने खान-पान की खोज में इधर-उधर घूमता-फिरता था तो उसने अपने जीवन संघर्ष से राहत पाने के लिए, अपने मन-बहलाव के लिए कहानी को ढूंढ़ निकाला। वह अपनी इच्छा-अनिच्छा, अभिलाषा-आकांक्षा, सुख-दुख और भय-आशंका आदि को पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, नदी-नद, पृथ्वी-आकाश, भूत-प्रेत और जादू-टोने के माध्यम से व्यक्त करने लगा।

कहानी मानव-जीवन के विकास के लिए आवश्यक है। कोई अच्छी कहानी सुनकर मन प्रफुल्लित होता है, हृदय में अद्भुत रस का संचार होता है, मन की ग्रंथियां खुल जाती हैं, रुके हुए भावावेशों का विरेचन हो जाता है और हम स्वास्थ्य-लाभ का अनुभव करने लगते हैं। वेताल पंचविंशति (कहानी १५, पृ० २२२) के संग्रहकर्ताने लिखा है-"यहां संग्रहीत कहानियों के एक अंश के कथन अथवा श्रवण से इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है; कहानी का श्रोता और वक्ता दोनों ही पाप से मुक्त हो जाते हैं तथा अनिष्ट देवी-देवताओं की बाधा उन्हें कष्टकर नहीं होती। कहानी सुनने से रास्ते चलते हुए यात्रियों का रास्ता आसानी से कट जाता है, थकान का अनुभव उन्हें नहीं होता। संघदास गणिवाचक के वसुदेवहिंडि में उल्लेख है कि जब वसुदेव और अंशुमंत रास्ता चलते-चलते थक गये तो वसुदेव ने अपने सहयात्री को अपने कंधे पर बैठाकर चलने का प्रस्ताव किया। कुमार अंशुमंत ने उत्तर दिया - "आर्य-पुत्र! इस प्रकार किसी को कंधे पर बैठाकर चलने से थकान दूर नहीं होती। आइये, हम एक-दूसरे को मनोरंजक कहानियां सुनाना शुरु करें।[1]

कहानी अपने आपमें सरल और बोधगम्य होती है जिसमें जीवन की वास्तविकता का लेखा-जोखा रहता है। मानव को जीवन में किन-किन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है, कैसे कैसे खतरों का सामना करना पड़ता है देवी-देवताओं आदि की सहायता से इन खतरों पर काबू पाकर वह किस प्रकार हंसी-खुशी का स्वस्थ जीवन व्यतीत करता है—यह सब कथा-कहानियों में प्रतिबिंबित होता है ज्ञातव्य है कि इन कहानियों में नैतिकता, धार्मिकता और दार्शनिकता का अंश नहीं रहता, ये रस, कहानियां होती हैं वास्तविक जीवन से जुड़ी हुई जिन्हें कहानी कहनेवाला बड़े नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है। कभी गंभीर बनकर, कभी सरल बनकर, कभी नाक-मुंह सिकोड़कर, कभी भौंहें चढ़ाकर, कभी सिर हिलाकर और कभी हाथ चलाकर—विविध भाव-भंगिमाओं द्वारा कहानी प्रस्तुत की जाती है, जिसे सुनकर श्रोतागण लोटपोट हो जाते हैं और विस्मय से विस्फारित नेत्रों से देखते रह जाते हैं। इस प्रकार की कहानियां सर्व सामान्य होती हैं, वे किसी जाति, संप्रदाय अथवा किसी प्रदेश-विशेष की संपत्ति नहीं होती, उनका उपयोग कोई भी कर सकता है।

आगे चलकर जैसे-जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन आने लगा और नैतिकता के मूल्यों का अंकन होने लगा, धर्मगुरुओं की कथा-कहानियों में नैतिकता का समावेश होता चला। लोक-प्रचलित इन लौकिक कथा-कहानियों का कलेवर पुराना ही था जो परंपरा से चला आ रहा था, लेकिन अब कहानी के अंत में, उसके निष्कर्ष-स्वरूप कोई धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा जोड दी गयी। महाभारत, जातक-कथाएं, प्राकृत की जैनकथाएं, तंत्राख्यायिका, पंचतंत्र, हितोपदेश, आदि उसी काल की उपज है जबकि लौकिक कथा-कहानियों में धर्म और नीति का समावेश किया जा रहा था। 'कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते' (कथा के बहाने यहां बालकों के लिए नीति का प्ररूपण किया जा रहा है) हितोपदेश का यह वाक्य इस दृष्टि से अत्यन्त सार्थक है।

बौद्धों के नंगलीस जातक (१२३) में वाराणसी के किसी आचार्य की कहानी आती है जो अपने जड़मति शिष्य को उपमाओं द्वारा पढाने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयत्नशील था। जैन आगम साहित्य में ऐसे कितने ही लघु आख्यान कहे गये हैं जिनमें उपमा, रूपक, दृष्टान्त, उदाहरण, प्रश्न–उत्तर, शंका–समाधान, संवाद आदि के माध्यम से धर्मोपदेश प्रस्तुत किया गया है।

सूत्रकृतांग सूत्र में (प्रथम श्रुतस्कंध, ६, ३६६–३७५) भगवान महावीर का स्तवन करते समय, जैसे वृक्षों में शाल्मलि, वनों में नंदन, शब्दों में मेघगर्जन, तारों में चन्द्रमा, गंधों में चंदन, समुद्रों में स्वयंभूरमण, नागों में धरणेन्द्र, हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा, पक्षियों में गरुड़, पुष्पों मे अरविंद, दानों में अभयदान, सत्य वचनों में अनवद्य वचन, तपों में ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ कहा गया है, उसी प्रकार ज्ञातृपुत्र महावीर को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है।

आइए, एक रूपक पर दृष्टिपात करें। यहां रूपक द्वारा मोह से आच्छन्न संसारी जीव की दशा पर प्रकाश डाला गया है।

(आचारांग, १–६–१–१७८)

(क) किसी कछुए का मन किसी सरोवर में संलग्न है। वह सरोवर कमल–पत्रों से आच्छन्न है, अतएव वह कछुआ उन्मुक्त आकाश को देखने से वंचित रह जाता है। यहां संसार को एक सरोवर कहा गया है जिसमें कछुए के रूप में संसारी जीव निवास करता है। जैसे सरोवर कमल–पत्रों से ढंका हुआ है, वैसे ही संसार कर्मों से ढंका है जिससे जीव सन्मार्ग के दर्शन नहीं कर पाता।

(ख) जिस प्रकार वृक्ष अपने स्थान को नहीं छोड़ते, उसी प्रकार संसारी जीव अनेक प्रकार के कुलों में जन्म लेते रहने पर, रूप आदि विषयों में आसक्त होकर करुण विलाप करते हैं। अंत में उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। वे अपने ही स्थान पर स्थिर रहते हैं।

ज्ञाताधर्मकथा जिसे णायाधम्मकहा, णाहधम्मकहा अथवा णाणधम्मकहा भी कहा गया है, जैन कथा–प्रकारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस कथासंग्रह में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णाय अर्थात् उदाहरणों—दृष्टान्तों द्वारा भगवान् महावीर की कथाओं का वर्णन किया गया है, अतएव इसे णायाधम्मकहाओ नाम दिया गया है। मयूरी के अण्डों के दृष्टान्त द्वारा संयम के प्रति शंकित और निःशंकित भाव को व्यक्त किया गया है। दो सार्थवाह-पुत्रों को उद्यान के एक मालुका—कुंज में मयूरी के दो अण्डे मिले। अण्डों को वे अपने घर ले गये। पहला सार्थवाह-पुत्र, यह जानने के लिए कि अण्डे में से मोर का बच्चा निकलेगा या नहीं, बार-बार अण्डे को हिलाता-डुलाता और कान में बजाकर देखता जिससे अण्डा निर्जीव हो गया और उसमें से बच्चा नहीं निकल सका। लेकिन दूसरे सार्थवाह-पुत्र को इस बात का निश्चय था कि अण्डे में से मोर का बच्चा निकल कर अवश्य बाहर आयेगा। अतएव वह न कभी अपने अण्डे को हिलाता-डुलाता और न कभी कान में बजाकर ही देखता। नतीजा यह हुआ कि पहले सार्थवाह-पुत्र का अण्डा निर्जीव होकर मर गया जबकि समय बीतने पर दूसरे सार्थवाह-पुत्र के अण्डे में से मोर का बच्चा पैदा हुआ। बच्चे के बड़े होने पर सार्थवाह-पुत्र ने उसे नृत्यकला की शिक्षा दी। इस दृष्टान्त द्वारा संयम को निःशंकित भाव से पालने की शिक्षा दी गयी है (३)। आगे चलकर कूर्म नामक चौथे अध्ययन में दो कछुओं के दृष्टान्त द्वारा अपनी इंद्रियों पर निग्रह रखते हुए स्वच्छन्द भाव से आचरण न करने का उपदेश है। रोहिणी नामक सातवें अध्ययन में उज्झिका (त्याग देने वाली), भोगवती (भोगने वाली), रक्षिका (रक्षा करने वाली) और रोहिणी (पैदा करने वाली) नामक चार पतोहुओं के रूपक से पांच महाव्रतों को त्याग देने वाले, आजीविका के लिए उनका उपभोग करने वाले, उनकी रक्षा करने वाले और उनका संवर्धन करने वाले श्रमण-निर्ग्रंथों को उपदेश दिया गया है। ज्ञातव्य है कि रोहिणी की कथा लोक-प्रचलित लोककथा पर आधारित है। बाइबिल की सेंट मैथ्यू (२५) और सेण्ट ल्यूक (१९) की कथा से इसकी तुलना की जा सकती है। बौद्धों के मूल सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु (पृ० ६२) में भी यह कथा कुछ रूपान्तर के साथ संग्रहीत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगे चलकर मल्लीचरिय नामक आठवें अध्ययन में अगड़दर्दुर (कूपमंडूक) और समुद्रददुर (समुद्री मेंढ़क) का सुंदर संवाद प्रस्तुत किया है जो कहानी-कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस संवाद के माध्यम से कांपिल्यपुर के राजा जितशत्रु को प्रबुद्ध किया गया है। नौवें अध्ययन में जिनपालित और जिनरक्षित नामक माकंदीपुत्रों के कथानक के माध्यम से श्रामण्य दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् सांसारिक कामभोगों के प्रलोभन से दूर ही रहने का उपदेश है। इस कथा की तुलना बौद्धों के वलाहस्स जातक (१९६) और दिव्यावदान की कथा से की जा सकती है।

मूलसूत्रों में कथा के प्रकारों की दृष्टि से उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र-टीकाएं महत्वपूर्ण हैं। धार्मिक-काव्य की दृष्टि से उत्तराध्ययन उल्लेखनीय है; यहाँ उपमा, दृष्टान्त, रूपक, प्रश्न-उत्तर और संवाद आदि के माध्यम से त्याग, वैराग्य एवं संयम में दृढ रहने का बोध प्रदान किया गया है। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक की तुलना बौद्धों के धम्मपद, सुत्तनिपात और जातकों से की गयी है, अतः इन सूत्रों का महत्व और बढ़ जाता है।[२]

उत्तराध्ययन के विनय नामक प्रथम अध्ययन में घोड़े की उपमा द्वारा मुमुक्षु को उपदेश देते हुए कहा है: जैसे मरियल घोड़े को बार-बार चाबुक मारने की जरूरत होती है, वैसे मुमुक्षु को बार-बार गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करनी चाहिए। तथा जैसे अच्छी नस्ल का घोड़ा चाबुक देखते ही ठीक रास्ते पर चलने लगता है, उसी प्रकार गुरु के आशय को समझ कर पाप कर्म से दूर रहना चाहिए। औरभ्रीय नाम के सातवें अध्ययन में क्षणस्थायी विषय-भोगों से दूर रहने का उपदेश देने के लिए मेढे और काकिणी (एक बहुत छोटा सिक्का) को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहां सांसारिक काम-भोगों को कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस की बूंद के समान क्षणस्थायी बताते हुए, आयु की अल्पता के कारण, कल्याण-मार्ग के प्रति जागरूक रहने का आदेश दिया गया है। अन्य कथा-प्रकारों में कापिलीय अध्ययन, नमिप्रव्रज्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अन्तर्गत नमिराजा और इन्द्र का संवाद, हरिकेशीय अध्ययन के अन्तर्गत चाण्डाल कुलोत्पन्न श्रमण हरिकेश और वेदानुयायी ब्राह्मण का संवाद, इक्षुकारीय अध्ययन के अन्तर्गत, पिता–पुत्र का संवाद, मृगापुत्रीय अध्ययन के अन्तर्गत श्रमण–दीक्षा के अभिलाषी मृगापुत्र का अपने माता–पिता से संवाद, केशी–गौतमीय अध्ययन के अन्तर्गत केशी और गौतम के संवाद द्वारा सदा संयम में स्थिर रहने का उपदेश दिया गया है।

उत्तराध्ययन की भांति दशवैकालिक सूत्र भी प्राचीन होने के कारण भाषाशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसकी कतिपय गाथाएं आचारांग सूत्र से मिलती हैं। बौद्धों के प्राचीन सूत्रों के साथ भी समानता पाई जाती है। द्रुमपुष्पित अध्ययन में श्रमणों को उपदेश देते हुए कहा है :

जैसे भ्रमर पुष्पों को बिना पीड़ा पहुंचाये उनमें से रस का पान कर अपने आपको तृप्त करता है, वैसे ही भिक्षु आहार आदि की गवेषणा में रत रहता है।[३]

मूल आवश्यकसूत्र में नित्यकर्म के प्रतिपादक छह आवश्यक क्रियानुष्ठानों का ही वर्णन इष्ट है, अतएव इसमें कथा–भाग के सम्मिलित किये जाने का प्रश्न नहीं उठता, फिर भी इस मूलसूत्र के लोकप्रिय होने से जितनी व्याख्याएं इस पर लिखी गयीं उतनी अन्य किसी सूत्र पर नहीं। इनमें जिनदासगणि महत्तर (छठी शताब्दी ई.) कृत आवश्यक चूर्णी, तथा हरिभद्रसूरि (८वीं शताब्दी ई.) एवं मलयगिरि (१२वीं शताब्दी ई.) कृत टीकाएं कथा-प्रकारों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन टीकाओं में अनेक सरस लौकिक एवं धार्मिक कथाएं संग्रहीत हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं।[४] उत्तराध्ययन सूत्र भी व्याख्या साहित्य के अन्तर्गत कथा कहानियों की दृष्टि से बहुत महत्व का है। वादिवेताल शान्तिसूरि (११ वीं शताब्दी ई.) कृत शिष्यहिता नाम की पाइय-टीका और नेमिचन्द्र सूरि (देवेन्द्रगणि ११ वीं शताब्दी ई.) कृत सुखबोधा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम-साहित्य में उल्लिखित बहुत-सी कथा-कहानियां ऐसी हैं जिन्हें 'वृद्धसंप्रदाय', 'पूर्व प्रबंध' अथवा 'अनुश्रुति' गम्य कहा गया हैं। उदाहरण के लिए अंतकृद्दशा (६) में उल्लिखित राजगृहके अर्जुनक माली और मुद्गरपाणि यक्ष की कथा को वादिवेताल शांत्याचार्यने उत्तराध्ययन की व्याख्या में 'वृद्ध-संप्रदाय' गम्य कहा है।

आगम ग्रंथों पर उत्तरकालीन जैन आचार्यों द्वारा लिखी गयी व्याख्याओं में कथा-साहित्य खूब ही पल्लवित हुआ। निर्युक्ति-साहित्य (ईसवी सन् के ५वीं-६ठी शताब्दी के पूर्व) में कथानकों, आख्यानों, उदाहरणों, दृष्टान्तों और उपमानों का प्राकृत गाथाओं के रूप में उल्लेख मात्र किया गया है। यह साहित्य इतना सांकेतिक एवं संक्षिप्त है कि बिना व्याख्या के मुश्किल से बोध गम्य होता है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति (८३३-८३६) में चोल्लक (भोजन), पाश, धान्य, द्यूत, रत्न, स्वप्न, चक्र, चर्म, जुग और परमाणु के दृष्टान्तों द्वारा मनुष्य जन्म की दुर्लभता का उल्लेख है। आवश्यक निर्युक्ति (१३६) में गाय, चन्दनभेरी, चेटी, श्रावक, बधिर, गोह और टंकण देशवासी म्लेच्छ वणिकों के दृष्टान्तों द्वारा योग्य और अयोग्य शिष्यों के लक्षणों का प्रतिपादन है। कितने ही धार्मिक एवं पौराणिक आख्यान यहां संग्रहीत हैं जिन पर उत्तरकालीन जैन विद्वानों द्वारा स्वतंत्र कथा-ग्रंथों का निर्माण किया गया। औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिक एवं पारिणामिकी नामक चार प्रकार की बुद्धियों के रोचक उदाहरण दिये गये हैं जिनमें लोक-प्रचलित कथाओं का समावेश है।

निर्युक्ति साहित्य के अतिरिक्त, संग्रहणी, भाष्य, महाभाष्य, चूर्णी, टीका, विवृति, विवरण, वृत्ति, दीपिका, अवचूर्णी, भाषाटीका, वचनिका आदि जो विपुल साहित्य आगम-ग्रंथों पर लिखा गया, उसमें उल्लिखित कथाकहानियों के प्रकार अध्येताओं के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

कथाओं के विविध प्रकार :-

महावीर द्वारा प्रतिप्रादित निर्ग्रंथ धर्म निवृत्ति प्रधान धर्म रहा है, अतएव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आगम-साहित्य और उनकी व्याख्याओं में उल्लिखित जैनकथाएं वैराग्यरस प्रधान ही रही हैं जिनसे पाठकों का मन सांसारिक विषयवासनाओं से निवृत्त होकर अध्यात्म की ओर उन्मुख हो सकें। दशवैकालिक निर्युक्ति (२१२-२१५) में उल्लेख है कि जैनश्रमणों को किस प्रकार की कथा सुनानी चाहिए :

"जिस कथा को सुनकर शृंगार-रस उद्दीप्त हो, मोह जाज्वल्यमान हो और उत्तेजना जागृत हो, ऐसी कथा श्रमण को न कहनी चाहिए। उसे ऐसी ही कथा सुनाना योग्य है जिसमें तप और नियम का विवेचन हो और जिसके श्रवण से वैराग्य भाव की वृद्धि हो।"

यहां अर्थ, काम, धर्म और मिश्रित कथाओं के भेद से कथा के चार प्रकारों का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु आगे चलकर कुवलयमाला के कर्ता दाक्षिण्यचिन्ह उद्योतनसूरि (८वीं सदी ई.) ने अर्थ एवं कामकथा के पूर्व धर्म-कथा को प्रमुखता प्रदान की है। आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी के भेद से धर्मकथा चार प्रकार की कही गयी है।

दशवैकालिक-निर्युक्तिकार की भांति हरिभद्रसूरिने भी उपर्युक्त चार कथाओं में अर्थकथा को प्रमुख माना है। उन्होंने असि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, धातुवाद तथा अर्थोपार्जन के हेतु साम, दण्ड, भेद तथा उपप्रदान द्वारा अर्थ की सिद्धि का उल्लेख किया है[६]। अर्थोपार्जन के लिए विदेश-यात्रा पर जाने वाले कितने ही सार्थवाहों और व्यापारियों की साहसिक कथाएं जैनग्रंथों में संग्रहीत हैं।

अपनी धर्मकथाओं को रोचक एवं प्रभावशाली बनाने हेतु जैन विद्वानों ने कामकथा का भी आश्रय लेना उचित समझा। मलधारि राजशेखरसूरि (१४ वीं शताब्दी ई०) ने अपने विनोदात्मक कथासंग्रह (१) (अपरनाम कथाकोश) में कमलश्रेष्ठी के पुत्र की कथा प्रस्तुत की है। जब उसके पुत्र को दो धर्मगुरु अपने धर्मोपदेश द्वारा सुमार्ग पर न ला सके तो उसे तीसरे धर्मगुरु के सुपुर्द किया गया जिसने अपने प्रवचन में शृंगार रस का पुट देकर उसे धर्म के प्रति उन्मुख किया। इस संबंध में वसुदेवहिंडि के मज्झिमखंड की भूमिका (पभा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वतीलंभ, पृ० ३) में उल्लेख है : जैसे कोई वैद्य अमृत-रूप औषध पान से पराङ्मुख किसी रोगी को मनोभिलषित औषधपान के बहाने अपनी औषध का सेवन कराता है, उसी प्रकार कामकथा के श्रवण करने में दत्तचित्त श्रोताओं के मनोरंजन के हेतु, शृंगारकथा के बहाने से मैं अपने धर्म का व्याख्यान करता हूं। गुणाढ्य की नष्ट हुई अनुपम कृति, पैशाची प्राकृत में निर्मित 'वड्डकहा' के आधार पर रचित संघदासगणि वाचक कृत वसुदेवहिंडि को शृंगारी कथा कहना ही उचित होगा। यहां वासुदेव कृष्ण के पिता वसुदेव के एक से एक अनुपम सुंदरियों के साथ विवाह करने का रोमांचकारी वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

भगवान महावीर ने सर्वसाधारण के लिए बाल, वृद्ध एवं स्त्रीजनों के लिए मगध में बोली जानेवाली मागधी अथवा अर्धमागधी बोली में, सर्वजन कल्याणकारी अपने निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया था। उनके उपदेश सरल और बोधगम्य थे जिन्हें वे लोक-प्रचलित उपमा, दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, वार्ता, आख्यान आदि द्वारा रोचक एवं मनोरंजक बनाने का प्रयत्न किया करते थे। लोक-प्रचलित कथा-कहानियों पर आधारित इन उपदेशों में कथानक-रूढ़ियों (मोटिफ़) का भी समावेश हुआ है जो इन कथाओं की समृद्धि का द्योतक है। श्रमण भगवान ज्ञातृपुत्र महावीर के इन उपदेशों का संग्रह आगम-साहित्य में किया गया है अतएव इस साहित्य में हमें कथाओं के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं-दृष्टान्तकथाएं, लघुकथाएं, नीतिकथाएं, आख्यान, वार्ताएं आदि। आगम साहित्य की इन कथाओं को आधार मानकर जैसा कहा जा चुका है, उत्तरकालीन जैन विद्वानों ने इनको विस्तृत रूप प्रदान किया, स्वतंत्र कथा-ग्रंथों एवं अनेक महत्वपूर्ण कथाकोशों की रचना कर जैन कथा साहित्य के भंडार को समृद्ध बनाया।

पंचतंत्र के सुप्रसिद्ध अध्येता, अनेक जैन कथा ग्रंथों के जर्मन-अनुवादक एवं 'आन द लिटरेचर आव श्वेताम्बराज आव गुजरात' (लाइप्सिग, १९२२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के यशस्वी लेखक जोहानेस हर्टल ने लिखा है—जैन कथा साहित्य केवल संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए ही उपयोगी नहीं, भारतीय सभ्यता के इतिहास पर इससे महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।...इस विशाल कथा-साहित्य में जो सामग्री सन्निहित है, वह लोकवार्ता के अध्येता विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। ....इन विद्वानों ने हमें कितनी ही ऐसी अनुपम भारतीय कथाओं का परिचय कराया है जो हमें अन्य किसी स्रोत से उपलब्ध नहीं हो पातीं।

भारतीय साहित्य के इतिहास के सुप्रसिद्ध लेखक मौरिस विण्टरनित्सने लिखा है-"जैन कथाकारों ने यत्र-तत्र बिखरी हुई लोककथाओं को अपने धार्मिक आख्यानों में स्थान देकर इस विपुल साहित्य को सुरक्षित रखने में सहायता की है, अन्यथा हम इससे वंचित ही रह जाते।"

टिप्पणी

१. पृष्ठ २०८, पंक्ति २३-२८। संथाली कहानियों में भी यह पहेली बुझाई गई है। कोटा अपने साथी से कहता है कि हम दोनों बारी-बारी से एक-दूसरे को कंधे पर बैठाकर ले चलें जिससे मार्ग जन्य थकान न हो। इस पहेली का मतलब है कि हम एक-दूसरे को कहानी सुनाते हुए चलें जिससे रास्ता सुख से कट जाय। सी. एच. बोम्पास, फोकलोर ऑव संथाल परगनाज, पृ. २६९ आदि। हरिषेण-कृत 'बृहत्कथाकोश' में श्रेणिक आख्यान (५५. ४३-६६) के अंतर्गत यही प्रसंग उपस्थित किया गया है।

२. उत्तराध्ययन की कथाओं का जर्मन अनुवाद Die Bekehrung des konigs Nami (राजा नमि की प्रव्रज्या) शीर्षक के अन्तर्गत, हस्तलिखित जैन लघुचित्रों के साथ जर्मन गणतंत्र, बर्लिन के प्रोफेसर डाक्टर वोल्फनगांग मौर्गेनरोथ द्वारा किया गया है (१९७९)।

३. जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आविय्इ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं॥
तुलना कीजिए:
यथापि भमरो पुप्फं वण्णगंधं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥ — धम्मपद, पुप्फवग्ग ६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. Die Āvahśyaka-Erzāhlungen(दी आवश्यक एर्त्सेलुंगेन=आवश्यक कथाएं) का प्रथम भाग अर्नेस्ट लायमान द्वारा संपादित, लाइप्त्सिग, १८९७

५. Ausgewāhlte Erzāhlungen in Mahārāṣṭrī. (आउसगेवैल्ते एर्त्सेलुंगेन इन महाराष्ट्री – महाराष्ट्री प्राकृत से चुनी हुई कहानियां), हर्मान याकोबी द्वारा संपादित, १८८६, जे. जे. मेयर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, लंदन. १९०९

६. देखिए, दशवैकालिक निर्युक्ति (३, १८९), हारिभद्रीय टीका, पृ. १०६. समराइच्चकहा, पृ. ३ ।

७. विशेष अध्ययन के लिए लेखक की कतिपय कृतियां :
- दो हजार बरस पुरानी कहानियां, १९४६, १९६५ (द्वितीय संस्करण).
- लाइफ इन एंशिएंट इंडिया एज डिपिक्टेड इन जैन कैनन एंड कामेण्टरीज़, १९४७, १९८४ (द्वि.सं.)
- प्राचीन भारत की श्रेष्ठ कहानियां (बौद्ध कहानियां),१९४८,१९७०(द्वि०सं०)
- प्राकृत साहित्य का इतिहास, १९६१, १९८५ (द्वि.सं.)
- प्राकृत जैन कथा साहित्य, १९७०.
- द वसुदेवहिंडि – ऐन ऑथेण्टिक जैन वर्जन आव द बृहत्कथा, १९७७.
- नारी के विविध रूप, १९७९.
- प्राकृत नरेटिव लिटरेचर–ओरिजिन एण्ड ग्रोथ, १९८१.
- सेवन पल्र्स आव विज़डम, १९८४.
- वुमेन इन एंशियण्ट इण्डियन टेल्स, १९८७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

A QUANTITATIVE EVIDENCE TO SHOW THAT THE ANCIENT JAIN ĀCHĀRYAS MIGHT HAVE PERECEIVED ELEMENTARY PARTICLES OF MATTER THROUGH EXTRA SENSORY PERCEPTION.

* S. S. Pokharna
+ B. S. Pokharna
** J. S. Pokharna

ABSTRACT

Some ideas about extra sensory perception (ESP) in Jainism are presented. It is claimed that the true knowledge is structured in the soul and matter obstructs this knowledge. By getting rid of the material attachment, one can acquire a pure soul and can therefore perceive the whole reality. This knowledge is not restricted by space and time and can be developed to such an extent that one starts perceiving even the microscopic particles of matter. The sizes of these particles as given in Jainism are quite comparable to the sizes of the modern constituents of matter. A simple interpretation of their ideas do not contradict the recent conclusions of Taylor and Balanovskii that electromagnetism is not involved in the transfer of paranormal information.

1. INTRODUCTION

Ancient Indians are claimed to be the masters of several paranormal phenomena like telepathy, clairvoyance and others. Any literature written about these masters, if studied in a scientific way, could provide new avenues of thought. The present paper concerns with an attempt made in this direction

The present work is based on a systematic study of the Jaina theory of knowledge,[1] the interrelation between matter and the soul, and the system of measurement of length in Jainism[2]. The basic assumption of their philosophy is that the knowledge is structured in the soul and in the state of purity, a perfect soul has infinite

* Scientist, Space Applications Centre (ISRO), Ahmedabad.
+ 79, Maldas Street, Udaipur 313001.
** Senior Manager, Management Services, HCL, Khetrinagar, 333504

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

knowledge, infinite intuition, infinite bliss and infinite power. However they argue that matter hinders these characteristics of a pure soul (this matter is called Karma). But if once this obstruction is overcome, a pure soul sarts exhibiting its innate nature. Before approaching this state of perfection, one has to pass through a series of intermediate stages. Telepathy and Clairvovance are then treated as classes of knowledge possessed by a mundane soul during these intermediate stages. It is claimed that in the state of perfection one can even perceive the microscopic particles of matter and can therefore have a rough idea about their sizes.[3] This is evident from the table of measurement developed by the ancient Jainas. A rough estimate of the sizes of the microscopic particles of matter from their table.[4] indicates that their result is quite comparable with the sizes of atoms and nuclei found in the modern physics[5]. If this agreement is not a mere coincidence then it indicates the great importance of their concept of knowledge as being structured in the soul. Also a simple interpretation of their observations does not contradict the recent experimental observations of Taylor[6] and Balanovskii that electromagnetism is not involved in the paranormal phenomena.

It may be noted that we do not wish to make big claims but we feel that there is some weight in this kind of work specially when there is some quantitative agreement. In addition, this work should be viewed in the light of the problems encountered while measuring the sizes of the microscopic particles of matter and one should not forget that this work of Jainas is based on the literature (dating) 300 B.C. to 500 A.D.

2. THE JAINA THEORY OF KNOWLEDGE.

Jainas argue that knowledge experienced directly through the pure soul is the only real knowledge which is called Kevala-jñāna (kevala means only, thus kevala jñāna means the only knowledge), This is not restricted by the limitations of space and time. It is defined as a paripūrṇa (perfect), asādhāraṇa (unique), samagra (complete), nirapekṣa (absolute), viśuddha (pure) and sarva-bhāva-jñāpaka (all pervading). In this state one has knowledge of the whole world and its various modes Reality is intuited fully without any

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

obstruction whatsover (space, time and others). Attributes of all substances are perceived simultaneously. But the past is perceived as in past, future is perceived as in future and present is perceived as in present.

In this state the soul is absolutely free from matter i.e. karmas. However, an ordinary mundane soul does not possess this knowledge because of its association with the knowledge-obscuring karmas. Jainas have recognised five subtypes of knowledge-obscuring Karmas each one of which obstructs one kind of knowledge. These five sub-types of karmas and the corresponding classes of knowledge are now described as follows :-

(i) Mati Jñāna (knowledge acquired through one's own mind) :

Mati means mind. Thus mati jñāna is the knowledge acquired through one's own mind and the five sense-organs. There is no dependence on other instruments and observers. This type of knowledge is termed as parokṣa jñāna (indirect knowledge). A person who does not possess this knowledge is said to be strongly infected by the Mati jñānāvaraṇa karmas, being associated with his soul. A variation in the quality of this knowledge among different persons is understood by the presence of different quantity of these karmas with varying degree of binding. A person who initially does not possess this knowledge can acquire it by dissociating these karmas.

(ii) Śruta Jñāna (knowledge acquired by listening and through other sources) :

Śruta means to hear. Thus śruta jñāna means the knowledge acquired through the reliable words of others like teachers and other authorities who are well-versed in the knowledge they are communicating. It also includes the knowledge derived from scriptures and other books written by authentic persons. This type of knowledge is also of parokṣa type (indirect one). A person not possessing this knowledge is said to be infected with the Śruta-jñānāvaraṇa karmas. The variation of this knowledge with time and among different individuals has been attributed to the variation in the quantity of these karmas and their binding with the soul.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) Avadhi Jñāna (Clairvoyance) :

Avadhi means duration. Avadhi jñāna therefore refers to man's capacity to perceive objects lying at different parts of the space at different times and also to perceive events taking place at different parts of space at different times. Its modern equivalent is clairvoyance. Mind and sense-organs are not involved in this kind of knowledge and so it is termed as pratyakṣa jñāna (direct knowledge) because this knowledge is a direct experience of the soul. The karmas obstructing this knowledge are termed as avadhijñānāvaraṇa-karmas. Their quantity and bondage differs from an individual to individual. But in principle everyone is capable of acquiring this knowledge by dissociatlng oneself from the bondage of the Avadhi-jñānāvaraṇa-karmas. With the decrease in the quantity and bondage of these karmas, the quality of clairvoyance improves

(iv) Manaḥparyāya Jñāna (Telepathy) :

Manaḥ means mind and paryāya means mode. So manaḥ paryāya jñāna means man's capacity to perceive the modes of others' minds directly without the help of sense-organs. It corresponds to telepathy in the modern terminology. It has been also treated as a pratykṣa jñāna (direct knowledge). Here the modes are nothing but the reflections of the different states of thoughts experienced in the minds of others. However in contrast to clairvoyance which can be present among all members of the animate kingdom, telepathy is claimed to be restricted only to the human beings. The karmas obstructing this knowledge are termed as Manaḥparyāya-jñānāvaraṇa-karmas. Once again their quantity and bondage differ from person to person and hence the quality of this knowledge also differs among them. But by dissociating oneself from the evil influence of these karmas, one can start acquiring this knowledge.

v) Kevala Jñāna (The Supreme knowledge)

Kevala means only. This is believed to be the highest form of knowledge which one can think of. After acquiring this knowledge, all other forms of knowledge disappear completely. Details of this knowledge have already been presented earlier. The karmas obstructing this knowledge are called the kevala jñānāvaraṇa-karmas. In the state of kevala jñāna, a soul is completely free from matter.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. POSSIBILITY OF PERCEIVING MICROSCOPIC PARTICLES OF MATTER THROUGH EXTRA SENSORY PERCEPTION.

From the above discussion, it is clear that according to Jainism, extra sensory perception can be developed and perfected to a very great extent and kevala jñāna is its ultimate limit. In order to check the truthfulness of these hypothetical ideas, we have investigated the problem further. We have found an interesting collection of data which can provide a quantitative evidence about this hypothesis. This collection of data is based on the Jaina system for measurement of length. This (see Table No. 1) indicates that the ancient Jains had a remarkable scientific vision and a deep insight for systematization of their logical hypotheses. The table shows that they have used an octal system for the measurement of length. This should be compared with the decimal system used in the modern physics (see. Table No. 2) In addition this table covers a very wide range of physical dimensions starting from the size of the smallest particles of matter to microscopic sizes of few kilometers.

Now the mere fact that they had thought of estimating the microscopic particles of matter is a very interesting observation. Moreover the existence of the estimates of these sizes is very challenging in view of the difficulties encountered in measuring the sizes of such particles. It is claimed that these results have been arrived at through the so called knowledge of the inner intuition. It is therefore of great interest to estimate the actual sizes of their microscopic particles in our terminology and to compare them with the sizes of the modern atoms and the nuclei.

To have some physical meaning of this comparison let us first understand the meaning of the term paramāṇu. This is considered as the smallest particle of matter. The term paramāṇu consists of two words, parama and aṇu. Parama means ultimate and Aṇu means particle. Thus paramāṇu means the ultimate particle of matter which cannot be further divided and which should be therefore treated as the fundamental particle of matter. It is treated as a point-like particle which does not have any length, breadth or height. Each paramāṇu has one colour, one odour, one taste and one touch. When two or more than two paramāṇus combine, one skandha is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

formed. In general any number of paramāṇus can combine to form a skandha. Ultimately an infinite numer of paramāṇus can combine. Several classes of skandhas have been described in the scriptures. Avasannāsannā skandha is just one of the skandha formed by an infinite number of parmaṇus. This has been treated as the smallest particle of matter for all practical purposes. Let us therefore estimate its size. The tabel shows that the average width of ordinary finger is related with the size of the avasannāsannā skandha by the following relation.

8^{12} (Size of avasannāsannā skandha) = Average width of a finger.

For simplicity, let us take the average width of a finger to be around 2cm. With this assumption,the size of the avasannāsannā turns out to be 2×8^{-12} cm. or $2{\cdot}9 \times 10^{-11}$ cm. This value lies in between the size of the ordinary atom, which is of the order of 10^{-8} cm, and the average size of an ordinary nucleus, which is of the order of 10^{-13} cm.

We cannot make this comparison very precise because there are a large number of uncertainties. Thus we cannot say whether avasannāsannā skandha of the Jainas corresponds to an atom or a nucleus. This is so because conceptually there is not much similarity in these two descriptions except for the fact that the avasannāsannā skandha is treated as the smallest particle of matter, and atoms (not now of course) and nuclei are also considered as the smallest particles of matter in the modern physics. Hence they all occupy some part of the space. Another hurdle in making this comparison more exact is that we do not know much about the various physical objects used by the ancient Jainas in framing this table. (Hence we cannot check their sizes.)

This comparison of the sizes is therefore definitely very crude but even this rough agreement cannot be left unnoticed in view of (i) the problems encountered while measuring (or even guessing) the sizes of the smallest particles of matter, (ii) the fact that this work of Jainas is about 2000 years old and lastly (iii) the fact that this result has been arrived at by an entirely different procedure viz. extra sensory perception.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

If we treat this rough agreement as not a mere coincidence this would mean that extra sensory perception is a hard reality and is a new channel for acquiring knowledge of the world. A knowledge which is beyond the limits of space and time but still concerns with the space-time description of the physical world. Now since we are dealing with an entirely new method for acquiring knowledge, this method can be very different from the standard scientific methods. So we must now deal with this new method in some detail and investigate new laws or conditions which are required to be fulfilled for acquiring this knowledge. Hence in this spirit we now describe the ethical doctrines of the Jainas in the next section.

4. Ethical Doctrines for acquiring the highest state of perfection of soul.

From the discussion of section 2, it is now clear that in order to achieve the perfection of the soul with infinite knowledge, one has to dissociate oneself completely from the clutches of the matter attached with his mundane soul. But this is not done suddenly. One has to follow a systematic approach.

Five fundamental principles have been laid down for the process of cleansing. They are (i) Ahiṁsā (Non-violence) (ii) Satya (Truth-speaking), (iii) Asteya (Non-stealing), (iv) Brahmacarya (Celibacy) and (v) Aparigraha (Non-possession). It has been very strongly emphasised that one should not only follow these principles in the physical sense but also in the psychical sense.

Jainism considers that the preparation for attaining the perfectness of the soul should not be postponed to the stage of complete renunciation. Since renunciation is not merely physical but is primarily psychical, It is a slow process. Hence the preparation for leading a spiritual life should begin early in the life. They have therefore enunciated two fold duties : (i) the household and (ii) the monastic. There are some relaxations for a householder but a monk has to follow the above principles very strictly.

It is clearly specified that to get enlightenment one has to practice a series of spiritual exercises like that of reading of scriptures, serving the holymen and other enlightened preceptors (Gurus), daily practice of yoga, Āsanas, Meditation etc. With these spiritual exer-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

cises one's inner pleasure increases and one feels that all this material accumulation hinders this pleasure hence the renunciation dawns automatically.

Now the first 3 of the above 5 principles have the usual meaning. We shall therefore explain the last two in some detail. Non-possession means that one should renounce one's wealth, property, and other things as much as possible. But a monk has to renounce not only his wealth, property and family etc. but has to even renounce their thoughts and feelings of attachment. At the highest stage of perfection a monk does not require even food, water, air etc. Ultimately he does not require the media of mind to get the full knowledge of the world.

Violence, according to Jainism not only means that one should abstain from killing human beings and other animates but it also means one should not even hurt them. Not only this, it also says that one should not even think of hurting others. It therefore implies that one should not hurt human beings and other members of the animate kingdom (and even their thoughts and feelings). However some relaxations have been made for a householder who has to depend on other animates for his worldly requirements. But it is preached that one should not kill the higher developed species and should minimize his requirements as much as possible.

By adopting this kind of life-style, monks and other ācāryas are always there in a relaxed state and free from the feelings of anxiety, tension and ill will for others. They always think of the betterment of the society and their actions are strictly in accordance with the above principles. Some of these factors are similar to the conditions laid down for the successful implementation of experiments in the field of parapsychology.

5 JAINA'S HYPOTHESIS AND THE MODERN SCIENCE

In general we believe that this doctrine of karmas should be treated as a good model for biological systems which incorporate several different characteristics. An important aspect of this model is the realisation of a supreme entity which is beyond the material domain but common to all living beings. The recognition of this identity among different animates is a very fundamental aspect of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

this model. The present investigations have clearly shown that the nature of this entity is such that it can provide information even about the sizes of atoms and nuclei and can penetrate the spaces and time boundaries. The importance of this entity can be visualised from the problem encountered in the modern science as follows : If we try to explain everything form the point of view of matter then there arises a peculiar problcm. According to the second law of the modynamics for a closed system, the entropy always increases with time and becomes maximum in the equilibrium state. If we now compare this situation with the problem of increasing amount of individuality in our social system (The Earth's ecological system can be treated as a closed system) then we can probably appreciate the importance of this supreme entity i. e. the soul.

The Jaina's doctrine of karmas can be better appreciated if we look at the working of our brain from the following point of view. It is well known that our brain receives information through different sense-organs. This information is analysed in our brain by the past memory. Some of this information is then stored into the brain and the whole process continues. The sense-organs receive information from one's surroundings which are either dependent or independent of the activities of an individual. As each bit of information is generated by some activity in the material world and also since each bit of information causes some material change in our brain, matter is directly involved in the whole process. Furthermore, since adaptation is a fundamental characteristic of the biological systems, so adaptation and the resulting past memory plays a fundamental role in determining response to the new information. We feel that adaptation is very similar to the bondage of the karmas.

Instead of assuming an abstract soul completely different from matter in a dualistic spirit, if we talk about our awareness or consciousness of the surroundings then the theory of Jainas clearly lays emphasis on the delocalisation of our awareness. Thus the separation of our soul from the matter means delocalisation of our awareness from a fixed set of objects (matter). The renunciation of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

matter etc. means removal of our awareness from the matter around us. The too much emphasis on celibacy also appers to be related with this delocalisation. In this case if a person is married his (her) awareness is mainly confined to his wife (husband) and his (her) family and its welfare. This requires a sort of confinement of awareness to a limited space-time structure. This confinement appears to be nothing but bondage of our awareness in the terminology of the Jainas. As this confinement of our awareness is possible only because of material particles therefore karmas are held responsible for this bondage. The whole theory appears to be quite genuine if we consider an example of a child who does not have past memory and is also free from any problem of adaptation, he therefore has relatively more awareness of his surroundings than an elder person who has a great deal of past memory and must have adapted to some fixed set of conditions.

As far as the problem of nonviolence is concerned, it is now clear that since the soul is present among all living beings, there should be an effective addition and positive feedback towards the direction of achieving the highest state of perfection of soul if nonviolence is seriously practiced.

6.0 EXPERIMENTS OF TAYLOR AND BALANOVSKII

Finally we now come to discuss the theory of knowledge in the light of beautiful experiments conducted by Taylor and Balanovskii to check whether electromagnetism is involved in the transfer of paranormal[11] information.[12] It will be shown that their conclusion about noninvolvement of electromagnetism in the extra sensory perception = ESP phenomena does not contradict the claims of ancient Jainas that microscopic particles of matter can be perceived through ESP.

According to Taylor and Balanovskii, if we believe that some radar like action is involved in the transfer of ESP phenomena then it would mean that our body emits some radiations towards a target which are reflected back from the target and received back by our brain and is decoded in it in some way and hence the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

information about the target is extracted. Assuming electronmagnetism to be the most reasonable field for experimental investigations, they carried out some experiments. By taking (i) spatial resolution, (ii) penetration depth of the skin, (iii) power and wavelength and (iv) wavelength required for the detection of objects which are being claimed to have been perceived during the ESP experiments, Taylor and Balanovskii have concluded that electromagnetic interaction is not involved in the ESP phenomena.

If we now believe that microscopic particles of matter can be perceived through ESP and also assume that electromagnetic inter-action is quite reasonable for ESP phenomena then to view an atom, one must require electromagnetic waves of wavelength 10^{-8} cm. 10^{-13} cm. wavelength in order to view nuclei. Now these waver are so energetic that it is hopeless to assume that such waves can be generated in our body and are involved in the ESP phenomena. Thus we conclude that electromagentic interaction may not be involved in the ESP phenomena but they may be still occurring in nature.

We conclude this paper with 3 remarks. First of all we do not wish to make big claims. Secondly our main objective of this paper is to present the ancient theory of the Jainas in a scientific perspective for further investigation in an attempt to have new ideas. Thirdly we feel that the space-time invariance condition, valid for all physical laws should be carefully probed as far as ESP phenomena are concerned because here we are encroaching into space and time domains themselves. This condition should be rather contrasted to the condition of positive inter-action among human beings which seems to play a very mysterious role in these phenomena.

7.0 ACKNOWLEDGEMENTS

I am grateful to Prof. B. D. Josephson. (Noble Laureate) of Cambridge University, Prof K. Ramakrishna Rao, Director. The Institute for Parapsychology, Durham Univ., USA, Prof J. B. Hasted of Birkbeck college, London, Prof. John Taylor, Imperial College,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

London, Prof. K. P. Sinha and Prof. N. Mukunda of the Indian Institute of Science, Bangalore, Dr. U. N. Upadhyaya, Shri M. V. Murty and Dr. Arvind Purohit of the Sukhadia University, Udaipur, for reading earlier manuscript of this paper, very critical comments, suggestions and correspondence. Finally (SSP & JSP) are grateful to their mother Mrs. Lahar Kanwar Pokharna whose religious faith, determination and thinking had played a major role in undertaking this type of work.

REFERENCES

1. Gopalan S., Outlines of Jainism, Wiley Eastern, New Delhi (1973).
2. Gupta, R. C., Indian Journal of history of Science, Vol. 10, No. 1, 38–46 (1975).
3. Rajam, J. B., Atomic Physics (India); Pokharna, S. S., ESP in het Jainisme, TIJDSCHRIFT VOOR PARAPSYCHOLOGIE (in Dutch Language), Netherland, Vol. 3, pp. 11–25 (October, 1988).
4. Ibid. No. 2.
5. Ibid No. 3
6. Taylor J. G. and Balanovskii, E., Nature, 279, 631 (1979)
7. Balanovskii E and Taylor J. G, Nature, 275, 64 (1978).
8. Taylor J. G. Nature, 254, 472 (1975)
9. Hasted J. B, Bohm, D. J. Basting, E. W. and O' Regan, B., Nature, 254, 470 (1975).
10. Pokharna S. S., Sambodhi. Vol. 6, No. 1–2. 15 (1977), Ahmedabad; India and Indian Philosophical Quarterly, Vol. 12, No. 1, (Jan 1985).

11–12 See, No. 6 and 7.

TABLE–I

Table for the measurement of length as found in the Jain Scriptures

1. Infinitely many paramāṇus	=	1 Avasannāsannā Skandha
2. 8 Avasannāsannā units	=	1 Sannāsannā Skandha

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3.	8 Sannāsannā units	=	1 Truṭareṇu (Reṇu means a particle)
4.	8 Truṭareṇu units	=	1 Trasareṇu
5.	8 Trasareṇu units	=	1 Rathareṇu (Ratha means a charriot)
6.	8 Rathareṇu units	=	1 Uttama Bhogabhūmi Bālāgra (Uttama means better, Bhoga means to enjoy, Bhūmi means land, Bālāgra means pointed part of a hair)
7.	8 Uttama Bhogabhūmi Bālāgra	=	1 Madhyama Bhogabhūmi Bālāgra (Madhyama means middle)
8.	8 Madhyama Bhoga-bhūmi Bālāgra	=	1 Jaghanya Bhogabhūmi Bālāgra (Jaghanya means intense)
9.	8 Jaghanya Bhogabhūmi Bālāgra	=	1 Karma Bhūmi Bālāgra
10.	8 Karma Bhūmi Bālāgra	=	1 Likṣā (An insect found in hair)
11.	8 Likṣā units	=	1 Yūkā
12.	8 Yūkā units	=	1 Yava (Barley corn)
13.	8 Yava units	=	1 Aṅgula (Finger breadth)
14.	6 Aṅgula units	=	1 Pāda
15.	2 Pāda units	=	1 Vitasti
16.	2 Vitasti units	=	1 Hasta (Forearm)
17.	2 Hasta units	=	1 Riku or Kisku
18.	2 Kisku units	=	1 Dhanuṣ (Bow)
19.	1000 Dhanuṣ units	=	1 Krośa
20.	4 Krośa units	=	1 Yojana

TABLE-II

Table for measurement of length in modern science

1.	10 Millimeter	=	1 Centimeter
2.	10 Centimeters	=	1 Decimeter
3.	10 Decimeter	=	1 Meter
4.	10 Meters	=	1 Decameter
5.	10 Decameter	=	1 Hectometer
6.	10 Hectometers	=	1 Kilometer

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

THE PROBLEM OF THE SO-CALLED T-ŚRUTI IN THE MSS. OF CERTAIN EARLY JAIN PRAKRIT TEXTS

—H. C. Bhayani, Ahmedabad

1. Several scholars have noted and discussed the striking peculiarity of the manuscripts of some early Śvetāmbara Jaina texts. Sometimes it is wrongly called *t-śruti*. It can be briefly described as follows :

Intervocalie *k, g, c, j, t, d* and *y* of Sanskrit were historically lost in Māhārāṣṭrī Prakrit. It was mostly the practice of Śvetāmbara Jain Mss. and many non-Jain Mss of Western India to write *y* (or *v*, after a back vowel) under certain specifiable conditions to fill the resulting hiatus, which was however generally maintained elsewhere. In the case, however, of certain Mss of early Jain Śvetāmbara texts in Prakrit we find a tendency to write *t* instead of *y* under the same circumstances. The practice was quite sporadic and random : We have forms with such a *t* or *y* or with the hiatus preserved, side by side : we find the same form written alternatively in its several occurrences; and two hiatuses in one and the same form are treated differently.

2. Forms with such an interposed *t* are found in some Mss of the Śvetāmbara canonical texts, their early commentaries (*Niryuktis, Cūrṇis*, etc.) and some early narrative works like the *Vasudevahiṁḍi*. In the Mss of the last mentioned work they are frequent and in those of the *Madhyama-khaṇḍa* of the *Vasudevahiṁḍi*, every side of the Ms folios is scattered with such forms.

3. There is no justification for designating such a *t* as *t-śruti*. The term is obviously coined after *y-śruti* and *v-śruti*. But *y* (or *v* under certain conditions) taking the place of an elided intervocalic consonant was a phonetic pheomenon : It was a glide (*śruti*) which developed to fecilitate transition from one vowel to another. But the *t* inserted between two vowels in writing had no such basis in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

phonology. It was simply an arbitrary scribal practice and this is quite clear also from the chaotic irregularity in the writing of this type of *t*. No rule governs its insertion, except the sweet will of a scribe.

4. Two other facts also connected with the random insertion of *t* are notable. Firstly, sometimes we find *d* instead of *t*. The following are a few examples :

written form	usual Māhārāṣṭrī form	Sk. form	text
वदण	वअण	वचन	*Dasakāliya-Cūrṇi* (p. 168, ll. 10, 11, 14)
सदि	सइ	शची	*Vasudevahiṁḍi-*
पदत	पअअ	प्रयत	*Madhyama-khaṇḍa*
वदसा	वअसा	वयसा	(,,)
उवादेण	उवाएण	उपायेन	*Vasudevahiṁḍi.* (188–30)

Secondly for an *h*, be it historically derived from an aspirated stop (*kh, gh, th, dh, ph, bh*) or original, we find *gh, dh* or *bh* written quite arbitrarily. This arbitrariness is compounded by the fact that *dh* is written for an h derived from *bh* and vice versa. Occasionaly even for an imitial original *h* we find *bh* in the *Vasudeva hiṁḍi-Madhyama-khaṇḍa*. Examples are as follows* (the list is only illustrative) :

Written form	usual Māhārāṣṭrī form	sk. form	Text
मधावीर	महावीर	महावीर	*Bhagavati-Sūtra* (Sandesara, Introduction, 129, n. 30)
मुघुत्त	मुहुत्त	मुहूर्त	VHM 49. 10
णधवाहण	णहवाहण	नभोवाहन	*Avaśyakacūrṇi*

* Some of these were already noted by Sandesara in Introduction to his Gujarati translation of the *Vasudevahiṁḍi*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिणा		अहिणा	(II, 200-201)
परिभास		परिहास	VHM 10. 25
सभिदं		सहितं	VHM 127. 17
आभूदा		आहूता	VHM 131. 18
मभिस		महिष	VHIM
संनभितुं		संनहितुं	VHIM
भं	हं	अहं	VHM 72. 6
भिदय	हिदय	हृदय	VHM 49. 9
मरण	हरण	हरण	VHM 69. 18
साभामि	साहामि		VHM 97. 19
दिणणाभ	दिणणाह	दिननाथ	VHM 9. 14
अम्हेधि	अम्हेहिं	अस्माभिः	VHM 11. 17
जीवाजीवाधिगम*	जीवाजीवाहिगम	जीवाजीवा-भिगम	Agastyasiṁha's *Cūrṇi* on the *Dasakāliya* 94. 17.
गुणप्पेधी	गुणप्पेही	गुणप्रेक्षी	*Dasakāliya*, v. 239
सोधण	सोहण	शोभन	VH 365. 30
दाराभिकद	दाराहिकय	द्वाराधिकृत	VHM 129. 17
विभूता	विहूया	विधूता	VHM 136. 3

These instances show that insertion of *t* was only one among several types of arbitrary spelling changes affected by the scribes.

5. Two problems are clearly suggested by the above noted orthographic practices. Firstly how did such queer and confusing scribal practices arise ? Secondly why were these not checked or rectified ? We cannot give definite answers, but some speculations may be permitted.

The Ardha-māgadhī of the Sacred Texts, during their oral transmission, could not but have undergone some changes from time

---

* Noted by Malvania in his Introduction to the *Cūrṇi*.
For the usual इह, किह, ताहिं, ताहे we have in VHM इध, (58. 3), किध, ताधिं (32-20) and ताधे (123. 13) respectively. Imperative II sing. ending हि appears as धि in णेधि (41. 21).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

to time due to the influence of changing Middle Indo–Aryan dialects. Randomly we would find decreasing conservations and increasing innovations till the Sacred Texts were committed to writing. In phonology, besides the old forms preserving an intervocalic *t* (as in say, *hasati*), we would have forms like *hasadi* and *hasai*, reflecting the successive stages of the phonological change. Similarly forms preserving an intervocalic aspirated stop, voicing it and reducing it to *h* would be found at the same time. Besides, in texts like the *Curṇis* and the *Vasudevahiṁḍi*, there is a tendency to occasionally use fully or partly Sanskrit word–forms. During the later period, when literary Māhārāṣṭrī became dominant, the forms with the intervocalic consonant elided were the standard forms. In the case of the texts having a mixture of forms with elided, voiced and unvoiced intervocalic *t* the latter two come to be looked upon as free variation, and *t* and *d* as arbitrary insertions. The same applies to the preservation, voicing and reduction to *h* of intervocalic aspirated stops. Hence the scribes felt free to write *t*, d or omit them altogether in the former case and write voiced aspirate or *h* in the latter case. The period when many of the Mss. containing these peculiarities were eopied, seems to have been a period of deteriorating linguistic and scribal traditions. Preparations of Mss copies were not carefully supervised, checked and corrected. Ultimately, this resulted in a chaotic orthography as we ffnd in the Mss of VH and VHM. Only some such explanation can account for the writing phenomenon discussed here. It is very significant that neither Hemacandra's Prakrit grammar, nor any of the commentators on the Āgamas take any note whatsoever of these peculiarties. This clearly indicates that they latter were but aberrant scribal practices.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

CITRA-KALĀ IN JAINA CANONICAL LITERATURE

—Lalit Kumar

The Jaina canonical literature casts ample light on the state of *citra-kalā* (the art of painting) in ancient India.* In this regard H. C. Bhayani has made a very pertinent observation on the Jaina canonical literature. He writes that the Jaina canonical literature provides not only some of the earliest references to the art of painting but also furnishes some of the missing links in the understanding of the subject.[1] I have analyed the data in the Jaina *āgamas* keeping in view the aforesaid observation. However, at certain places, I have also referred to other Jaina and *saṁskṛta* literature in comparison with the canonical literature.

According to Jaina legend as mentioned in *Āvaśyaka Cūrṇi* (A. D. 600–650), Ṛsabhadeva was the originator of the art of painting, science of mathematics and symbology.[2] However, the art of painting was forbidden to monks and nuns.[3] The *Ācārānga sūtra*, the earliest āgama, tells us that monks were refrained from looking at the painting for pleasure sake.[4] Similar injunctions were laid down in Daśavaikālika.[5] Quite naturally they were also prohibitted dwelling in the houses decorated with paintings. All these advices and admonitions must have been realised by Mahāvīra himself whose utterences were canonised in the centuries to come; thus it helps us in understanding the popularity of this art in ancient India. The *Bṛhat-Kalpa Bhāsya* has categorised painting as '*sadoṣa*' and '*nirdoṣa*'.[7] The *nirdoṣa* or pure painting includes pictures of trees, rivers, mountains, oceans, various kind of creepers, *purṇa-kalaśa* and *swastika*.[8] Paintings depicting man, women, animals and scenes on *śraṁgāra-rāsa* were considered as *sadoṣa* or impure paintings;[9] because they were likely to divert the mind and creats obstacles in the path of meditation and spiritual pursuits.[10]

However, the learning of this art was considered necessary for a full development of the personality and hence, it was designated

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the third place in the frequently mentioned lists of seventy two arts in the āgamas,[11] and also in the sixty four arts of the females as mentioned in the *Jambudvipa-prajñapati*,[12] (c. 3rd century A. D.) Vātsayayana in his *Kāmasūtra* has suggested that a *nāgaraka* (better citizen) should have a lute, a painting-board *(citraphàlaka)* and a casket full of brushes *(vertitkā-samudgaka)* in his bed chamber.[13]

The *Bhagavati Śūtra*, the *Jñātādhammakathā* (c. late 3rd century A. D.) and the *Aupapātikasūtra* (c. 3rd century A. D.) refer to a class of people known as *maṁkhas*.[14] Abhayadeva (c. 11th Century A. D.) in his commentary on *Bhagavati-Śūtra* has explained the word *maṁkha* as special type of mendicant whose hands were engaged with picture-board.[15] They appears to have been professional entertainers like many others who were called on to perform at the time of royal celebrations.[16] It is important to note that the tradition of *maṁkhas* existed as early as sixth century B. C. (It is a well known fact that Ghośāla, an ascetic and a contemporary of Mahāvīra, was the son of a *maṁkha*). It is still a matter of conjecture as to whether the painting was done directly on the picture board or on a canvas *(pata)*. Abhayadeva has rightly interpreted the word *'citra-phalaka'* as picture-board. The *Nala-carita Nāṭaka* makes the distinction between *phalaka* and *paṭa*. It says, "here is the board, this is the canvas, this is the brush and here are the colours". *(idam phalakam, esha citrapatah, iyam ca tulīka, ime ca Varṇasambhāraha)*.[17] However, it also appears that when *phalaka* was used the *paṭa* was asually pasted or mounted on it.[18]

We know that the story told by the *maṁkhas* was also shown on a *citra-phalaka* from which it is abcundtly clear that the form of art was narrative. The form of this narrative art can be easily understood if we take into consideration the important features of early Indian narrative art in stone. The representation of Buddhist *Jātakas*, on the Stūpa at *Bhārhut*, *sāñcī* and *Bodhagaya* are examples of the early Indian narrative art in stone. Here we notice 'Unilocal' narration as the most striking feature of this art.[19] Two or more events, in spite of being far apart in time, were shown at one place. Thus, time factor was completely eliminated and all the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

events were juxtaposed in one panel.[20] But roots of this art is still a matter of conjecture.

Visual representation of the story was a common feature in both the traditions viz., in the art of *maṁkhas* and in early Indian plastic art. For narrative visuals, space would have been an important parameter. Therefore, the artists must have had certain devices to narrate the whole story in the most effective manner and without losing its essential elements in a given space. Such devices were available to early Indian sculptors as noted above. Archaeological findings do not help in tracing the roots of this art. It is speculated that the material used as medium was perishable in nature.[21] *Maṁkhas* tradition of art is perhaps the only answer to the vexatious problem of finding its precedent. It is the only known tradition of narrative art in painting which should have provided sufficient expertise and knowledge to early Indian sculptors in the representation of *Jātakas* in stone.

Besides the narrative panel, there are more references to panel painting. In Acārya Padlipta's *Tarangalolā*, a Jaina Prākrit text of second century A. D., there is a romantic tale which mentions a merchants' daughter, Tarangavati who displayed her canvases in public in the *Kaumudi-Mahotsava*.[22] These canvases represented the scenes of her past life. Similar motifs are also found in later Jaina and non-Jaina stories, for instance, the story of Lalitāṅga as mentioned in *Āvaśyaka Cūrṇi*; the story of Nilayasa Lambha in *Vasudevahiṇḍi* and in Asata's *Haṁsauli* in old Gujarati.[23]

The art of portraiture was well developed in ancient India. In the *Jnātādhammakathā* (c. late 3rd Century A. D.) we read about a portrait of Malli, a princess of highest perfection in beauty, which was painted on the wall by an accomplished artist. In order to appreciate the essence of the art of portraiture, we must note the remarks of Malladinna's mother (*dhāya-mātā*). "She says, My son ! certainly, this is not Malli, the princess of highest perfection in beauty. But the artist has painted her exact likeness."[24] The artist was banished from the kingdom by Malladinna for doubting the chastity of his

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

sister. After leaving the kingdom, the artist prepared another portrait of the princess Malli on a canvas or cloth. According to the story, first he prepared the *citra-phalaka* (*citra-phalam sajjei*).[25] The preparation perhaps included fixing of canvas on the board and the preparation of ground. He rolled up the finished portrait and carried it under his arm to the king Adınaśatru. He notified three important elements of the art of painting to the king. These were form (*āgāra*), infusion of emotions (*bhāva*), and, portrayal of likeness (*paḍoyāre*).[26] Jaimangalā of Yaśodhara, a commentary on Vatsyāyana's *Kāmasūtra*, mentions six elements of painting. The other three elements are proportion (*pramāṇa*), creation of lustre and iridescence (*lāvaṇya-Yojanā*) and tonality of colours (*vernikābhaṅga*).[27] Thus, Jaina sources provide the earliest reference to the six principles (*śadaṅga*) of painting which were axplained later in the *Jaimaṅgala* (c. 13th century A. D.)

To mention another example, *Āvaśyaka Cūrṇi* also refers to a portrait of Mṛgāvatı painted by another accomplished artist who was also banished on similar charges from the kingdom.[28]

Then we also have likenesses from nature painted by artists even of secondary status. *The Āvaśyaka Cūrṇi* refers to an aged artist Citrangada whose daughter named Kanakamañjari, painted a lively picture of a peacock feather on the floor; while she was waiting to serve food to her father, who had gone to ease himself off.[29] The king, who employed the old artist, was passing that way mistook the painted feather as the real one. Such was the quality of realism existent in ancient Indian painting.

Painting was also done on some other medium. The *Anuyoga-dvara sūtra* refers to painting on palm leaf besides cloth.[30] The art of painting was also practiced on wall.

In the *Jñātādhammakathā* we also read about the art of wall painting. We are told here of Dhāriṇi Devi's palace, the interior walls of which were painted with beautiful paintings (*suiloya-cittakamme*), the ceilings with lotus rhizomes and flowering creepers.[31]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

This text also gives description of paintings in the palace built for Megha Kumar.[32] It's walls were painted with *eha*–deer, bull, horse etc. and thousand of other paintings.

Then there is a reference to wall paintings in the picture–gallery of the crown prince Malladinna. The story provides an important clues to the technique of mural painting. For instance, the wall space required to be painted was first divided into panels of different sizes (*bhūmibhāge*).[33] Then the ground was prepared (*bhūmi sajjei*).[34] After this painters proceeded with their colours and brushes. Preparation of ground was an essential step for murals because it provided a smooth and permanent surface for drawing and colouring. The *Viṣṇudharmottara* gives us detailed information on the elaborate processes involved in the preparation of the ground (*bhittisaṁskāra*).[35]

From *Āvaśyaka Cūrṇi* we get a better understanding of the nature of the ground.[36] It is mentioned in the story of Vimal and Prabhas who were called to make mural paintings in the harem of a king. One of them engaged himself in preparing splandid murals whereas the other was still occupied with the prepareaction of the ground on the facing wall, it caused great annoyance to the astonished king who saw one wall apparantly blank. But a pleasant surprise awaited him when the artist drew the curtain aside falling in between the walls. The mural got reflected on the mirror like blank surface of the wall, prepared, perhaps with this intention. We know that after the application of plaster (*Vajralepa*) on the wall, it was allowed to dry for sometime, after which the surface was burnished.[37] But the amount of burnishing required in the preparation of the ground is very well indicated in this story.

There are some more references to wall painting. Silankācārya *Caupanmahāpuriṣa-Cariya* mentions the depiction of the life of Neminātha and Rājimati in a palace which Parśvanāth happened to see.[38] The scenes influenced him so much that he decided to renounce the world. There is also a reference to some decorative motifs painted on the walls in the *Rājaprasniya Sūtra*.[39]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The āgamic literature is silent about scroll painting, but that does not signify that there were no scroll paintings, for we have non-agamic Jaina religious texts which speaks about scroll painting. Udyotana Suri's *Kuvalyumālā,* a Prākrit text written in 799 A. D., refers to a scroll painted by an artist named Bhānu.[40] It depicted the cycle of births and deaths (*saṁsāra-cakra*). There are mentions of a few other scrolls of similar nature. We also gain knowledge of tonality of colours, mixing of colours and purity of lines which should be fine and distinct.[41] These scrolls followed the traditions of early *yama-paṭas* which are mentioned in Vishākhadatta's *Mudrārākṣasa*[42] and Bāna's *Harṣacaritra.*[43] One of the earliest references to scroll paintings is found in *Dūtavākya* of Bhāsa (c. 3rd–2nd Century B. C.).[44] It mentions a scroll painting depicting the molestation of Draupadi by Duśśāsana. The gateways of Sāñci stūpa provide the earliest archaeological evidence to scroll paintings.[45] The architraves of these gateways with voluted ends readily suggest the existence of painted scrolls. The narrative scenes of these scrolls in stone are to be seen on the unfolded portions, which actually form the main body of the architrave. We have already shown the influence of *maṁkha's* art on the early plastic art. The architrave of these gateways again owes its direct inspiration to scroll paintings. It appears that early Indian painting traditions greatly influenced the early Indian art in stone.

The *Vaḍḍārādhane,* a Jaina religious text written in the Kannada in tenth century A. D., provides another example of scroll painting.[46] It depicts an interesting tale of picture-showmen who used to steal paddy-rice from the paddy-merchants. They would divert their attention by showing popular tales painted on the scrolls.

The *Citra-Sabhā* (picture-gallery) was an insignia of opulence and prosperity in ancient India. There had been atleast three types of picture galleries, viz., private gallery, public gallery and galleries in palaces.

The *Jñātādhammakathā* gives us an example of a private picture gallery of crown prince Malladinna who had it constructed in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

his house-garden (*pramada-vana*).[47] It had scenes on erotics (*śriṅgāra-rasa*). We have another example of private picture gallery in the *Bṛhat Kalpa-Bhāsya*.[48] It was maintained by a clever courtesan who was well versed in sixty four arts. She had in her gallery portraits of all classes of men occupied in the professions of their respective castes and in varying moods. This assisted her in the treatment of her clients whom she would first send to the gallery and judging from their reactions their caste, character and taste for arts, would deal with them accordingly. Hemacandra Suri's *Pariśiṣtaparva* gives us yet another example of a picture gallery maintained by a courtesan called Kośā, which had paintings on erotics.[49]

In *Jñātādhammakathā* we also have an example of a public picture gallery which functioned in a manner analogous to that of a modern museum, where people assembled for recreation and discussion.[50] There were arrangements for sitting and reclining. Various groups of professional entertainers like dancers, actors, picture story tellers etc., were permanently employed. The gallery not only had paintings but various other artifacts in stone, wood, metal, clay and other arts. It was built in the eastern garden (*vanakhaṇḍa*) at the behest of a rich merchant Nanda-Maṇiyar. It is evident enough that the gardens were mostly preferred for building picture galleries.

The *Tiloya-Paṇṇatti* (c. 5th century A. D.) is an *āgama* of the Digambaras, it refers to various kinds of palaces of the *bhavanavāsi devas*, one of them was *citra-gṛha*.[51] An example of murals in the harem of palace has already been mentioned above.[52] The *Viṣṇu-harmottara* maintains that paintings in palaces should exhibit scenes on erotics, humrous or peaceful sentiments while *citraśālās* should represent any of the nine-*rasas*.[53]

Rasas, emotions or flavour, are as important in painting as in literature. Bharata's *Nātyaśāstra* enumerates only eight *rasas*, whereas *Anuyogadvāra* recognises *nine-rasas*, the ninth being *Śānt-rasa*.[54] Later on *Viṣṇudharmattara* also included it as the nin'h-*rasa*.[55] But *Anuyogadvara* has replaced *bhayānaka* with a new *ra a*,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Vṛḍaṇaka[56] (abasement) not mentioned in any other lists. Here, the *bhayānaka* has been considered as a variation of *raudra*.

From the various accounts of picture galleries we come to know that the artists had their guilds (*cittagāra seṇim*). They were mostly patronized by the kings and rich people. There is hardly any mention in the *āgamas* whether kings were maintaining court painters. They were instead called on to perform certain tasks for which they were honoured and paid lavishly (*prītidāna*). However, we have definite evidences that the artists were also in the service of the kings throughout the year. Kautilya's *Arthaśātra* says that the name of such professionals enhance the prestige of the state.[57]

There had been *Kalācāryas* to teach seventy two arts.[58] But professional painters seems to have had their family tradition of learning. We have already noted the skill of painter's daughter.

The status of a painter in ancient Indian society can be judged from various parables and maxims in literature which refers either to the painter or his work. A reference to mirror-like ground on the wall has already been made in *Āyaśyaka Cūrṇi*.[59] The story is given to illustrate the purity of heart which should reflect virtues as painting in the mirror. The same text while explaining the various constituents of *sūtra*, i.e. *bhāṣā*, *vibhāsā* and *vārttā*, elaborate their meaning with work of a painter.[60] It is stated that when a figure is drawn in the right proportion it is called *bhāṣā*, when its various limbs are defined than the *vibhāṣā* is attained and finally when eyes etc. are painted then *vārttā* or annotation stage is reached. There are many such references in *Āvaśyaka Cūrṇi* and other Jaina texts.

FOOT-NOTE

* The dates of the āgamic works are taken from M.A. Dhaky's "The Jina image and the Nirgrantha agamic and hymnic unagery", *The Sastric Tradition in Indian Art*, Heidelbery, 1985, pp. 92–108

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. Bhayani, H. C.; "Jaina Literature and Performing Arts", the paper was presented in the seminar on Jaina Culture and perfoming arts by NCPA at Bombay on 26th April, 1986.
2. *Āvaśyaka Cūrṇi*, (Ratlam, 1929) I, p. 156.
3. *Bṛhat Kalpa Bhāśya*, ed. Caturvijai Maharaj, (Bhavnager 1936), III, p. 689.
4. *Ācārāṅga sūtra*; II, 12.1.
5. *Daśavaikālika*; VIII, 4.
6. *Uttarādhyāyana Sūtra;* 35.4; *Bṛhatkalpa*, Sū. 20.
7. *Bṛhat Kalpa Bhāṣya*, III, *gātha*, 2426-2431.
8. *Ibid*; *gāthā* 2439
9. *Ibid*; *gāthā* 2430
10. *Ibid*; *gāthā* 2427
11. *Jñātādharma-kathā*; (Byavar, 1981), 1.99; *Samavāyāṅga Sūtra* (Ahmedabad, 1938), p. 77; *Aupapātika Sūtra*, ed. by Ghasilalji Maharaj (Rajkot, 1959) II, *Sūtra* 46, pp. 604-612. *Rājapraśnīya Sūtra*, ed. Ghasilalji Maharaj, (Rajkot, 1905), Sutra 170, pp. 405-406.
12. *Jambudvipaprajñapti* with comm. of Śānticandra; (Bombay, 1920); 2, 136 f.
13. *Kāmasūtra*, ed. Durga Prasad, (Bombay, 1891), 4, 10.
14. *Bhagavatisūtra* with comm. of Abhayadeva, 3 Vols, (Bombay, 1918-21), XV, Sutra 540; *Jñātādhammakathā*. op. cit., 1.99; *Aupapatika Sūtra*, ed. by Ghasilalji Maharaj, Rajkot, 1959).
15. Basham, A. L., *History and Doctrine of the Ājivikas*, A *Vanished Religion*, (London, 1951), p. 35.
16. *Jñātādhammakathā*, 1. 90.
17. Quoted by Sivarammurti, C., *South Indian Painting*, (New Delhi, 1968), p. 34.
18. *Jñātādhammakathā* 8.104.
19. Kramarisch, Stella; *Indian Sculpture*, Reprint, (Delhi, 1981), p. 19.
20. *Ibid.*
21. Scholars have speculated perisable materials like ivory, Wood, clay etc. Sarswati, S. K., *A Survey of Indian* Sculpture, (New Delhi, 1975), p. 23.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

22. *Jaina-citrakalpadruma*, ed. S. M. Nawab, (Ahmedabad, 1936), pp. 21-22 (in Gujarati); Bhayani, H. C.; *op. cit.*, p. 14, f. 2.
23. Bhayani, H. C., *op. cit.*, p. 14; f. 2
24. *Jñātādammakathā*, 8. 102.
25. *Ibid.*, 8.104. In *Viṣṇudharmottara*, the preparation of ground on *pata* is called as *ghattama*. Sivarammurti C.; *Citrasutra of Viṣṇudharmottara*, (New Delhi, 1978), p. 45.
26. *Jñātādhammakathā*, 8. 104.
27. History and Culture of Indian people, *The Classical Āge*, (Bombay, 1954), p. 537.
28. *Āvaśyaka Cūrṇi*, I, p. 88.
29. *Ibid.*, II. p. 57.
30. *Nandisuttam* and *Anuogadvāraim*, ed. Muni Punyavijaiji (Bombay, 1968), sutra 11.
31. *Jñātādhammakathā*, 1. 17.
32. *Ibid.*; 1. 103.
33. *Ibid.*; 8. 96
34. *Ibid.*
35. *Viṣṇudharmottara*, III, 40-1-6.
36. *Āvaśyaka Cūrṇi*, II, p. 194.
37. *Viṣṇudharmmottara*, III, 40. 8.
38. *Caupanmahāpurisacariya*; A. M. Bhojak, 1961, p. 263.
39. *Rājprasinya Sūtram*, ed. Ghasilalji Maharaj, (Rajkot, 1965), I, Sutra 11, 13.
40. *Kuvalyamālā*, translated by Shri Hemasagar Suri, (Bombay, 1965), gatha 291-303, pp. 307-317, (in Gujarati)
41. *Ibid.*
42. *Mudrārākṣasa*, ed. and trans. by Satyavrata Singh, (Varanasi, 1961), p. 33, 1. 17 (in Hindi)
43. Agrawal, V. S , *Harshacarita-Eka Sāṁskritika Adhyayana* (Patna, 1953), p. 89-90 (in Hindi).
44. *Dūtavākya*, ed. and trans. by Pt. Ramaji Misra (Varanasi) 1960) p. 10.
45. Zimmer, H., *The Art of Indian Asia*, 1955, pl. 18, 20-25.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

46. *Vaḍḍārādhane*, a study by B. K. Khadabadi, (Darwad, 1979), pp. 23–26.

47. *Jñātādhamnakathā*, 8. 95.

48. *Bṛhat Kalpa Bhāsya*, II, 5. 262.

49. *Parasistaparva*, trans. by Muni. Tilakavijai, Ahmedabad, 1918. Pt. II, p. 58, (in Hindi).

50. *Jñātādhammakathā*, 13. 14–15.

51. *Tiloya-Paṇṇatti*, (Sholapur, V. S. 2000), 3. 57–61.

52. *Āvaśyaka Cūrṇi*, II, p. 194.

53. *Viṣṇudharmottara*, III, 43. 12–14.

54. *Nandisuttaṁ* and *Anuogadārāiṃ*, Sūtra 262, p. 121.

55. *Viṣṇudharmottara*, III, 43. 1.

56. *Nandisuttaṁ and Anuogadāraiṃ*, p. 262.

57. Quoted by Sivarammurti, C., *The Painters in Ancient India*, (New Delhi, 1978), p. 8.

58. *Jñātādhammakathā*, 1. 100.

59. *Āvaśyaka Cūrni*, I, p. 194.

50. *Ibid.* p. 557.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

TOWN PLANNIG IN THE JAIN AṄGA

R. N. Mehta, Ahmedabad

Introduction :

The *Aṅgas* form the core of *Āgama* literature of the Jainas. *Āgama*, as a source of knowledge, is recognised by *Patañjali*, the Buddhists, the Jainas and several Indian schools of thought. *Āgama* both as revealed knowledge and the word of the seer is respected all over the world.

Jaina *Āgamas* contain the teachings of the *Tīrthaṅkaras*, as preserved by the *Gaṇadharas* and verbally transmitted from generation to generation. However, with the passage of time, due to adverse natural circumstances, *Āgamas* according to the *Digaṁbaras* disappeared. The Śvetāmbara tradition however asserts that their first recension was prepared at Pataliputra i.e. modern Patna and the second at Mathura in the assembly of the Monks under Skandila charya. Another recension was prepared by *Nāgarjuna* at Valabhi, the capital of the Maitrakas. There the Mathura recension of the *Āgamas* was committed to writing during the time of Devardhigaṇi kshamasramana in about the middle of the 5th century A.D. This is the heriod of the Guptas. The *Śvetāmbara* tradition asserts that this form of *Āgamas* is available to them.

In this literature the twelve *Aṅgas* are considered to be the central core that preserves the tradition. It is therefore thought that a study of the towns noted in these *Aṅgas* be undertaken. Incidentally, it may be pointed out that this literature requires critical editions on modern lines.

Problem :

In our country traditionally one knows that towns and cities existed from high antiquity. But very little information is available about the nature of their plan, growth pattern, their history etc., in which we are interested to-day. For understanding these aspects

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of our large habitats one has to study the local traditions, the available literature and the archaeological remains, that are obtained at the identified site.

Aims and Methods :

In this broad sphere of urban studies, this paper tries to analyse the data available in the *Aṅgas*, so that it could throw light on the towns and cities noted in them. The search was conducted to understand the nature of towns, their townscape, fortifications, road-system, planning, water-system, traffic etc. that might be available.

Methods :

For achieving this aim, the primary method was the examination of the reference to the towns and cities in the *Aṅgas*. Pandit Shri Dalsukh Malvania, Shri Rupendrakumar Pagariya helped the author in this difficult task. Dr. Ramniklal M. Shah and Dr. Nagin J. Shah gave the benefit of certain discussions. The other staff of the L. D. Institute of Indology also gave much assistance. Without this cooperation, this basic work would not have been completed as the authors' knowledge of the language of the *Aṅgas* is very poor.

The reading pointed out that the references to the towns had four characteristics :-

(i) Most of the references merely mentioned the names of the towns.

(ii) Some of them gave sparing references to the plans.

(iii) Many mentioned the town and indicated by term *Vaṇṇao*, that their description should be followed as per Jain tradition-from the one in *Aupapātika Sūtra* 1, that is from an *Upāṅga*.

(iv) Some times after giving a few phrases, the term *Vaṇṇao* was used.

The third and fourth characteristics indicated that a perusal of the *Aupapātika Sūtra* 1 was essential. Its first sūtra described *Champā*. Similarly the *Rāyapaseṇiya Sūtra* 1 also had described the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

city of *Āmalakappā*. Both these descriptions were studied and analysed.

Comparision :

After completing this reading and its analysis, it was compared to that existing in the *Digha Nikāya*, the *Maijhima Nikāya* of the Buddhists, the *Meghadūta etc.*

The results were compared to the *Śilpa texts* like *Aparajita-pṛcthā*, for understanding the aspects of town planning.

After this perusal of literature, the phenomenon described in the *Aṅgas* and *Upāṅga* literature was compared to the available archaeological data.

Finally, prior to drawing the conclusions it is essential to indicate the limitations of this study.

Limitations :

The limitations to this study arise from the nature of the data. Following few of them are noted.

(1) The *Aṅgas* represent the work of Jain *Munis*. Their code of conduct noted in the *Dvitiya śruta skandha* of *Acārāṅga* seems to have acted as a constraint in the description. The first constraint noted in the *Tṛatiya Adhyayana, Tṛtiya Uddeśaka* state that a monk should not observe the geo-morphological features, forts, details of the cities etc. This prohibition would naturally restrict a monk from ohserving and studying the town and applying the present day method of study. The second constraint is noted in the *Caturtha Adhyayana, Dvitiya Uddeśaka* about the use of language. This constraint along with the first will not permit the Jain monks to study the towns and describe them as we do at present.

These constraints would be followed to a certain extent and therefore, they would restrict the monks, from the detailed studies of the habitats. Like the Jain monks, the Buddhist monks were also *Mumukṣus*, so their *Tripiṭakas* show similar general tendencies.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) The poetic descriptions are not academic studies, so they represent the poet's vision of the towns and hence this literature also suffer from this limitation.

(iii) Archaeological studies are also limited.

With these limitations the study is capable of throwing good light on some features of the towns and cities that are discussed below.

Descriptions of Urban Centres :

The descriptions of the *Aupapātika* and *Rāyapaseṇiya* are identical, and the *Aṅgas* take them as standard. The *Jnātādharma-kathā* 5. 2, *Antagaḍadasā* 1.8 and the *Samavāyāṅga* 12 refer to the towns that give some ideas of their plan.

The description of the *Aupapātika* and the *Rāyapaseṇiya* indicate the existence of 42 notions of the towns. These notions are tabulated here :

Notions	Statements of Notions	Percentage (Approx)
1. Name of the town	1	2.4
2. Description of the region	4	9.5
3. Peace and Prosperity of the region	8	19.00
4. Description of the town.		
(a) Moat, Fort and Gate	6	14.00
(b) Buildings	2	5.00
(c) Roads and crossings	2	5.00
(d) Traffic	4	9.5
(e) Markets	2	5.00
5. Water resources	2	5.00
6. People	4	9.5
7. Praise of the Town	7	16.1
Total	42	100.00 (Approx)

The table indicates that the description includes not only the name of the town, but also, along with various aspects of its descriptions, it contains information about the region also.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Names of Towns :

The *Aṅga* literature notes the towns in at least two catagories One of it is the territorial towns and cities like *Campā, Hastināpur, Rājagṛha, Kauśāmbi, Śrāvasti, Dvārāvati, Vitaśokā* and others. The other is the terrestrial ones like *Saudharma Kalpa, Kṣema. Kṣemāpuri, Riṣṭā, Susimā*, etc. The study for the identification of the territorial ones, and understanding their area, planning, history etc. requires careful future work. In this short paper this exercise is not undertaken as per restrictions of the seminar. The *Vaṇṇao* of these towns tries to describe them. This townscape is discussed in this paper.

Town-plan :

The description gives the shapes of towns, and help one to understand their planning. The following four town-plans are noted or could be inferred from the description.

1. *Dhanukudil or Addhacanda.*
2. *Āyata*
3. *Caturasra.*
4. *Gopuccha.*

Dhanukndil :

Usually in fortified towns, the port line covers it up and explains the shape. The *Prākāra* is noted in *Aupapātika* and *Rāyapaseṇiya Sūtra* 1 as *Dhanukudil* and *Addhacanda*. Besides the cities of *Campā* and *Āmalakappā*, the terrestrial *Saudharmakalpa* (*Rāyapaseṇiya*, 112) is also described as *Addhcanda* or of the same shape. Thus the towns were of *Ardhacandra vāstu* of the *Śilpa* text *Aparā Jita Pṛcchā* 57, 10, 22.

Interestingly this shape seems to be either planned or develops in the riverine cities. The geomorphological character of the area forms the physical back-ground for this plan. In the riverine areas, the main stream is joined by the subsequent erosional nālās and develop the bad-land topography. In this topography usually, uneroded small plataeus develop. On two sides of these plataeus, erosional *mālās* join the main stream and often produce D-shaped

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

higher areas. These higher areas on the cutting side of the main stream are usually free from floods and hence they are admirably suitable for building villages, towns etc.

On such sites, the natural development leads to the growth of the habitation from the river side and it spreads inland following higher contours. This development leads to the typical *Dhanukudil* Town. Alternatively, if a large settlement is required the higher area of *Dhanukudil* shape is covered by the fortifications. In either case the town becomes *Dhanukudil* as noted in the *Upāṅgas*. A perusal of the cities like Ahmedabad, Surat, Mathura, Fort of Agra, Delhi and others indicate the operation of these geo-morphological forces.

This territorial experience could help the imagination to develop the thoughts of terrestrial towns. It could further be strengthened by the semi-circular shape developed by viewing the horizon-zenith-horizon from one direction to the opposite one. Probably such experience would explain the idea of *Addhacanda* of the *Saudharma Kalpa*, as noted in the *Rāyapaseṇiyo*.

Āyata :

The *Āyata* plan could he inferred from the exaggerated descriptions of Dvārāvatı, Puṇḍaragiri, Vıtaśokā and other towns noted in *Jnātādharma Kathā-5.1*, *Antagada Dasa-1.8*. It is noted that the towns were 12 Yojanas x 9 Yojanas. In simple terms it was a dimension of rectangular or Āyata towns.

Caturasra :

This shape of the town Vijaya in *Samavāyāṅga*, is noted in an exaggerated form as 12,000 Yojanas in length and breadth. These dimensions indicate the square or *Caturasra* plan. Such plans exist at sites like Vadodara, Dabhoi etc.

Gopucchs :

The description of *Sūryābha Vimāna* in the *Rāyapaseṇiya* 113 notes this plan in the terrestrial area of *Suryābha* in *Saudharma Kalps*. Does it refer to territorial or terrestrial experience ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

On the territorial plane, this shape is a long narrow one with broader area on one side. Such geo-morphological features are found in the riverine areas, as well as in valleys and on ridges in the mountainous terrain. The Ancient Tripuri on the Narmada, *Vastrāpatha Kṣetra* of Girnar, and some of the areas of various *Tuks* on Palitana etc. follow this pattern, and might form the basis of this exaggerated description.

The terrestrial experience of the Uttara Falguni Nakshatra in Siṁha Rāśī, the shape of Vṛścika, etc. also could give this idea, But, this does not explain the term Gopuecha, and hence should not be emphasised as forming the basis of the *description*.

Forts :

The *Aṅgs* have described the forts of these settlements as having the *Prākāra, Parikhā, Aṭṭālikā, Cariya* etc. The *Parikhās* are the moats that surround the towns, the *Prākāra* is the fort wall.

Its description in the *Rāyapaseṇiya*, 113 suggests a trapezoidal section, of the earth-works. The existence of mud-wall fortifications at Mathura, numerous earthen embankments indicate the accuracy of this general statement. Archaeological relics of such sloping walls are found at *Kauśāmbī* and other sites.

The descriptions of *Kapiśīrṣa* or merlons, the *aṭṭālikā* and *Cariya* are too generalised to require comments. The merlons are of different patterns and their vantage for discharge of weapons have different angles. Without any reference to these features, no chronological or historical comments are possible.

The passage behind the merlons is also noticed. This is a general notice of the main defence line of the city.

Gates :

The entry to the fort is provided by the gates. The weapons of defence are generally noted, but the description does not refer to the barbicans, and therefore, it is not clear whether this feature was not noticed or did not exist. The archaeological data provides for both varieties and therefore the latter alternative is not possible.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the deseription is silent on the number of gates and therefore it hinders the proper evaluation of the plan.

The door way noticed as *Dāra, Toraṇa, Gopura* is evidently a mixture of *Toraṇa* and *Gopura*. They usually do not coexist and therefore, the description indicates tautology for effect. The doors with their strong nails, *Argalā* etc. suggest their formidable strength.

Roads :

As already noted above that the number of gates is not given and therefore, one fails to understand the complete road pattern. only its generalised ideas could be envisaged.

From the gate the Rāyamagga moved in the interior. Its length and breadth is not available.

Traffic :

On these roads heavy traffic with elephants, horses chairots, palanquins and pedastrians is noted. This description indicates a fairly heavy traffic on sufficiently broad main roads.

These descriptions are silent on the nature of the level of road surface, but its cleaning, and occassional sprinkling of water, suggest the usual dusty roads. The actual roads with paved and unpaved road surface, efforts at levelling etc. are noticed in archaeological work.

Road Mesh :

The town-plan has an important aspect of the road mesh. It develops different patterns. The *Aṅgas* note *Siṁghaḍiya, Tiga, Cauka Carcara* that indicate them. *Siṁghaḍia* is a triangular area. It is a highly characteristic feature of *Dhanukudila, Vṛtta, Vṛttāyata* plan where the radial road pattern is utilised. In the *Caturasra* or *Āyata* planning this pattern does not develop in the grid. It would only develop, if diagonals be used for road-pattern. But the *Śilpa* texts usually do not prefer this plan. Under these circumstances *Siṁghaḍiya* becomes a typical pattern of *Dhanukudil* form of towns noted in the *Aṅgas* and *Upāṅgas*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The *trika* is a tri-junction that would be the general feature in different plans, specially at peripherial points, depending on the plan.

The *Cauk* and *Catvara* are however, characteristic features of *Āyata* and *Caturasra* planning. These are road crossings and open areas at such crossings in suitable parts of the town. These features are seen in many Indian towns where they are known as *Cauk, Cakalā, Corāyā*, etc.

It is interesting to note that while the main pattern be radial, the houses, smaller residential areas like *Kaṭarā, Pole, Vādā, Pāṭaka*, etc. follow *Caturasra* or *Āyata* plan and therefore these features of *Cauk* and *Catvara* are found in *Dhanukudia* towns also.

Houses :

Within the road mesh houses, residential areas, commercial centres are developed.

The *Aṅgas* describe lines of white coloured houses. Some information about the entrance, bath rooms, kitchen, etc. are found in the texts like *Ācārāṅga*, but their details are not given.

The palace area is mentioned but the details are absent. The references to different *Sabhās* like *Suddarmā Sabhā, Alaṅkāra Sabhā, Vyavahāra Sabhā, Layaṇa* etc. are noticed, but they require separate discussion, Incidentally it may be noted that some of the features are highly exaggerated.

Markets :

Markets are casually noticed in the town, Its commerce of commodities is also noted with general statement that markets were full of different commodities.

People :

The cities were inhabited by rulers, their retinue, businessmen, artisans, actors, dancers, musicians, story tellers, gymnasts, and others. They are not the primary producers of food and others basic requirements. Those who produced food and such other

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

primary necessities were living in the *janapadas*. Therefore, the professions of those living in towns were urbane and hence the description in the *Aṅgas* is that of urban centres.

Suburban area :

These urban centres have a tendency to expand. This expansion develops the suburban areas where gardens, gardenhouses, temples etc. develop. Such suburban areas are noted in the *Aṅgas*. They had *Caityas*, settlements of women etc. These suburban areas were known to the Buddhist *Tripiṭkas* which refer to the *Arāmas* of different individuals including, ladies like *Āmrapāli* in different cities. This character of the Indian towns is described by the poet Kālidāsa in Meghdūta 7 as गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां बाह्योद्यान स्थितहर शिरश्चन्द्रिका धौत हर्म्या"।

This suburban area occupied by *Caityas* and its forests is noted in the *Mahāparinibbāṇa Sutta* also. There it is seen that the *Caitya*, a funerary structure was outside the city, in its suburban area where cremation ground also existed. The description in the *Aṅgas* gives correct situation of the townscape. The description suggests that the *Caitya* existed in a well-wooded area out-side the main city. It was both a place of worship and entertainment as noted in the description. Such situation develops during festivals. Usually preacher-mendicants stay in such religious centres out-side the main habitation.

Water Supply :

The towns were supplied with enough *Agaḍa*, *Taḍāga*, *Dihiya*, *Vappiṇa*, *Puṣkariṇis* etc. However, their distribution in the towns is not well defined. The descriptions of *Saudharma Kalpa* suggest their existence is palatial areas. They might have existed both inside the city as well as out side. But the descriptions of stepwells, *Pushkariṇis*, *Taḍāgas* etc. in the same town should be treated as generalised descriptions only. Here different forms of acquatic construction are mixed up. *Janapadas*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jamapadas

The flourishing cities had their prosperous regions, studded with habitats and fertile land having good fields and cattle wealth, etc. They formed the infrastructure for the towns noted in the *Aṅgas*.

Conclusions :

The analysis of the description of cities in the *Aṅgas*, *upāṅgas* and their comparision with other literature as well as archaeodogical relies help one to draw the following conclusions.

(1) The descriptions in the *Aṅgas* and *Upāṅgas* are generalised. Specific details of cities are not available. The restricitve regulations of observation and use of language for the Jain monks seem to have played their role in developing these writings. If the cities noted in the *Aṅgas* are to be studied, it would require special effort with the tools of Urban Archaeology.

(2) From this initial study, it is seen that four town-plans the *Dhanukudil*, *Āyata*, *Caturasra* and *Gopuccha* are known to this literature. Further work for detailed study Is essential.

(3) The narrations suggest that the towns that existed as well as some imaginary ones are also noted. Exaggerated dimensions is an essential feature of this narration.

(4) The well protected towns with their *Prākāra* and *Parikhā* are described. But their nature of construction, materials, etc. is not properly described, so it requires further work to understand them, often, there is exaggeration of the materials used for construction.

(5) The descriptions follow the pattern of *Paura Janapada* so the region, the suburban areas and the towns are noted. The region is generally riverine, with occasional reference to sea-ports and towns near hills.

(6) The economic activities of the population of the towns suggest that they were highly urbanised according to even modern definitions.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(7) The description of the towns in *Aṅgas* and *Tripiṭaka*s is similar so far as their details are concerned. The Upāngas have preserved more details.

(8) The narration of towns is of a period earlier than that represented by the Śilpatext *Aparājita pṛcchā*, as the *Vāstu* of town noted in the *Aṅga* has a different tone. It seems to reflect the town plan of cities like Mathura.

(9) The descriptions of some *Vimānas* in the *Upāṅgas* do not seem to go to a period earlier than circa 5th century A. D. The possibility of later date for them do exist. This point requires further research.

(10) On the whole, these descriptions preserve a long tradition of town plans beginning from at least the Mauryan eriod and continuing upto about 7th/8th century A. D. Further work in Urban Archaeology is essential for understanding the towns noted in the *Aṅgas*, the core of Āgama literature.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

DR. K.R. CHANDRA,
M.A., Ph. D.
Retd. Reader & Head of the Dept. of Prakrit and Pali, School of Languages, Gujarat University, Ahmedabad.
Born : 28-6-31, Sirohi, Rajasthan.
M.A. Pali-Prakrit (Nagpur, 1954)
Ph.D. Prakrit & Jainology, (Vaishali, 1962)
Lecturer, Nagpur Mahavidyalay, Nagpur.
Senior Research Officer, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad.
Reader and Ph.D. Guide, Gujarat University, Ahmedabad-9
Author, Compiler and Editor of 18 Books.
Contributed more than 100 papers & articles.
Presented papers in 30 Conferences and Seminars.
Organised Two Seminars (1973 & 1986)
Recipient of Muni Shri Punyavijayaji Prize & All India Prakrit Conference Award
Hon. Secretary of Prakrit Jain Vidya Vikas Fund

Outstanding works authored, compiled and edited :

- A Critical Study of Paumacariyam by Vimalasuri
- Co-compiler of Prakrit Proper Names Dictionary
- Bhagwan Mahavir : Prophet of Tolerance
- Proceedings of the Seminar on Prakrit Studies (1973)
- प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण एवं उनमें प्राक्-संस्कृत तत्व
- प्राकृत हिन्दी कोश (पाइय-सद्दद-महण्णवो की किंचित् परिवर्तित आवृत्ति
- नम्मयासुंदरी कहा, हिन्दी अनुवाद सहित
- प्राचीन अर्धमागधी की खोज में
- परम्परागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी (शीघ्र ही प्रकाश्यमान)
- आचारांग (अर्धमागधी के प्राचीनतम ग्रन्थ का भाषिक दृष्टि से) का सम्पादन कार्य विद्यमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

This collection of Seminar papers on the Jain Canonical Literature will be found useful and valuable from two points of view : Some papers occupy themselves with the study and discussion of topics and issues specific to the Ardhamāgadhī Canon or broader Jain sacred tradition. The others, however have adopted a comparative perspective relating to the Jain and non-Jain traditions. It is being now increasingly recognised that there has been considerable disproprtion in the study of the Vedic-Hindu, Buddhist and Jain tradition in that much more atterntion has been devoted to the differences between them or their specialities rather than to what is so much commonly shared by them for 2500 years. These papers can be thus looked upon as a pointer in that direction. All concerned in this laudable scholarly endeavour deserve our congratulations.

H. C. Bhayani

'जैन आगम साहित्य'' के विशेष अभ्यासकी आवश्यकता को देखते हुए गुजरात युनिवर्सिटी के भाषा साहित्य भवन के प्राकृत–पालि विभाग के अध्यक्ष डॉ. के.आर.चन्द्रने डायरेक्टर के रूप में यू.जी.सी.की आर्थिक सहायता से ''जैन आगम संगोष्ठी'' का आयोजन 1986 के ऑक्टोबर माहकी ता. 16 से 18 तक किया था। यह ग्रंथ संगोष्ठीमें प्रस्तुत लेखों का सुझबूझ के साथ किये गये चयन, संकलन और संपादन का सुफल है। इस पुस्तककी विशेषता यह है कि इसमें केवल जैन विद्या के निष्णातों द्वारा लिखे गये लेखों का ही संग्रह नहीं है किन्तु विद्या के विविध क्षेत्रों के निष्णातों द्वारा लिखे गये लेख भी हैं। आगमों की मीमांसा अनेक दृष्टियों से संभव है यह प्रस्तुत पुस्तक ने दिखा दिया है।

इसमें आचार्य श्री तुलसी, उनके शिष्य महाप्रज्ञ श्री युवाचार्यजी, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, प्रा. मधुसूदन ढांकी जैसे जैन विद्या के निष्णातों के लेख तो हैं ही साथ ही साथ अंतरीक्ष वैज्ञानिक डॉ. पोखरणा, स्थापत्य कला के निष्णात डॉ. आर.एन.महेता जैसे विद्वानों के लेख भी हैं। यह पुस्तक आगमों के अध्ययन के लिए एक नयी दिशा प्रस्तुत कर रही है ।

पद्मभूषण पं. दलसुख मालवणिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org